Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

श्रीमद्-अमितगति-आचार्य-विरचित

योगसार-प्राभृत

व्याख्याकार : ब्र. यशपाल जैन एम.ए.

सम्पादक : पं. शान्तिकुमार पाटील, जैनदर्शनाचार्य, एम.ए.,बी-एड.

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

श्रीमद्-अमितगति-आचार्य-विरचित

योगसार-प्राभृत

(अन्वय, सरलार्थ एवं भावार्थ सहित)

व्याख्याकार:
ब्र. यशपाल जैन
एम.ए. जयपुर

सम्पादक :
पण्डित शान्तिकुमार पाटील, जयपुर
शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य, एम.ए. बी.एड.

प्रकाशक :
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५ (राज.)
फोन : २७०५५८१, २७०७४५८ ● फैक्स : २७०४१२७
E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Thanks & Our Request

This shastra has been donated in by Anonymous donors in California and Illonis, USA who have paid for it to be "electronised" and made available on the internet.

Our request to you:

1) Great care has been taken to ensure this electronic version of Yogsaar Prabrut (Hindi) is a faithful copy of the paper version. However if you find any errors please inform us on rajesh@AtmaDharma.com so that we can make this beautiful work even more accurate.

2) Keep checking the version number of the on-line shastra so that if corrections have been made you can replace your copy with the corrected one.

Version History

Version Number	Date	Changes
001	6 June 2011	First electronic version

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रथम संस्करण : २ हजार
३० अगस्त, २००४
(रक्षाबन्धन : द्वितीय पूर्णिमा वी.सं. २५३०)

मूल्य : तीस रुपये मात्र

टाईप सैटिंग :
त्रिमूर्ति कंप्यूटर्स
ए.-४, बापूनगर, जयपुर

मुद्रक :
जे.के. ऑफसेट प्रिंटर्स
जामा मस्जिद, दिल्ली

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विषयानुक्रमणिका

- प्रकाशकीय ४
- ग्रंथ तथा ग्रंथकार का परिचय ५
- योगसारप्राभृत पर पूर्व साहित्य का प्रभाव १३
- संपादन में नवीनता १५
- मनोगत १६

१. **जीव-अधिकार** १७
- श्लोक क्रमांक १ से ५९ पर्यंत (५९ श्लोक)

२. **अजीव-अधिकार** ५६
- श्लोक क्रमांक ६० से ९० पर्यंत (५० श्लोक)

३. **आस्रव-अधिकार** ८९
- श्लोक क्रमांक ११० से १४९ पर्यंत (४० श्लोक)

४. **बंध अधिकार** १५२
- श्लोक क्रमांक १५० से १९० पर्यंत (४१ श्लोक)

५. **संवर-अधिकार** १३६
- श्लोक क्रमांक १९१ से २५२ पर्यंत (६२ श्लोक)

६. **निर्जरा-अधिकार** १७०
- श्लोक क्रमांक २५३ से ३०२ पर्यंत (५० श्लोक)

७. **मोक्ष-अधिकार** १९९
- श्लोक क्रमांक ३०३ से ३५६ पर्यंत (५४ श्लोक)

८. **चारित्र अधिकार** २२७
- श्लोक क्रमांक ३५७ से ४५६ पर्यंत (१०० श्लोक)

९. **चूलिका-अधिकार** २७७
- श्लोक क्रमांक ४५७ से ५४० पर्यंत (८४ श्लोक)

१०. **परिशिष्ट**
- योगसार प्राभृत की श्लोकानुक्रमणिका ३२५
- दातारों की नामावली ३३०
- हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन ३३२

— ● —

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रकाशकीय

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट द्वारा श्रीमद् अमितगति आचार्य विरचित 'योगसार प्राभृत' ग्रन्थ का प्रकाशन करते हुए हमें प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। आचार्य प्रणीत दुर्लभ प्राचीन आध्यात्मिक ग्रन्थों का प्रकाशन करना हमारा सदैव ध्येय रहा है और इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु हम कटिबद्ध भी हैं।

यह 'योगसार-प्राभृत' एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है। इसमें सात तत्त्वों के निमित्त से ध्यान के ध्येयभूत शुद्धात्मा का ही प्रमुखता से सुन्दर विवेचन किया गया है। साथ ही उस शुद्धात्मा के ध्यान को ही एक मात्र मुक्ति का कारण सिद्ध करते हुए उसी को प्राप्त करने की प्रेरणा दी है। इसका सर्वप्रथम हिन्दी अनुवाद पं. गजाधरलालजी न्यायतीर्थ ने किया था, जिसका प्रकाशन भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता द्वारा सन् १९१६ में हुआ था। पुनः पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तार के संशोधित अनुवाद व सम्पादन सहित भारतीय ज्ञानपीठ से सन् १९७९ में प्रकाशन हुआ।

ब्र. यशपालजी जैन ने इसकी अध्यात्म की मुख्यता से पुनः व्याख्या लिखी है। भावार्थ में आपने प्रस्तुत विषय अन्य किन-किन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है – इसका उल्लेख किया है। इसकारण यह ग्रन्थ अत्यन्त सुबोध हो गया है। वे स्वयं एक अध्यात्मप्रिय स्वाध्यायी व साहित्यप्रेमी हैं और साहित्य के प्रचार-प्रसार में सदैव तत्पर रहते हैं। आपने जिनधर्म प्रवेशिका व गुणस्थान विवेचन का स्वतंत्र लेखन, क्षत्रचूड़ामणि की पुनः व्याख्या तथा सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाग-१ व ३, भावदीपिका, बिखरे मोती, चिन्तन की गहराइयाँ आदि पंद्रह ग्रन्थों का हिन्दी-मराठी में सम्पादन भी आपने किया है।

इस ग्रन्थ का सम्पादन पण्डित शान्तिकुमार पाटील जैनदर्शनाचार्य ने किया है; जिसका उल्लेख पृष्ठ १५ पर **'संपादन में नवीनता'** हैडिंग से किया गया है, एतदर्थ दोनों महानुभावों के हम हार्दिक आभारी हैं। सुन्दर टाइप सैटिंग हेतु श्री दिनेश शास्त्री एवं कैलाश शर्मा तथा ग्रंथ को आकर्षक कलेवर में प्रकाशित करने हेतु प्रकाशन विभाग के मैनेजर श्री अखिल बंसल भी धन्यवाद के पात्र हैं। इस ग्रन्थ के प्रकाशन में जिन दातारों ने सहयोग दिया है, उनकी सूची पृष्ठ ३३० पर प्रकाशित की जा रही हैं; उन्हें भी ट्रस्ट की ओर से हार्दिक धन्यवाद! दातारों के उदार आर्थिक सहयोग के कारण ही यह **योगसार-प्राभृत** शास्त्र अल्प मूल्य में पाठकों तक पहुँचाना संभव हो सका है।

इसी ग्रन्थ के महत्त्वपूर्ण १०० श्लोकों का चयन करके **'योगसार-प्राभृत शतक'** नाम से हिन्दी पद्यानुवाद सहित पुस्तिका/छोटी कृति प्रकाशित करने का भी विचार है, जिससे पाठकों को इस ग्रंथ के आध्यात्मिक विषय का संक्षेप में परिचय प्राप्त हो सकें।

सभी पाठक इस ग्रन्थ के माध्यम से ध्येयभूत शुद्धात्मा का स्वरूप जानकर उसके ध्यान द्वारा पूर्ण सुख की प्राप्ति करें – इसी मंगल भावना के साथ।

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल
महामंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,
ए-४, बापूनगर, जयपुर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार का परिचय

प्रस्तुत ग्रंथ 'योगसार-प्राभृत' की रचना आचार्य अमितगति ने सरल-सुबोध संस्कृत भाषा में की है। इसकी भाषा इतनी सुगम है कि संस्कृत भाषा के सामान्य जानकार भी आसानी से पढ़कर इसके विषय को समझ सकते हैं। सबसे छोटे व सरल अनुष्टुप छन्द का ही इस ग्रन्थ में प्रमुखता से प्रयोग हुआ है। कुल ५४० श्लोकों में से ५२४ श्लोक अनुष्टुप छन्द में है और अधिकारों के अन्त में ही उपसंहार के रूप में कुछ अन्य छन्दों का भी प्रयोग किया है, जिनका नामोल्लेख यथास्थान छन्दों के ऊपर किया ही गया है।

ग्रन्थ का नाम व उसकी सार्थकता

पूर्वाचार्यों द्वारा रचित उपलब्ध साहित्य में अनेक ग्रन्थों के नाम के साथ सार शब्द प्रयुक्त हुआ है, जैसे – प्रवचनसार, गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार, तत्त्वार्थसार, तत्त्वसार इत्यादि। अनेक ग्रन्थों के नाम के साथ प्राभृत अथवा उसका प्राकृत रूप पाहुड़ शब्द का भी प्रयोग पाया जाता है, जैसे – समयपाहुड़, दोहापाहुड़, दंसणपाहुड़ (दर्शनप्राभृत), सूत्रपाहुड़ (सूत्रप्राभृत) आदि। लेकिन अमितगति आचार्य ने इस ग्रन्थ के नाम के साथ सार और प्राभृत दोनों ही शब्दों का प्रयोग करते हुए इसका नाम **योगसार-प्राभृत** रखा है।

ग्रन्थ का यह नाम सार्थक है। इसमें प्रयुक्त योग, सार व प्राभृत – इन तीनों शब्दों का हम क्रमशः अर्थ देखते हैं। सर्वप्रथम प्रयुक्त योग शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। योग का एक अर्थ है जोड़ना, जो गणित-शास्त्र में प्रयुक्त होता है। वैद्यक शास्त्र में अनेक औषधियों को जोड़कर एक मिश्रण तैयार करने को योग कहते हैं। आगम-ग्रन्थों में **'काय-वाङ्-मनः कर्म योगः'** इस तत्त्वार्थसूत्र के (६-१) सूत्र के अनुसार काय, वचन तथा मन की क्रिया का नाम योग है।

किन्तु **प्रस्तुत ग्रन्थ आध्यात्मिक होने से इसका आध्यात्मिक अर्थ ही यहाँ विवक्षित है, और वह है ध्यान।** श्री भट्टाकलंक देव अपने तत्त्वार्थराजवार्तिक ग्रन्थ के छठे अध्याय के प्रथम सूत्र के बारहवें वार्तिक में स्पष्ट लिखते हैं – **योगः समाधिः ध्यानमित्यनर्थान्तरम्।** अर्थात् योग, समाधि व ध्यान ये तीनों शब्द एकार्थवाची हैं।

आचार्य कुंदकुंद ने नियमसार ग्रन्थ में योग का स्वरूप १३७ से १३९ इन तीन गाथाओं में अत्यन्त विशद रीति से स्पष्ट किया है, जिसका सार इसप्रकार है कि – जो साधु रागादि के परिहार में, सर्व विकल्पों के अभाव में तथा विपरीत अभिनिवेश का त्याग करके जैनकथित तत्त्वों में (जोण्हकहियतच्चेसु) आत्मा को लगाता है; उसका वह निज भाव ही योग है।

मूल गाथा १३९ में प्रयुक्त **जोण्हकहियतच्चेसु** यह शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण है, जिसका तात्पर्य है – **आत्मा को अर्थात् अपनी व्यक्त ज्ञानपर्याय को जिनेन्द्रकथित तत्त्वों में जोड़ना ही योग अर्थात् ध्यान है।** शरीर की श्वास रोकनेरूप क्रिया अथवा अन्य जड़ क्रिया को ध्यान कहनेवालों को आचार्य कुंदकुंद के इस कथन का अभिप्राय समझकर अपनी धारणा को यथार्थ बनाना आवश्यक है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आचार्य अमितगति ने भी प्रस्तुत ग्रंथ में योग की परिभाषा निम्नानुसार दी है –

विविक्तात्म-परिज्ञानं योगात्संजायते यतः।
स योगो योगिभिर्गीतो योगनिर्धूत-पातकैः ॥४६६॥

अर्थ :– जिस योग अर्थात् ध्यान से शुद्ध आत्मा का अत्यंत स्पष्ट ज्ञान होता है, उसे जिन्होंने योग के द्वारा पातक अर्थात् घातिकर्मों का नाश किया है – ऐसे योगियों ने योग कहा है।

इसी विषय का अधिक स्पष्टीकरण में आया है – **ध्यानं विनिर्मलज्ञानं पुसां संपद्यते स्थिरम्** अर्थात् पुरुषों/जीवों का निर्मल/सम्यग्ज्ञान जब स्थिर होता है, तब उस ज्ञान को ही ध्यान कहते हैं।

अब 'सार' शब्द का तात्पर्य देखते हैं। सार शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। जैसे – श्रेष्ठ, स्थिरांश, सत्त्व, नवनीत (मक्खन) आदि। इसप्रकार योग व सार शब्द जोड़ने से योगसार का अर्थ हुआ – **ध्यान संबंधी श्रेष्ठ वस्तु, ध्यान का महत्त्वपूर्ण अंश अथवा ध्यान/योग विषयक कथन का नवनीत/सार।**

'प्राभृत' शब्द संस्कृत भाषा का है। जो प्राकृत भाषा में पाहुड बनता है। प्राभृत/पाहुड शब्द का अर्थ उपहाररूप में दी जानेवाली सारभूत/सर्वश्रेष्ठ वस्तु होता है।

श्री जयसेनाचार्य ने समयसार शास्त्री की टीका में पाहुड का अर्थ इसप्रकार दिया है – कोई देवदत्त नामक पुरुष राजा के दर्शन करने के लिए जाता है, तब कोई सारभूत वस्तु राजा को भेंट करता है, उसे प्राभृत कहते हैं, उसीप्रकार **परमात्मा का आराधक पुरुष (ग्रंथकार) का निर्दोष परमात्मराज का दर्शन करने के लिए यह शास्त्र भी प्राभृत (भेंट) के रूप में है।**

श्री वीरसेनाचार्य ने जयधवला में प्राभृत का अर्थ थोड़ा सा भिन्न प्रकार से देते हुए कहा है – जो प्रकृष्ट पुरुष/तीर्थंकर परमदेव के द्वारा प्रस्थापित हुआ, वह प्राभृत है। जो विद्याधन के धनी प्रकृष्ट उत्तम आचार्यों के द्वारा धारित/व्याख्यात/आनीत अर्थात् परम्परा से आगत हुआ है, वह प्राभृत है। इससे - प्राभृत शब्द से प्रतिपादित विषय प्राचीन एवं समीचीन भी है, ऐसा ज्ञान होता है।

इस समग्र विवेचन से 'योगसार-प्राभृत' इस नाम का सम्पूर्ण आशय हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि **अमितगति आचार्य ने योग अर्थात् ध्यान विषयक अत्यन्त श्रेष्ठ एवं प्राचीन विषय भेंटस्वरूप प्रदान किया है।**

योगसार नामक अन्य ग्रन्थ –

योगसार नाम के ही कुछ अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। एक तो परमात्मप्रकाश के कर्ता श्री योगीन्दुदेव कृत अपभ्रंश भाषा में १०८ दोहों में निबद्ध 'योगसार' है। इसमें भी अध्यात्म-विषयक उपदेश की ही प्रमुखता है।

दूसरा 'योगसार-संग्रह' नाम का संस्कृत ग्रन्थ है, जिसके रचयिता श्री गुरुदास हैं। इसमें १५८ पद्य हैं; जिनमें योग-विषयक ध्यान का स्वरूप, विधि एवं ध्यान को दृढ़ करनेवाली द्वादश भावनाओं का विवेचन है।

तीसरा एक और 'योगसार' नाम का ही संस्कृत ग्रन्थ हैं, लेकिन इसके कर्त्ता के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं है। इसमें २०६ पद्य हैं और यथास्थितदेवस्वरूपोपदेशक, तत्त्वसारोपदेशक, साम्योपदेशक, सत्त्वोपदेशक एवं भावशुद्धिजनकोपदेशक – इन पाँच प्रस्तावों में विभक्त हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

इन सभी ग्रन्थों से प्रस्तुत 'योगसार प्राभृत' श्रेष्ठ ग्रन्थ हैं। इसकी पद्यसंख्या भी सबसे अधिक ५४० है।

ग्रन्थ के अधिकार व उनकी विषय-वस्तु –

यह ग्रन्थ नौ अधिकारों में विभक्त है। इसमें प्रारंभ के सात अधिकार क्रमशः सातों तत्त्वों के नामानुसार हैं और आठवाँ चारित्र अधिकार व नौवाँ चूलिका-अधिकार है।

प्रथम **जीव-अधिकार** में ५९ श्लोक हैं। मंगलाचरण के पश्चात् जीव-अजीव को लक्षणों से पहिचानने की प्रेरणा देते हुए उसका फल इसप्रकार बताया है – इन दोनों को वास्तविकरूप में जान लेने पर जीव की अजीव से आसक्ति छूटती है व अपने में लीनता बढ़ती है, इस से राग-द्वेष का क्षय होने पर कर्मों के आस्रव-बंध का छेद होकर निर्वाण की प्राप्ति होती है। जीव-अजीव तत्त्वों की वास्तविक जानकारी का यही फल है।

पश्चात् उपयोग के भेद-प्रभेदों के वर्णनपूर्वक आत्मा को ज्ञानप्रमाण, ज्ञान को ज्ञेयप्रमाण सर्वगत और ज्ञेय को लोकालोक प्रमाण बतलाकर इनसे हीनाधिक मानने पर दोषापत्ति दी गयी है। निश्चय-व्यवहार चारित्र का स्वरूप वर्णन करते हुए कहा है कि ज्ञान के आत्मस्वभाव से च्युत होने पर अहिंसादि व्रत भंग हो जाते हैं और ज्ञान के आत्मरूप में परिणत होने पर हिंसादि सर्व पापसमूह पलायन कर जाता है। आत्मा का शुद्धस्वरूप वर्णादि परभावों से, राग-द्वेषादि व गुणस्थानादि औदयिक भावों से तथा क्षायोपशमिक भावरूप ज्ञानादि से भी भिन्न कर्म-नोकर्म से विमुक्त अजर-अमर निर्विशेष व निर्बन्ध है। ऐसे आत्मा को ही निश्चय से दर्शनज्ञान चारित्ररूप कहकर आत्मोपासना ही एक मात्र मुक्ति का उपाय बताया है। परवस्तु में अणुमात्र राग भी बन्ध का कारण है। पंचपरमेष्ठी के स्तवन से भी पुण्यबन्ध ही होता है, कर्मक्षय नहीं। अन्त में योगी जिस आत्मतत्त्व को ध्याकर मुक्त होते हैं उसका स्वरूप साररूप में देकर इस अधिकार को पूर्ण किया है।

दूसरा **अजीव-अधिकार** ५० श्लोकों में निबद्ध है। इसमें धर्म, अधर्म, आकाश, काल व पुद्गल को उपयोग-लक्षण से रहित होने से अजीव कहा है। ये पाँचों अजीव द्रव्य परस्पर में अवकाश देते हुए भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं। इनमें पुद्गल को छोड़कर शेष सभी अमूर्तिक व निष्क्रिय हैं। पश्चात् जीव सहित इन छहों द्रव्यों का सामान्य स्वरूप गुणपर्यायात्मक व उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप सत्तात्मक बताते हुए प्रत्येक के प्रदेशों की संख्या बतायी गयी है। द्रव्यों का एक दूसरे के प्रति उपकार का निर्देश करते हुए भी परमार्थ से कोई भी पदार्थ किसी का उपकार-अपकार नहीं करता है – यह मूल सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया है।

तदनन्तर पुद्गल के भेद-प्रभेदों का वर्णन करके जीव व कर्म का परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताते हुए उपादानभाव से परस्पर कर्तृत्व मानने पर आपत्ति बतायी है। कर्मोदय-जनित देहादिरूप विकार व मिथ्यात्वादि १३ गुणस्थानों को तो पौद्गलिक अचेतन कहा ही है; औदयिक, औपशमिक व क्षायोपशमिक भावों को भी अचेतन कहा है। अन्तिम उपसंहार में अजीवतत्त्व को जानने का महत्त्व स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो अजीवतत्त्व को यथार्थरूप से नहीं जानते हैं, वे चारित्रवान होते हुए भी विविक्त व निर्दोष आत्मा को प्राप्त नहीं होते।

तीसरे **आस्रव-अधिकार** में ४० श्लोक हैं। मन-वचन-काय की वृत्तियों का शुभ-अशुभ उपयोग से वासित होने को कर्मास्रव का सामान्य हेतु बताकर विशेष हेतुओं के रूप में पाँच मिथ्याबुद्धियों का निरूपण किया है, जो इसप्रकार है – १. चेतन-अचेतन पर पदार्थों में मोहवर्धक ममत्वबुद्धि २. कर्मजनित देहादि में तन्मयता के साथ उनकी कर्तृत्वबुद्धि ३. अपने देहादि में मैं इनका स्वामी था, स्वामी हूँ व भविष्य में होऊँगा–ऐसी बुद्धि ४. परदेहादि चेतन-अचेतन पदार्थों में ममत्वबुद्धि और ५. परद्रव्यों से सुख-दुःख होता है–ऐसी बुद्धि।

पश्चात् आत्मा व कर्म के कर्तृत्व-भोक्तृत्व का निश्चय-व्यवहार से निरुपण किया है व अन्यथा मानने पर दोषापत्ति दी है। स्वचारित्र से भ्रष्ट व अचारित्री को निरन्तर कर्मास्रव बताकर इन्द्रियजन्य सुख को सकारण दुःख सिद्ध किया है।

चौथा **बन्ध-अधिकार** है, इसमें ४१ श्लोक हैं। जीव की पराधीनता के कारणस्वरूप बन्ध का लक्षण व भेद-प्रभेदों का वर्णन करने के पश्चात् रागादि से स्निग्ध परिणाम ही बन्ध का कारण उदाहरण सहित सिद्ध किया है। जीव के जीवन-मरण सुख-दुःखादि कोई अन्य नहीं कर सकता, फिर भी 'मैं कर सकता हूँ' – ऐसी मोहकल्पित बुद्धि ही बन्ध का कारण है। विषयों को न भोगता हुआ भी सरागी पाप बान्धता है और ज्ञानी विषय भोगने पर भी नहीं बन्धता, इसका सोदाहरण विवेचन किया है।

पुनश्च ज्ञान-वेदन में अन्तर स्पष्ट करते हुए ज्ञानी और अज्ञानी में भी अन्तर बताया है। अन्त में पुण्य-पाप बन्ध के रागादि परिणामों का वर्णन करके पुण्य-पाप में किस अपेक्षा से भेद व अभेद है – यह स्पष्ट किया है।

पाँचवाँ **संवर-अधिकार** है। इसमें ६२ श्लोक हैं। कल्मषों के आगमन द्वार का निरोध ही संवर है। वह द्रव्य-भाव के भेद से दो प्रकार का है। कषायों का निरोध भावसंवर है और द्रव्यकर्मों का आस्रवछेद द्रव्य संवर है। कषायों के निरोध से संवर होता है और परद्रव्य में राग-द्वेष की निवृत्ति से कषाय का निरोध होता है, अतः परद्रव्य में किसी भी तरह राग-द्वेष करना योग्य नहीं है – यह भेदविज्ञान द्वारा समझाया है।

पश्चात् द्रव्य-पर्याय की अपेक्षा कर्म के कर्तृत्व व फल के भोक्तृत्व की चर्चा करके इन्द्रियों के विषय अचेतन होने से आत्मा का उपकार या अपकार नहीं करते, अज्ञानी भ्रम से उन्हें सुखद या दुःखद मानता है तथा कोई परद्रव्य इष्ट-अनिष्ट नहीं है – यह मोह से उनमें राग-द्वेष करता है, अतः मोह का त्याग करनेवाले को ही संवर होता है – यह स्पष्ट किया है।

तदनन्तर जो योगी भक्तिपूर्वक सामायिक, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग – इन षट् आवश्यकों में वर्तता है उसे संवर होता है–ऐसा कहकर सामायिकादि षट्कर्मों का निश्चय परक स्वरूप आत्मनिष्ठता ही बताया है। अतः जो योगी स्व-आत्मतत्व में लीन होकर प्रमादरहित होता हुआ षट्ावश्यकों को करता है उसके कर्मों का संवर होता है। ज्ञानी द्रव्य से भोजक (पदार्थ के भोग में प्रवृत्त) होने पर भी भाव से अभोजक है। द्रव्यमात्र से निवृत्त होनेवाले को संवर नहीं होता, भाव से निवृत्त होनेवाले को ही संवर होता है।

लिंग आत्मा से भिन्न शरीरात्मक है, अतः वह मुक्ति का कारण नहीं है – यह स्पष्ट करके संवरार्थी को प्रेरणा देते हुए अन्त में कहते हैं – समस्त अचेतन पदार्थ समूह त्यजनीय है और अपना अनादि-अनंत चेतनरूप जीव तत्त्व सदा ही ध्येयरूप से सेवनीय/उपादेय है।

छठवें **निर्जरा-अधिकार** के ५० श्लोक हैं। पूर्वोपार्जित कर्मों का एकदेशक्षय निर्जरा है, जो पाकजा व अपाकजा के भेद से दो प्रकार की है। आत्मतत्त्व में लीन साधु ही संवरपूर्वक ध्यान द्वारा कर्मों की निर्जरा करता है। तप से निर्जरा होती है, लेकिन शुद्धात्मतत्त्व को नहीं जाननेवाले की निर्जरा नहीं होती है। संयम भी निर्जरा का हेतु है, लेकिन वह आत्मतत्त्व में स्थित योगी द्वारा जिनागम कथित संयम ही होना चाहिए। जिनागम के ज्ञान-श्रद्धान बिना चारित्र में प्रवर्तनेवाले को अन्धे के समान कहा है।

इन्द्रियों के विषय सेवन करने से जहाँ अज्ञानी को कर्मबन्ध होता है, वहीं ज्ञानी के कर्म निर्जरा को प्राप्त होते हैं – यह आश्चर्य की बात है। मुक्ति के लिए निज शुद्ध आत्मा को छोड़कर अन्य की उपासना करनेवाले तथा निज परमात्मा देह में स्थित होने पर भी उसे अन्यत्र देखनेवालों को मूर्ख कहा है। कर्मों की निर्जरा के लिए निज शुद्धात्मा **का ध्यान** ही आवश्यक है – यह विभिन्न तर्क व उदाहरणों से सिद्ध किया है तथा अन्त में आत्मस्वरूप **की स्थिरता** में वृद्धि करनेवाले प्रत्येक कार्य को करने की प्रेरणा दी है।

सातवाँ **मोक्ष-अधिकार** है, जिसमें कुल ५४ श्लोक हैं। इसमें मोक्षतत्त्व का स्वरूप बताते हुए उसे अपुनर्भव कहा है तथा शुद्धात्मा के ध्यान से ही कर्मों का क्षय होने पर जीव को वास्तविक अनन्त आनन्द होता है – यह बताया है।

आगे ज्ञान को आत्मा का स्वभाव सिद्ध करते हुए उसका सामर्थ्य दर्शाया है तथा ज्ञान को प्रकृति का धर्म माननेवालों का सतर्क खण्डन किया है। पश्चात् जीव के शुद्ध-अशुद्ध भेद करके शुद्ध जीव मुक्तात्मा का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। उस परंब्रह्मस्वरूप शुद्धात्मा को उपलब्ध करना ही ध्यान का मुख्य फल है। आत्मध्यान की महिमा करते हुए कहा है – कि चिन्तामणि रत्न चिन्तित वस्तु देता है, कल्पवृक्ष कल्पित वस्तु देता है; किन्तु निज शुद्धात्मा का ध्यान अचिन्त्य व अकल्पित वस्तु को देता है। पुनः ध्यान को ही मुक्ति का एकमात्र उपाय बताते हुए ध्यान की बाह्य व अन्तरंग सामग्री का सुन्दर निरूपण किया है।

मूर्ख अज्ञानियों का जिसतरह स्त्री-पुत्रादिक संसार है, उसीतरह आत्मध्यान से रहित विद्वानों के शास्त्रज्ञान को ही उनका संसार कहा है। भोगासक्ति के कारण आत्मध्यान को छोड़नेवालों को धिक्कारते हुए भोगों को छोड़कर तत्त्वश्रुति में बुद्धि लगाने की प्रेरणा दी है। अन्त में कुतर्क को ध्यान का शत्रु कहकर उसे छोड़ने की प्रेरणा देते हुए पुनः मोक्ष का महिमावन्त स्वरूप बताया है।

चारित्र-अधिकार आठवाँ अधिकार है, जिसमें सर्वाधिक १०० श्लोक हैं। इसमें सर्वप्रथम मुक्ति के इच्छुक को जिनलिंग धारण करने की प्रेरणा देते हुए जिनलिंग का स्वरूप, दीक्षा लेने की अंतर्बाह्य विधि एवं श्रमण के अट्ठाईस मूलगुणों का उल्लेख किया है। जो रत्नत्रयधारक योगी इन मूलगुणों के पालन में यत्न करते हैं, उन्हें ही पूर्ण श्रामण्य बताया है।

अनशनादि में प्रमादपूर्वक आचरण करनेवाले साधु को निरन्तर हिंसा होती है। प्रयत्नपूर्वक प्रवर्तनेवाले का सर्व आचरण गुणकारी है और प्रमादी का सर्व आचरण दोषकारी ही है। यदि साधु ज्ञानवान होने पर भी पर को पीड़ा पहुँचानेवाला है तो उसका चारित्र मलिन होता है। बाह्य में धर्माचरण करते हुए भी जो संसार में अनुराग रखते हैं, उन्हें 'भवाभिनन्दी' की उपमा देते हुए उनके दोषों का वर्णन किया है। मुक्तिमार्ग की आराधना व विराधना का फल बताते हुए मार्ग को मलिन नहीं करने की प्रेरणा दी है।

पश्चात् यत्नाचारी को हिंसा होने पर भी बन्ध नहीं होता व अयत्नाचारी को हिंसा न होने पर भी बन्ध होता है – इसका सयुक्तिक निरूपण किया है। साथ ही परिग्रह रखने के दोष बताते हुए उन्हें आत्मसिद्धि का अभाव कहा है। तदनन्तर स्त्रियों के जिनलिंग ग्रहण में बाधा को स्पष्ट करते हुए पुरुषों में भी कौन जिनलिंग ग्रहण करने योग्य हैं व कौन योग्य नहीं है – इसका भी निरूपण किया है।

विषय-कषाय व विकथाओं से रहित आत्मान्वेषी साधु को अनाहारी कहा है तथा अपनी शक्ति को न छिपाते हुए सदैव तपश्चरण में लीन रहनेवाले को देहमात्र परिग्रह बताकर उनकी आहारचर्या का संक्षेप में वर्णन किया है। आगे साधु को पदार्थों का निश्चय आगम से होता है, अतः आगमाभ्यास में सादर प्रवृत्ति की प्रेरणा देते हुए शास्त्र में अनादर रखनेवाले की सब क्रियाओं को अन्ध व्यक्ति की क्रियाओं के समान कहा है।

समान आचरण के होने पर भी बुद्ध्यादि परिणामों के भेद से फल में भी भेद पड़ता है। इन्द्रियाश्रित को बुद्धि, आगमपूर्वक को ज्ञान तथा सत्य अनुष्ठान-अभ्रान्त स्थिरता को असम्मोह कहते हैं। बुद्धिपूर्वक कार्य संसार का फल देता है तथा ज्ञान व अनुष्ठान मुक्ति के सुख का प्रदाता है। व्यवहारचारित्र भी जिनभाषित व परभाषित के भेद से दो प्रकार का है। जिनभाषित चारित्र ही निर्वाण के अनुकूल है और परभाषित चारित्र संसार के अनुकूल है।

अन्तिम नौवाँ **चूलिका-अधिकार** है। इसमें कुल ८४ श्लोक हैं। सर्वप्रथम मुक्तात्माओं को सदैव आनन्दस्वरूप बताकर उनके चेतन स्वभाव को अविनाशी व सार्थक सिद्ध किया है। आत्मा के कर्मावरण को योगी क्षणभर में धो डालता है – यह कहते हुए योग का लक्षण शुद्धात्मा का ध्यान ही कहा है। योग से उत्पन्न सुख ही उत्तम सुख है और पुण्य से प्राप्त भोग दुःख ही है। **जो पराधीन है वह सर्व दुःख है और जो स्वाधीन है वह सब सुख है** – ऐसा सुख-दुःख का संक्षिप्त लक्षण भी दिया है।

ध्यान का लक्षण देते हुए लिखा है – **ध्यानं विनिर्मल ज्ञानं पुसां संपद्यते स्थिरम्** अर्थात् निर्मल ज्ञान ही जब स्थिर होता है तब वही ध्यान कहलाता है।

संसार को महारोग बताते हुए भोगों की स्थिति का वर्णन किया है व ज्ञानी की दृष्टि में भोगों का वर्णन करते हुए लिखा है कि धन/सम्पत्ति विपत्सखी अर्थात् विपत्तियों की सहेली है और भोग कल्मषसखा अर्थात् पापों के साथी है।

द्रव्यकर्म एवं तज्जन्य देहादि विकार तो आत्मा के है ही नहीं, रागादि परिणाम भी उपाधिजन्य होने से आत्मा के वास्तविक परिणाम नहीं है। ये सभी परिणाम चेतना को निमित्त करके कर्म द्वारा ही किये जाते हैं। इन

रागादि कल्मषों का अभाव होने पर जीव का निर्विकार स्वरूप प्रगट होता है। सभी द्रव्य अपने-अपने स्वरूप में स्थित हैं, उन्हें कोई भी अन्यथारूप नहीं कर सकता। इन्द्रियज्ञान का विषय शरीर और स्वसंवेदन ज्ञान का विषय आत्मा, सदैव भिन्न है। कर्म व जीव का वध्य-घातक भाव नहीं है, मात्र दोनों के परिणामों में निमित्त नैमित्तिक भाव हैं; उसके विश्लेष को ही मोक्ष कहा गया है।

कर्म का उपादान कारण कलुषता अर्थात् कषायरूप भाव हैं – जीव नहीं है; अतः कषायादि का जीव निमित्त होने पर भी स्वयं कभी कषायमय नहीं होता। जो कर्म-अकर्म का यथार्थस्वरूप जानता है, वह कर्म करते हुए भी अकर्त्ता बन जाता है। **देह-चेतन के तात्त्विक भेद को जाननेवालों को विषयों में अनुराग नहीं होता और कदाचित् वे विषयों में स्थित हो तो भी कर्मों से** लिप्त नहीं होते। पुण्य-पाप के कारणरूप शुभाशुभ भावों को छोड़कर मुक्ति के कारणभूत शुद्धभाव में जो योगी अधिष्ठित होता है, वह शीघ्र ही मुक्ति प्राप्त करता है।

विषयों को न भोगनेवाला कोई व्यक्ति निरन्तर भोगों का ही स्मरण करता है तो वह सदैव दीन-दुःखी होकर दोनों लोक बिगाड़ता है और जो भोगों को स्मरण नहीं करता है, वह सदैव सुखी होता है। रागी भोग न भोगने पर भी कर्म से बन्धता है और विरागी भोगते हुए भी नहीं बंधता।

राग-द्वेष से निवृत्त वीतरागियों के प्रत्याख्यानादिक व्यर्थ है और राग-द्वेष में प्रवृत्त के भी प्रत्याख्यानादिक व्यर्थ हैं। **जीव का औदयिक भाव बन्ध का कारण है और पारिणामिक भाव मुक्ति का कारण है** जिसप्रकार वृक्ष के एकदेश छेद करने पर वह पुनः पल्लवित होता है, उसीप्रकार संसार का भी एकदेश छेद अर्थात् मात्र पुण्य-पाप में से मात्र पाप का त्याग करते हैं तो वह संसार का बढ़ानेवाला ही होता है। अतः जो सारे बाह्य जगत को मायास्वरूप नश्वर जानकर अविनश्वर आत्मा का ध्यान करके मुक्ति प्राप्त करते हैं, उनका ही जीवन सफल होता है, – इत्यादि का सुन्दर निरूपण किया है।

अन्त में ग्रन्थ रचना का उद्देश्य व फल की चर्चा करते हुए कहते हैं कि अमितगति आचार्य ने योगसार-प्राभृत ग्रन्थ अतीन्द्रिय अमूर्तिक नित्यानन्दस्वरूप आत्मा की प्राप्ति के लिए लिखा है। जो इसे एकाग्र मन से पढ़ता है, वह अपने स्वरूप को जानकर मुक्तिमहल को प्राप्त करता है।

ग्रन्थकार का परिचय :-

इस ग्रन्थ के रचयिता आचार्य अमितगति है – यह इसी ग्रन्थ के श्लोक क्रमांक ५३७ व ५३९ में किये गये नामोल्लेख से स्पष्ट ही है।

दिगम्बर जैन समाज में 'अमितगति' नामक दो आचार्य हुए हैं – एक तो नेमीषेणाचार्य के गुरु व देवसेनसूरि के शिष्य तथा दूसरे नेमीषेणाचार्य के प्रशिष्य व माधवसेनसूरि के शिष्य। इनमें से एक को प्रथम व दूसरे को द्वितीय अमितगति समझना चाहिए। इनमें से किस अमितगति द्वारा यह प्रस्तुत ग्रन्थ रचित हैं – इस सन्दर्भ में सभी विद्वान् एकमत नहीं है।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

द्वितीय अमितगति द्वारा रचित ग्रन्थ हैं – सुभाषित रत्नसंदोह, धर्मपरीक्षा, आराधना, उपासनाचार और पंचसंग्रह। इनमें ग्रन्थकार ने अपनी गुरुपरम्परा का स्पष्ट उल्लेख किया है, अतः ये सभी निश्चितरूप से ही उन्हीं की रचनाएँ हैं। इस **योगसार-प्राभृत** ग्रन्थ में गुरुपरम्परा का वैसा कोई उल्लेख नहीं है तथा लेखन शैली की विभिन्नता व अर्थ की गंभीरता से भी यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि यह प्रथम अमितगति आचार्य की रचना है।

लोकेषणा से दूर रहनेवाले जैन आचार्यों की यह परम्परा रही है कि महान से महान कार्य करने पर भी उन्होंने अपने सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है। प्रथम अमितगति आचार्य तो 'निःसंगात्मा' थे, जैसा कि स्वयं ग्रन्थकार ने श्लोक ५३९ में अपने लिए उल्लेख किया है। वे इतने अधिक निःसंग थे कि गुरु-शिष्य तथा संघ का भी मोह छोड़ बैठे थे, इसीलिए उन्होंने उनका कोई उल्लेख अपने ग्रन्थ में नहीं किया है।

अमितगति द्वितीय ने उनका गुणगान करते हुए उन्हें अलंघ्यमहिमालय, विमलसत्त्ववान, रत्नधी, गुणमणिपयोनिधि, निर्मल, प्रदलितमदन, शम-यम-निलय, पदनतसूरि (जिनके चरणों में आचार्य भी नत हैं) आदि अनेक विशेषणों से विभूषित किया है। इससे ज्ञात होता है कि वे ज्ञान व चारित्र की मूर्ति थे व असाधारण व्यक्तित्व के धनी थे। आपका समय विक्रम की ११वीं शती का प्रारंभकाल रहा है। इससे अधिक जानकारी आपके सम्बन्ध में उपलब्ध नहीं है।

पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तार के शब्दों में योगसार-प्राभृत –

पूर्व में भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली से प्रकाशित इस ग्रन्थ के सम्पादक पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तार के भी विचार इस ग्रन्थ की विशेष महत्ता को प्रदर्शित करने वाले हैं, जो इसप्रकार हैं – ''योगसार प्राभृत में योग से सम्बन्ध रखनेवाले और योग को समझने के लिए अत्यावश्यक जिन विषयों का प्रतिपादन हुआ है, वे अपनी खास विशेषता रखते हैं और उनकी प्रतिपादन शैली बड़ी ही सुन्दर जान पड़ती है। पढ़ते समय जरा भी मन उकताता नहीं, जिधर से और जहाँ से भी पढ़ो आनन्द का स्रोत बह निकलता है, नयी-नयी अनुभूतियाँ सामने आती हैं, बार-बार पढ़ने को मन होता है और तृप्ति नहीं हो पाती। यही कारण है कि **कुछ समय के भीतर मैं इसे सौ-से भी अधिक बार पूरा पढ़ गया हूँ।**

इस ग्रन्थ का मैं क्या परिचय दूँ और क्या महत्त्व ख्यापित करूँ वह सब तो इस ग्रन्थ को पढ़ने से ही सम्बन्ध रखता है। पढ़नेवाले विज्ञ पाठक स्वयं जान सकेंगे कि यह ग्रन्थ जैनधर्म तथा अपने आत्मा को समझने और उसका उद्धार करने के लिए कितना अधिक उपयोगी है, युक्तियुक्त है। बिना किसी संकोच के सभी जैन-जैनेत्तर विद्वानों के हाथों में दिये जाने के योग्य है; फिर भी मैं यह बतलाते हुए कि ग्रन्थ की भाषा अच्छी सरल संस्कृत है, कृत्रिमता से रहित प्रायः स्वाभाविक प्रवाह को लिये हुए गम्भीरार्थक है और उसमें उक्तियाँ, उपमाओं तथा उदाहरणों के द्वारा विषय को अच्छा बोधगम्य किया गया है।''

इसप्रकार अध्यात्म के लब्धप्रतिष्ठ आचार्य द्वारा विरचित यह आध्यात्मिक ग्रन्थ है। इसमें प्रतिपादित योग अर्थात् ध्यान के द्वारा सारभूत शुद्धात्मा को प्राप्त कर अनन्त सुखी हो – यही मंगलकामना है।

– ● –

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

योगसार-प्राभृत पर पूर्व साहित्य का प्रभाव

पूर्ववर्ती साहित्य का उत्तरवर्ती साहित्य पर थोड़ा-बहुत प्रभाव तो सामान्यतः देखा ही जाता है; क्योंकि प्रत्येक साहित्य रचनाकार अपने पूर्ववर्ती साहित्य को देखे बिना नहीं रहता। **जो महापुरुष होते हैं, वे ही अपनी प्रतिभा से अपने से पहले कुछ भी साहित्य न हो तो भी स्वतंत्र रीति से सफल रचना करते हैं।**

उपलब्ध जैन साहित्य में द्वितीय श्रुतस्कन्ध में आचार्य कुन्दकुन्द का पंच परमागम साहित्य हमें प्राप्त है। उसमें भी मात्र समयसार तथा पंचास्तिकाय में ही सबसे पहले सप्त तत्त्व का क्रमशः अध्यात्ममूलक कथन मिलता है। **अतः आचार्य कुन्दकुन्द असाधारण साहित्य सृजक है।** इसके पहले प्रथम श्रुतस्कन्ध की रचना हो चुकी थी; तथापि उसमें सप्त तत्त्व का वैसा कथन नहीं मिलता।

आचार्य कुन्दकुन्द के तत्काल बाद उनके शिष्य आचार्य उमास्वामी ने सप्त तत्त्व का कथन तो किया; तथापि उसमें आगम की मुख्यता रही, अध्यात्म की नहीं। तत्त्वार्थसूत्र के ऊपर जो अनेक टीका ग्रंथ - सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक, तत्त्वार्थवृत्ति, तत्त्वार्थसार, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थों की रचना परोपकारी महापुरुष आचार्यों ने की; लेकिन उन सबमें आगम ही मुख्य रहा है।

आवश्यकतानुसार अध्यात्म को समर्पित अनेक ग्रंथों की रचना तो हुई – जैसे इष्टोपदेश, समाधिशतक, परमात्मप्रकाश, योगसार, आत्मानुशासन; तथापि इनमें क्रमशः सात तत्त्वों का विवेचन नहीं मिलता।

द्रव्यसंग्रह ग्रंथ छोटा होने पर भी उसमें सप्त तत्त्व का विवेचन है। उसी तरह यह योगसार-प्राभृत ग्रंथ भी सप्त तत्त्व के कथन के लिए ही समर्पित है। इस ग्रंथ के ऊपर पूर्ववर्ती अनेक ग्रंथों का अत्यधिक प्रभाव है, उसमें भी आचार्य कुंदकुंद के पंचपरमागम का अत्यधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

पहले हमने योगसार प्राभृत के किस-किस श्लोक पर पूर्वाचार्यकृत किन-किन ग्रन्थों की किस-किस गाथा/श्लोक/सूत्र आदि का प्रभाव है – यह उनके क्रमांकोल्लेख सहित चार्ट रूप में बनाया तो कुल 13 पृष्ठों में आया। यह अतिविस्तृत जानकारी पाठकों को बोझस्वरूप न लगे, अतः उसे अति संक्षेप में निम्नानुसार अधिकार क्रम से प्रस्तुत कर रहे हैं।

- **जीवाधिकार में कुल ५९ श्लोक हैं, जिनपर** समयसार की गाथाएँ एवं कलशों का १२ स्थानों पर प्रवचनसार तथा पंचास्तिकाय संग्रह की क्रमशः ८ एवं ७ स्थानों पर, तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों का ५ स्थानों पर, भगवती आराधना की गाथा और देवागम की कारिका का एक-एक स्थान पर, साथ ही साथ आराधनासार तथा तत्त्वार्थसार के भी एक-एक श्लोकों का प्रभाव एक-एक स्थान पर स्पष्ट प्रतिभासित होता है।
- **अजीवाधिकार के मात्र ५० श्लोकों पर** समयसार की गाथाएँ व कलशों का ८ स्थानों पर, पंचास्तिकाय संग्रह का १६ स्थानों पर, तत्त्वार्थसूत्र का १२ और प्रवचनसार, नियमसार तथा द्रव्यसंग्रह का अनुक्रम से ४, ३ व २ स्थानों पर प्रभाव परिलक्षित होता है।

- **आस्रव अधिकार के भी मात्र ४० श्लोकों पर** समयसार की गाथाएँ व कलशों का १० स्थानों पर, प्रवचनसार, पुरुषार्थसिद्धयुपाय, गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), समाधिशतक ग्रंथ के अनुक्रम से २ गाथा, १ श्लोक, १ गाथा और १ श्लोक का प्रभाव स्पष्ट समझ में आता है।
- **बंध अधिकार के कुल ४१ श्लोकों पर** निम्न ग्रंथों का प्रभाव परिलक्षित होता है – समयसार गाथा तथा कलशों का १२ स्थानों पर, पंचास्तिकायसंग्रह, प्रवचनसार, तत्त्वार्थसूत्र इन तीनों ग्रंथों का ३-३ स्थान और ज्ञानार्णव एवं कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रंथ का १-१ स्थान पर।
- **संवर अधिकार के कुल ६२ श्लोकों पर** निम्नानुसार पूर्व ग्रन्थ का प्रभाव दृष्टिमत होता है – समयसार गाथा एवं कलशों का १० स्थानों पर, समाधिशतक ग्रंथ का २ स्थानों पर एवं तत्त्वार्थसूत्र, अष्टपाहुड़ तथा पंचास्तिकाय का १-१ स्थान पर।
- **निर्जरा अधिकार के कुल ५० श्लोकों पर** भी निम्नप्रकार प्रभाव दृष्टिगत होता है – समयसार, समाधिशतक एवं प्रवंचनसार ग्रंथों का अनुक्रम से ५, २ तथा २ स्थान पर और पुरुषार्थसिद्धयुपाय, तत्त्वार्थसूत्र, देवागम, परीक्षामुखसूत्र, योगसार प्रत्येक का एक-एक स्थान पर।
- **मोक्ष अधिकार में कुल ५४ श्लोक हैं।** इस अधिकार पर तत्त्वार्थसूत्र, समयसार, द्रव्यसंग्रह, देवागम, आलापपद्धति, अध्यात्म रहस्य शास्त्र का प्रभाव अनुक्रम से ४, ३, १, १, १ स्थानों पर प्रतीत होता है।
- **चारित्र अधिकार में कुल श्लोक १०० हैं।** इस अधिकार में प्रवचनसार का आश्चर्यकारी प्रभाव है; क्योंकि ४४ स्थान पर प्रवचनसार की गाथाओं का मानो संस्कृत पद्यानुवाद ही दिया गया है। इसके व्यतिरिक्त पुरुषार्थसिद्धयुपाय, अष्टपाहुड़, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, युक्त्यनुशासन, सज्जनचित्तवल्लभ इन ५ ग्रन्थों का अनुक्रम से २, १, १, १, १ स्थान पर प्रभाव प्रतीत होता है।
- **चूलिका अधिकार में कुल श्लोक ८४ हैं।** इस अधिकार पर संख्या की अपेक्षा सर्वाधिक ग्रंथों का अर्थात् ११ ग्रंथों का प्रभाव समझ में आता है, वह निम्नप्रकार है – समयसार, प्रवचनसार एवं तत्त्वार्थसूत्र शास्त्र का प्रभाव अनुक्रम से २१, ५ एवं २ स्थानों पर है। पंचास्तिकाय, देवागम, अष्टपाहुड, समाधिशतक, पुरुषार्थसिद्धयुपाय, तत्त्वार्थसार, तत्त्वानुशासन एवं परमात्मप्रकाश का असर मात्र १-१ स्थान पर हुआ है।

इसप्रकार उपरोक्त अनेक ग्रन्थों का प्रभाव इस योगसार-प्राभृत पर स्पष्ट परिलक्षित होता है। अतः इस ग्रन्थ के अध्ययन से उपरोक्त सभी ग्रन्थों का सारभूत विषय भी सहज ही अध्ययन में आ जायेगा। सभी इस ग्रन्थ के महत्व को समझते हुए गंभीरता से अध्ययन कर अपना कल्याण करें – यही मंगल भावना है।

– ● –

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

सम्पादन में नवीनता

प्रत्येक व्यक्ति की कार्यशैली पृथक्-पृथक् होती है, अतः किसी दूसरे द्वारा पूर्व में किये गये कार्य को कोई अन्य व्यक्ति पुनः करता है, तो उसमें कुछ न कुछ नवीनता अवश्य आती है। उस नवीनता में मतभेद ही हों – यह आवश्यक नहीं है; लेकिन प्रस्तुतीकरण की भिन्नता तो हो ही सकती है।

योगसार प्राभृत पूर्व में प्रबुद्ध विद्वान् पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित भी हुआ था, फिर नये सम्पादन में हमने क्या नवीनता प्रस्तुत की है – इसकी जानकारी अध्येताओं को देना हम आवश्यक समझते हैं। वैसे श्रीमान तथा धीमान मुख्तारजी का सम्पादन बहुत कष्टसाध्य था; लेकिन उनके सम्पादन से हमें कार्य करने में बहुत ही सरलता रही है।

इस प्रकाशन में हमने क्या किया है, उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :–

१. प्रत्येक श्लोक को नया शीर्षक देने का प्रयास किया है।

२. प्रत्येक श्लोक का अन्वय दिया है। अन्वयार्थ भी देने का मानस था, अतः अनेक अध्यायों के अन्वयार्थ लिख भी लिये थे; लेकिन सरलार्थ में विषय की पुनरावृत्ति की संभावना थी और ग्रंथ का कलेवर बढ़ने का भी भय था। अतः अन्वयार्थ नहीं दिया है।

३. मूल श्लोक में कर्मणिवाच्य का प्रयोग होने पर भी अर्थ की सहजता व सुलभता के अभिप्राय से सरलार्थ में बुद्धिपूर्वक कर्तरिवाच्य का ही प्रयोग किया है।

४. भावार्थ में श्री अमितगति आचार्य से पूर्ववर्ती श्री कुन्दकुन्दादि प्राचीन आचार्यों की कृतियों से प्रत्येक श्लोक का सम्बन्ध प्रदर्शित करने का प्रयास किया है।

५. श्लोक के अध्यात्ममूलक अर्थ को भावार्थ में पुष्ट किया है।

६. श्लोकों के क्रमांक प्रत्येक अधिकार के पृथक्-पृथक् न देकर प्रारंभ से अंत तक लगातार ही दिये हैं।

७. तलटीप (फुटनोट) न देकर, आवश्यक विषय का स्पष्टीकरण भावार्थ में ही किया है।

८. पाठकों को अध्ययन की सुलभता हेतु मूलश्लोक, अन्वय, सरलार्थ, भावार्थ, अन्य ग्रंथ के उद्धृत श्लोकादि के टाइप अलग-अलग दिये हैं। महत्त्वपूर्ण विषय को बोल्ड भी किया है।

९. मुख्यतया स्वाध्याय करनेवाले बुर्जुग ही होते हैं, अतः उन्हें ध्यान में रखकर सम्पूर्ण ग्रन्थ में बड़े अक्षरों का (बड़ा साइज का टाईप) ही प्रयोग किया है।

इसप्रकार नये प्रस्तुतीकरण के साथ यह ग्रंथ प्रकाशित होने जा रहा है। सुधी पाठकों से निवेदन है कि वे अपना अभिप्राय हमें अवश्य सूचित करें। हमारी त्रुटियों का यदि आप हमें ज्ञान करायेंगे तो आगामी संस्करणों में संशोधन का अवश्य प्रयास करेंगे।

इस ग्रंथ के मूल संस्कृत श्लोक, उनका संस्कृत अन्वय, सरलार्थ व भावार्थ को सूक्ष्मता से पढ़कर महत्त्वपूर्ण संशोधन में सहयोग करनेवाले पण्डित श्री जीवेन्द्र जडे शास्त्री बाहुबली एवं पण्डित मनोहररावजी मारवडकर नागपुर का हम जितना आभार मानें कम है, क्योंकि यह बहुत ही श्रमसाध्य कार्य था। ब्र. विमलाबेन जबलपुर एवं ब्र. पण्डित राजमलजी भोपाल ने भी पूर्ण ग्रंथ पढ़कर यथास्थान तात्त्विक सुझाव दिये हैं तथा पं. संतोष मिणचे शास्त्री ने श्लोकों के अन्वय लिखते समय सहयोग दिया है। अतः हम उनके भी आभारी हैं।

स्वाध्याय प्रेमी समाज इस ग्रन्थ के अध्ययन से अपनी आत्मभावना का पोषण करेंगे तो हमारा श्रम सफल होगा।

मनोगत

'योगसार-प्राभृत' का सर्वप्रथम हिन्दी अनुवाद पण्डित गजाधरलालजी न्यायतीर्थ ने किया, जो ईसवी सन् १९१६ में भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। पुन: सन् १९७९ में पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तार ने नये हिन्दी अनुवाद के साथ विशेष संशोधनपूर्वक सम्पादित कर भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली से प्रकाशित किया।

इस ग्रन्थ का स्वाध्याय करने का सर्वप्रथम सुअवसर मुझे सन् १९७९ में मिला, मुझे यह ग्रन्थ अतिशय प्रिय लगा। पुन: सन् १९८३ में बैंगलोर में आचार्य कुन्दकुन्ददेव के साहित्य के कन्नड़ भाषा में प्रकाशन के समय दूसरी बार इस ग्रन्थ का स्वाध्याय किया। बीच में अनेक वर्षों तक पुन: इसके स्वाध्याय का योग नहीं बन पाया। सन् २००१ में मैंने इस ग्रन्थ का जब तीसरी बार अध्ययन किया, तब मुझे इसके रचयिता आचार्य अमितगति के प्रति विशेष बहुमान आया। इस ग्रन्थ का बारीकी से अध्ययन करने पर मुझे स्पष्ट प्रतीत हुआ कि आचार्य कुन्दकुन्द के पंच परमागमों के १४५३ गाथाओं में समागत विषय के मर्म को ही आचार्य अमितगति ने मात्र एक ही 'योगसार-प्राभृत' ग्रन्थ में समाहित किया है।

इसी बात ने मुझे इस ग्रन्थ के आध्यात्मिक दृष्टि से अनुवाद व भावार्थ सहित व्याख्यान लिखने के लिए प्रेरित किया। वैसे तो मेरी कक्षाओं एवं प्रवचनों में प्रसंगानुसार इस ग्रन्थ का उल्लेख अनेकों बार आता ही था; लेकिन सम्पूर्ण ग्रन्थ को अध्यात्मरसिक मुमुक्षु समाज के समक्ष रखने की मेरी तीव्र भावना थी। इस ग्रन्थ के स्वाध्याय में मुझे स्वयमेव ही बहुत आनन्द आता था, अत: मैंने मुख्यतया तो स्वान्त:सुखाय ही इसकी व्याख्या लिखी है।

आचार्य कुन्दकुन्दादि प्राचीन आचार्यों के साहित्य का योगसार-प्राभृत ग्रन्थ पर कितना गहरा प्रभाव है – यह 'योगसार-प्राभृत पर पूर्व साहित्य का प्रभाव' शीर्षक के अन्तर्गत संक्षेप से स्पष्ट किया है, जिससे पाठक प्रभावित हुए बिना नहीं रहेंगे – ऐसा मुझे विश्वास है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से आचार्य कुन्दकुन्द की अपूर्वता व अलौकिकता भी हमें समझ में आयेगी और अनेक साधर्मी उनके पंच परमागमों का फिर से अधिक उत्साह से अध्ययन किये बिना नहीं रहेंगे।

यह मान्य करने में मुझे कोई संकोच नहीं है कि व्याख्या लिखते समय पूर्व प्रकाशित दोनों अनुवादों का मैंने यथा-अवसर भरपूर उपयोग किया है। मैंने विषय को अधिक सरल तथा स्पष्ट करने का विशेष प्रयास किया है। इसमें मैं कितना सफल हुआ हूँ – यह पाठक ही स्वयं निर्णय करेंगे।

अध्यात्म-रसिक समाज 'योगसार-प्राभृत' का स्वाध्याय कर अपना आत्मकल्याण करें – यही मंगल भावना है।

– ब्र. यशपाल जैन

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

श्रीमद्-अमितगति-आचार्य-विरचित

योगसार-प्राभृत

१

जीव-अधिकार

ग्रंथकार का मंगलाचरण एवं उद्देश्य –

विविक्तमव्ययं सिद्धं स्व-स्वभावोपलब्धये।
स्व-स्वभावमयं बुद्धं ध्रुवं स्तौमि विकल्मषम्॥१॥

अन्वय :– (अहं) स्व-स्वभावोपलब्धये विकल्मषं विविक्तं अव्ययं ध्रुवं बुद्धं स्व-स्वभावमयं सिद्धं स्तौमि।

सरलार्थ :– मैं अमितगति आचार्य अपने स्वभाव की प्राप्ति के लिये उन सिद्धों की स्तुति करता हूँ; जो शुद्ध, वीतराग, ज्ञानमय, अविनाशी, अच्युत, नित्य एवं अपने स्वरूप में स्थित हैं।

भावार्थ :– अध्यात्म-ग्रन्थों के मंगलाचरण में मुख्यरूप से सिद्धों को ही नमस्कार करने की परम्परा दिखाई देती है। जैसे – समयसार, समाधिशतक, परमात्मप्रकाश आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों के मंगलाचरणों में सिद्धों को ही नमस्कार किया गया है। तदनुसार आचार्य अमितगति ने भी यहाँ इस अध्यात्मग्रंथ के मंगलाचरण में सिद्धपरमेष्ठी को ही नमस्कार किया है।

सिद्धों का स्मरण करने से तो पुण्यबन्ध ही होता है, तथापि ज्ञानियों को भी साधक-अवस्था में ऐसा भाव आये बिना रहता नहीं है।

ग्रन्थाधिराज समयसार की मंगलाचरण स्वरूप प्रथम गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इस सन्दर्भ में लिखते हैं कि ''वे सिद्ध भगवान, सिद्धत्व के कारण साध्य जो आत्मा, उसके प्रतिच्छन्द

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

के स्थान पर हैं; जिनके स्वरूप का संसारी भव्य-जीव चिंतवन करके उनके समान अपने स्वरूप को ध्याकर उन्हीं के समान हो जाते हैं और चारों गतियों से विलक्षण पंचमगति/मोक्ष को प्राप्त करते हैं।''

समाधितंत्र के मंगलाचरण की टीका में भी शंका-समाधानपूर्वक यही भाव व्यक्त किया है, जो कि इसप्रकार है –

''**शंका :–** इष्टदेवता विशेष पंचपरमेष्ठी होने पर भी यहाँ ग्रन्थकर्ता ने सिद्धात्मा को ही क्यों नमस्कार किया ?

समाधान :– ग्रन्थकर्ता, व्याख्याता, श्रोता और अनुष्ठाताओं (साधकों) को सिद्धस्वरूप की प्राप्ति का प्रयोजन होने से (उनने वैसा किया है) जो जिसकी प्राप्ति का अर्थी होता है, वह उसे नमस्कार करता है, जैसे धनुर्विद्या प्राप्ति का अर्थी धनुर्वेदी को नमस्कार करता है वैसे ही। इसकारण सिद्धस्वरूप की प्राप्ति के अर्थी समाधिशतक शास्त्र के कर्ता, व्याख्याता, श्रोता और उसके अर्थ के अनुष्ठाता आत्मा विशेष – (ये सभी) सिद्धात्मा को नमस्कार करते हैं।''

सिद्ध बनने का एकमात्र उपाय अपने श्रद्धा-ज्ञान-आचरण में सिद्धस्वभावी ज्ञायकस्वरूप निजभगवान आत्मा को स्वीकार करना ही है, अन्य कुछ नहीं।

जो विशेषण पर्यायदृष्टि से सिद्ध भगवान के लिए प्रयुक्त होते हैं, वे सर्व विशेषण द्रव्यदृष्टि से सभी आत्माओं में घटित होते हैं।

जीव एवं अजीव तत्त्वों को जानने का फल –

जीवाजीवद्वयं त्यक्त्वा नापरं विद्यते यत:।
तल्लक्षणं ततो ज्ञेयं स्व-स्वभाव-बुभुत्सुया॥२॥
यो जीवाजीवयोर्वेत्ति स्वरूपं परमार्थत:।
सोऽजीव-परिहारेण जीवतत्त्वे निलीयते॥३॥
जीव-तत्त्व-निलीनस्य राग-द्वेष-परिक्षय:।
तत: कर्माश्रयच्छेदस्ततो निर्वाण-संगम:॥४॥

अन्वय :– यत: (लोक) जीवाजीवं द्वयं त्यक्त्वा अपरं न विद्यते, तत: स्व-स्वभावबुभुत्सया तल्लक्षणं ज्ञेयम्।

य: परमार्थत: जीवाजीवयो: स्वरूपं वेत्ति स: अजीवपरिहारेण जीवतत्त्वे निलीयते।

जीवतत्त्व-निलीनस्य राग-द्वेष-परिक्षय: (भवति) तत: कर्माश्रयच्छेद: (भवति), तत: निर्वाण-संगम: (जायते)।

सरलार्थ :– क्योंकि इस विश्व में जीव और अजीव इन दो द्रव्यों को छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं है। इसलिये अपने स्वरूप को जानने की इच्छा से जीव और अजीव द्रव्यों का लक्षण जानना चाहिए।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जो साधक, जीव और अजीव तत्त्वों के स्वरूप को परमार्थरीति से जानता है, वह अजीव तत्त्व के परिहार पूर्वक जीव तत्त्व में निमग्न हो जाता है।

जीवतत्त्व में निमग्न साधक के राग-द्वेषादि विभावभावों का नाश हो जाता है, राग-द्वेषादि के नाश से कर्म के आश्रय का अर्थात् कर्मास्रव का नाश होता है और उसके कारण साधक को निर्वाण की प्राप्ति होती है।

भावार्थ :- इस विश्व में जाति अपेक्षा जीव-अजीव दो ही द्रव्य हैं। वस्तुतः इनमें अजीव नाम का कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है, बल्कि पुद्गल-धर्म-अधर्म-आकाश व काल – इन पाँच द्रव्यों के समूह को ही अचेतन होने से अजीव नाम दिया गया है। संख्या अपेक्षा जीव अनंत, पुद्गल अनंतानंत, धर्म एक, अधर्म एक, आकाश एक और कालद्रव्य असंख्यात हैं।

संसारी जीव को मुक्ति प्राप्त करने के लिए इनका यथार्थ स्वरूप जानना आवश्यक है। जो साधक परमार्थ से इनका स्वरूप जानकर अजीव तत्त्व का परिहार करता है अर्थात् उन्हें मात्र ज्ञेय जानकर उनसे दृष्टि हटाता है और भगवत्स्वरूप निज आत्मतत्त्व में लीन हो जाता है, उसके राग-द्वेषादि विकारीभावों का अभाव होने से आस्रव-बन्ध का नाश होकर संवर-निर्जरापूर्वक मुक्ति की प्राप्ति होती है।

यहाँ जीव-अजीव के स्वरूप को जाननेवाला जीवतत्त्व में लीन होता है – ऐसा कहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि आगमज्ञानपूर्वक अध्यात्मज्ञान होता है, क्योंकि जीव-अजीव का विस्तारपूर्वक वर्णन आगम में प्राप्त होता है और आत्मलीनता अध्यात्म का कार्य है। इसका अर्थ आगमज्ञान कारण है और आत्मज्ञान कार्य है।

जीवद्रव्य और जीवतत्त्व में एक अपेक्षा से भिन्नता का भी कथन किया जाता है। जीवद्रव्य में समस्त विकारी-अविकारी पर्यायें शामिल हैं और विकारी-अविकारी पर्यायों से रहित त्रिकाली ध्रुव ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा जीवतत्त्व है। यह कथन मुख्यतया अध्यात्मग्रन्थों में प्राप्त होता है। आगम में दोनों को एक ही मानकर कथन किया जाता है।

निजस्वभाव को जानने का फल –

परद्रव्यबहिर्भूतं स्व-स्वभावमवैति यः।
परद्रव्ये स कुत्रापि न च द्वेष्टि न रज्यति॥५॥

अन्वय :– यः परद्रव्यबहिर्भूतं स्व-स्वभावं अवैति सः परद्रव्ये कुत्र अपि न रज्यति न च द्वेष्टि।

सरलार्थ :– जो परद्रव्य से बहिर्भूत अपने स्वभाव को जानता है, वह परद्रव्य में अर्थात् परद्रव्य की किसी भी अवस्था में न राग करता है न द्वेष करता है।

भावार्थ :– इस श्लोक में राग-द्वेषरूप विकारी परिणाम के परिहार का यथार्थ उपाय बताया

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है। प्रत्येक आत्मा स्वभाव से ही परद्रव्य, परद्रव्य के गुण एवं परद्रव्यों की पर्यायों से भिन्न है। इसमें किसी को कुछ नया करने की आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता मात्र जो जैसा है, उसे वैसा जानने की है। जो अनादि-अनंत अपने आत्मा के ज्ञायक स्वभाव को यथार्थ जानता है, 'मैं मात्र ज्ञान का घनपिण्ड हूँ' अन्य कुछ भी नहीं हूँ, जानना छोड़कर मैंने और कुछ भी नहीं किया है, न कर रहा हूँ और न करूँगा' – ऐसा जो वस्तुस्वरूप का सच्चा निर्णय करता है, उसे किसी भी परद्रव्य की पर्यायों को देखकर/जानकर राग-द्वेष होंगे ही नहीं। अपने सामने से परद्रव्यों को हटाकर अज्ञानी राग-द्वेष का परिहार करना चाहता है; परन्तु यह उपाय मिथ्या है।

आत्मा का लक्षण उपयोग और उसके भेद –

उपयोगो विनिर्दिष्टस्तत्र लक्षणमात्मनः।
द्वि-विधो दर्शन-ज्ञान-प्रभेदेन जिनाधिपैः।।६।।

अन्वय :– तत्र जिनाधिपैः आत्मनः लक्षणं उपयोगः विनिर्दिष्टः। (सः उपयोगः) दर्शन-ज्ञान-प्रभेदेन द्विविधः।

सरलार्थ :– जीव एवं अजीव इन दो में से जीव अर्थात् आत्मा का लक्षण जिनेन्द्रदेव ने उपयोग कहा है। वह उपयोग दर्शन एवं ज्ञान के भेद से दो प्रकार का है।

भावार्थ:– जीवादि सात तत्त्वों का यथार्थ निर्णय करने के लिये भेदज्ञान आवश्यक है और भेदज्ञान के लिये प्रत्येक द्रव्य की स्वतंत्रता का सच्चा ज्ञान चाहिए। द्रव्य की स्वतंत्रता का ज्ञान द्रव्य के लक्षणमूलक ज्ञान से ही सम्भव है, अन्य किसी दूसरों की भक्ति अथवा भावुकता या पुण्य से यह कार्य नहीं होता। इसलिए जीवादि द्रव्यों का ज्ञान, लक्षण के आधार से करना आवश्यक है।

जीव का लक्षण उपयोग है – यह समयसार गाथा २४ एवं पंचास्तिकाय गाथा ४० में तथा तत्त्वार्थसूत्र अध्याय २ के ८वें सूत्र में भी आया है।

दर्शन के भेद एवं उसका लक्षण –

चतुर्धा दर्शनं तत्र चक्षुषोऽचक्षुषोऽवधेः।
केवलस्य च विज्ञेयं वस्तु-सामान्य-वेदकम्।।७।।

अन्वय :– तत्र (उपयोगलक्षणे) वस्तु-सामान्य-वेदकं दर्शनम्। (तत्) चक्षुषः अचक्षुषः अवधेः केवलस्य च (भेदात्) चतुर्धा विज्ञेयम्।

सरलार्थ :– जीव के उपयोगलक्षण में वस्तु-सामान्य का वेदन करनेवाला दर्शनोपयोग है और वह चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन व केवलदर्शन के भेद से चार प्रकार का है।

भावार्थ :– प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होती है। उसमें से सामान्य अभेद को ग्रहण करनेवाला दर्शनोपयोग है। अन्य ग्रन्थों में दर्शनोपयोग का लक्षण सामान्य-अवलोकन अथवा सामान्य-प्रतिभास भी कहा गया है। सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में आचार्य पूज्यपाद ने **'साकारं ज्ञानमनाकारं**

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दर्शनमिति' - साकार ज्ञानोपयोग और निराकार दर्शनोपयोग है' - ऐसा कहा है। पदार्थों का भेद किये बिना सत्तामात्र का जो सामान्य प्रतिभास होता है, वह दर्शनोपयोग है। अल्पज्ञ जीवों को ज्ञानोपयोग से पूर्व दर्शनोपयोग होता है और सर्वज्ञ को ज्ञान-दर्शन दोनों उपयोग एक साथ वर्तते हैं।

ज्ञान के भेद एवं उसका लक्षण –

मतिः श्रुतावधी ज्ञाने मनःपर्यय-केवले।
सज्ज्ञानं पंचधावाचि विशेषाकारवेदनम्॥८॥
मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञान-भेदतः।
मिथ्याज्ञानं त्रिधेत्येवमष्टधा ज्ञानमुच्यते॥९॥

अन्वय :– ज्ञाने सत्-ज्ञानं मतिः श्रुतावधी मनःपर्यय-केवले पञ्चधा अवाचि। (तत् ज्ञानं) विशेषाकारवेदनं (अस्ति)।

मिथ्याज्ञानं मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञान-भेदतः त्रिधा (भवति)। इति एवं ज्ञानं अष्टधा उच्यते।

सरलार्थ :– ज्ञानोपयोग में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान यह पांच प्रकार का ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहा गया है और यह ज्ञान विशेषाकार वेदनरूप है।

मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, विभङ्गज्ञान के भेद से मिथ्याज्ञान तीन प्रकार का है। इसतरह ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का कहा जाता है।

भावार्थः– वस्तुतः ज्ञान सम्यक् अथवा मिथ्या नहीं होता। ज्ञान तो ज्ञान होता है, वह जानने का काम करता है। श्रद्धा की विपरीतता-अविपरीतता से ज्ञान को मिथ्या अथवा सम्यक् कहा जाता है।

जीव के अनंत गुणों में एक ज्ञान गुण ही ऐसा है, जो धर्म प्रगट करने में पुरुषार्थ के लिये उपयोगी होता है। मिथ्यादृष्टि का ज्ञान भी स्वयं अपने में पवित्र/निर्मल होता है। इसके आधार से ही अनादि मिथ्यादृष्टि धर्म-मार्ग का पुरुषार्थ कर सकता है। मिथ्यात्व अवस्था में व्यक्त क्षायोपशमिक ज्ञान के आधार से जिनवाणी का मर्म समझकर मिथ्यात्व को सूक्ष्म (मन्द) वा शिथिल करना तथा नष्ट करना संभव है। धवला शास्त्र में मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को भी मंगल कहा है। (धवला पु. १ पृ. ३६)

इन्द्रिय और मन की सहायता से जो ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है। मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ का अवलम्बन लेकर अर्थात् मतिज्ञानपूर्वक जो अन्य पदार्थों का ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है। द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की मर्यादा लिये हुए इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना जो रूपी पदार्थ का ज्ञान होता है वह अवधिज्ञान है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लिये हुए जो इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना दूसरे के मन की अवस्थाओं का ज्ञान (रूपी पदार्थ संबंधी) होता है, वह मनःपर्ययज्ञान है तथा जो त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् जानता है, वह केवलज्ञान है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

केवलज्ञान व केवलदर्शन के उत्पत्ति में कारण –

उदेति केवलज्ञानं तथा केवलदर्शनम्।
कर्मण: क्षयत: सर्वं क्षयोपशमत: परम्॥१०॥

अन्वय :– **केवलज्ञानं तथा केवलदर्शनं कर्मण: क्षयत: उदेति। परं सर्वं (दर्शनं ज्ञानं च) कर्मण: क्षयोपशमत: (उदेति)।**

सरलार्थ :– केवलदर्शन तथा केवलज्ञान मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अंतराय कर्मों के क्षय से अर्थात् नाश से उदित होते हैं/प्रगट होते हैं। शेष अचक्षुदर्शनादि तीन दर्शन एवं मतिज्ञानादि सात ज्ञान ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय एवं अंतराय कर्मों के क्षयोपशम से प्रगट होते हैं।

भावार्थ:– केवलदर्शन दर्शनावरण कर्म के क्षय से और केवलज्ञान ज्ञानावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है। जब केवलदर्शन और केवलज्ञान उत्पन्न होता है, तब अविनाभावी अंतरायकर्म के अभावपूर्वक ही होता है। मोहनीय का नाश तो पूर्व में ही हो चुका होता है। वास्तव में कर्मों के क्षय से या क्षयोपशम से आत्मा के किसी भी गुण की पूर्णता अथवा विकास नहीं होता; क्योंकि एक द्रव्य की पर्याय का अन्य द्रव्य की पर्याय में नियम से अभाव रहता है, तब कर्म के क्षय-क्षयोपशम; जीव के ज्ञानादि गुणों की पर्याय का कार्य कैसे कर सकते हैं ?

प्रश्न :- शास्त्र में कर्म के उपशम, क्षय, क्षयोपशम से जीव के परिणाम होते हैं – ऐसा कथन बहुत आता है, उसका अर्थ क्या समझें ? स्पष्ट खुलासा करें।

उत्तर :- यह सब कथन निमित्त-नैमित्तिक संबंध का ज्ञान कराता है, कर्त्ता-कर्म संबंध को नहीं बताता। निमित्त-नैमित्तिक संबंध का अर्थ मात्र दो द्रव्यों की पर्यायें एक ही काल में होती हैं – इसका ज्ञान कराना है; इसे ही कालप्रत्यासत्ति भी कहते हैं। निमित्त-नैमित्तिक का कथन जानकर भी हमें भेदज्ञान ही पुष्ट करना चाहिए; एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता है – इस मिथ्या मान्यता का पोषण नहीं करना चाहिए।

दर्शन और ज्ञान की उत्पत्ति का क्रम –

यौगपद्येन जायेते केवलज्ञान-दर्शने।
क्रमेण दर्शनं ज्ञानं परं नि:शेषमात्मन:॥११॥

अन्वय :– **आत्मन: केवलज्ञान-दर्शने यौगपद्येन जायेते। नि:शेषं परं दर्शनं ज्ञानं क्रमेण (जायेते)।**

सरलार्थ :– आत्मा के केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो उपयोग युगपत्/एकसाथ प्रगट होते हैं। शेष सब दर्शन – चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन ये तीन दर्शन; ज्ञान – मतिज्ञान, श्रुत-ज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान एवं विभंगज्ञान ये सात ज्ञान क्रम से उदय को प्राप्त होते हैं अर्थात् प्रगट होते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थः– अल्पज्ञ जीवों को नियम से दर्शनपूर्वक ही ज्ञान होता है। अतः क्षायोपशमिक चार ज्ञान एवं तीन अज्ञान दर्शनपूर्वक ही होते हैं। सर्वज्ञ जीवों को दर्शन और ज्ञान युगपत्/एकसाथ ही होते हैं।

यदि सर्वज्ञ अवस्था में भी दर्शन और ज्ञान के होने में क्रम माना जायेगा तो जब जीव केवलदर्शन करेगा, तब वह केवलज्ञान न करने के कारण सर्वज्ञ नहीं रहेगा अर्थात् इस मान्यता के कारण कोई भी जीव सदा केवलज्ञानी नहीं हो पायेगा। अतः केवलदर्शन व केवलज्ञान को युगपत् मानना तर्कसंगत भी है।

मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान के कारण –

मिथ्याज्ञानं मतं तत्र मिथ्यात्वसमवायतः।
सम्यग्ज्ञानं पुनर्जैनैः सम्यक्त्वसमवायतः॥१२॥

अन्वय :– **तत्र (ज्ञानोपयोगे) मिथ्यात्वसमवायतः मिथ्याज्ञानं (भवति), पुनः सम्यक्त्व-समवायतः सम्यग्ज्ञानं (भवति इत्थं) जैनैः मतम्।**

सरलार्थ :– जैनदर्शन में ज्ञान को मिथ्यात्व के निमित्त से मिथ्याज्ञान और सम्यक्त्व के निमित्त से सम्यग्ज्ञान माना गया है।

भावार्थः– निमित्त-नैमित्तिक संबंध का कथन शास्त्र में दो द्रव्यों की भिन्न-भिन्न पर्यायों में ही मुख्यरूप से बताया जाता है। इस संबंध को जानकर ज्ञानी जीव एक द्रव्य अथवा एक द्रव्य की पर्याय को दूसरे द्रव्य अथवा दूसरे द्रव्य की पर्याय का कर्त्ता नहीं मानते, नही समझते; अपितु मात्र निमित्त जानते/मानते हैं। अज्ञानी इस संबंध के आधार से द्रव्य को अथवा पर्यायों को परतंत्र मानते हैं।

यहाँ इस श्लोक में एक ही जीवद्रव्य के दो गुणों के (श्रद्धा और ज्ञान) परिणमन में निमित्त-नैमित्तिक संबंध का ग्रंथकार ज्ञान करा रहे हैं, कर्त्ता-कर्म संबंध का नहीं।

मिथ्यात्व का स्वरूप और कार्य –

वस्त्वन्यथापरिच्छेदो ज्ञाने संपद्यते यतः।
तन्मिथ्यात्वं मतं सद्भिः कर्मारामोदयोदकम्॥१३॥

अन्वय :– **यतः ज्ञाने वस्तु-अन्यथा-परिच्छेदः संपद्यते तत् मिथ्यात्वं (भवति इति) सद्भिः मतं। तत् कर्मारामोदयोदकं (कर्म-आरामस्य उदयस्य कृते उदकं इव अस्ति)।**

सरलार्थ :– जिसके कारण ज्ञान में वस्तु की अन्यथा/विपरीत जानकारी होती है, उसको सत्पुरुषों ने मिथ्यात्व माना है। वह मिथ्यात्व कर्मरूपी बगीचे को उगाने के लिये जल के समान है।

भावार्थः– जीव द्रव्य के अनंत गुणों में एक ज्ञान गुण ही सविकल्प है, अन्य सर्व गुण नियम से निर्विकल्प हैं। अतः एक ज्ञान गुण के आधार से ही अन्य गुणों की एवं अन्य गुणों के पर्यायों की जानकारी दी जाती है, दूसरा कुछ उपाय भी नहीं है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत श्रद्धा तो श्रद्धा गुण का कार्य है, इस विपरीतता को श्रद्धा गुण द्वारा समझाया नहीं जा सकता । इसलिये ज्ञान गुण का, जो विपरीत जाननेरूप कार्य है, उसके द्वारा श्रद्धा की विपरीतता को बताया गया है। श्रद्धा को यथार्थ बताने के लिये भी एक ज्ञान गुण के परिणमन का ही आधार लेकर जीवों को समझाया जाता है कि, वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान करोगे तो ही मिथ्यात्व टलेगा। इसलिये मिथ्या श्रद्धा से परिणत जीवों को वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान करने की ही प्रेरणा दी जाती है। स्वाध्याय करो, शास्त्र पढ़ो, उपदेश सुनो, सत्समागम करो – ऐसा ही उपदेश योग्य है, दूसरा कुछ उपाय भी नहीं हैं।

दर्शनमोहनीय कर्म के तीन भेद –

उदये दृष्टिमोहस्य गृहीतमगृहीतकम्।
जातं सांशयिकं चेति मिथ्यात्वं तत् त्रिधा विदु:।।१४।।

अन्वय :– दृष्टिमोहस्य उदये (सति) जातं तत् मिथ्यात्वं गृहीतं अगृहीतकं सांशयिकं च इति त्रिधा विदु:।

सरलार्थ :– दर्शनमोहनीय कर्म का उदय होनेपर उत्पन्न हुआ यह मिथ्यात्व गृहीत, अगृहीत और सांशयिक ऐसा तीन प्रकार का जानना चाहिए।

भावार्थ :– सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में आठवें अध्याय के प्रथम सूत्र की टीका में अगृहीत को नैसर्गिक और गृहीत को परोपदेशिक मिथ्यात्व कहा है। गोम्मटसार जीवकाण्ड में मिथ्यात्व के विपरीत आदि पाँच भेद बताये हैं, उनमें संशय नाम का एक मिथ्यात्व कहा है। इस श्लोक में जैसे मिथ्यात्व के तीन भेद कहे हैं, वैसे ही भगवती आराधना के प्रथम अध्याय के गाथा ५८ में भी कहे गये हैं।

मिथ्यात्व का स्वरूप –

अतत्त्वं मन्यते तत्त्वं जीवो मिथ्यात्वभावित:।
अस्वर्णमीक्षते स्वर्णं न किं कनकमोहित:।।१५।।

अन्वय :– मिथ्यात्वभावित: जीव: अतत्त्वं तत्त्वं मन्यते (यथा) कनकमोहित: (जीव:) किं अस्वर्णं स्वर्णं न ईक्षते ? (अर्थात् ईक्षते एव)।

सरलार्थ :– मिथ्यात्व से प्रभावित हुआ जीव अतत्त्व को तत्त्व मानता है। धतूरे से मोहित प्राणी क्या अस्वर्ण को स्वर्णरूप में नहीं देखता ? अर्थात् देखता ही है।

भावार्थ :– जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इनमें जीव तत्त्व ही ध्येय/ध्यान का विषय होनेसे साधक को सदैव उपादेय है। साधक जीवतत्त्व को एक समय के लिये भी अपनी श्रद्धा में से नहीं निकाल सकता। यदि साधक की श्रद्धा में से जीवतत्त्व निकल जाय तो वह मिथ्यात्व को प्राप्त हो जायेगा। साधक जब शुभ या अशुभ उपयोग में हो तो भी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निज भगवान आत्मा जिसे शास्त्र में ज्ञायक भी कहा गया है, वह श्रद्धा का श्रद्धेय बना ही रहता है। इसकारण साधक जीव धार्मिक तो बना ही रहता है और उसके भूमिकानुसार संवर-निर्जरा भी होते रहते हैं, वह उतनी मात्रा में सुखी भी रहता है।

जैसे – स्वर्ण, स्वर्णरूप से सामने होने पर भी धतूरे से मोहित मनुष्य उसे स्वर्णरूप से स्वीकारता नहीं है, इतनी ही भूल है। वैसे ही मिथ्यात्व से मोहित अवस्था में अज्ञानी अनादि काल से साक्षात् विद्यमान अपने निज जीव तत्त्व को स्वीकारता ही नहीं है। अतः अपने स्वभाव को नहीं स्वीकारना ही तत्त्व को अतत्त्व मानना है।

सम्यक्त्व का स्वरूप –

यथा वस्तु तथा ज्ञानं संभवत्यात्मनो यतः।
जिनैरभाणि सम्यक्त्वं तत्क्षमं सिद्धिसाधने।।१६।।

अन्वय :– यथा वस्तु तथा आत्मनः ज्ञानं यतः संभवति (तत्) सम्यक्त्वं जिनैः अभाणि, तत् सिद्धिसाधने क्षमं (भवति)।

सरलार्थ :– वस्तु जिस रूप में है, उसको उसी रूप में जानना आत्मा को जिस कारण से होता है, उसको जिनेन्द्र देव ने सम्यक्त्व कहा है। वह सम्यक्त्व आत्मसिद्धि का साधन है।

भावार्थ :– जैसी वस्तु है, वैसी श्रद्धा करने को सम्यक्त्व कहते हैं। सम्यक्त्व तो श्रद्धा गुण की यथार्थ पर्याय है, वह ज्ञान के सम्यक्पने में कारण होती है।

सम्यक्त्व ही आत्मसिद्धि/आत्मविकास का मूल कारण है। सम्यक्त्व के बिना मोक्षमार्ग नहीं होता। मोक्षमार्ग के बिना मोक्षप्राप्ति नहीं है। जैनदर्शन में ईश्वर के कर्त्तापने का स्वीकार ही नहीं है, अतः उसके अनुसार तो भगवान या अन्य कोई भी किसी भी अन्य जीव का उद्धार कर ही नहीं सकता है। जो जीव यथार्थ पुरुषार्थ करता है, वही मोक्षमार्ग प्राप्त कर मुक्त हो सकता है – यही आत्मसिद्धि है। अथवा अपनी आत्मा को सिद्धअवस्था की प्राप्ति होना ही आत्मसिद्धि है और उसका मूल उपाय सम्यग्दर्शन है।

सम्यक्त्व के भेद और उनमें कारण-कार्यपना –

मिथ्यात्व-मिश्र-सम्यक्त्व-संयोजन-चतुष्टये।
क्षयं शमं द्वयं प्राप्ते सप्तधा मोहकर्मणि।।१७।।
क्षायिकं शामिकं ज्ञेयं क्षायोपशमिकं त्रिधा।
तत्रापि क्षायिकं साध्यं साधनं द्वितयं परम्।।१८।।

अन्वय :– मिथ्यात्व-मिश्र-सम्यक्त्वसंयोजनचतुष्टये सप्तधा मोहकर्मणि क्षयं शमं द्वयं प्राप्ते (सति) (तत् सम्यक्त्वं) क्षायिकं शामिकं क्षयोपशामिकं (च इति) त्रिधा ज्ञेयं। तत्रापि क्षायिकं साध्यं (भवति), परं द्वितयं साधनं (वर्तते)।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :– मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति ये तीन दर्शनमोहनीय और संयोजन चतुष्टय अर्थात् अनंतानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ ये चार चारित्रमोहनीय – इसप्रकार कुल मिलाकर मोहनीयकर्म की सात प्रकृतियाँ क्षय को, उपशम को और क्षयोपशम को प्राप्त होने पर क्रमशः क्षायिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक इस तरह तीन प्रकार का सम्यक्त्व होता है। उन तीनों सम्यक्त्वों में क्षायिक सम्यक्त्व साध्य है और शेष दो औपशमिक सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व साधन है।

भावार्थ :– जीव के परिणामों की विशुद्धि के निमित्त से कर्मों की शक्ति का प्रगट न होना उपशम है। कर्म के उपशम के निमित्त से होनेवाले जीव के भावों को औपशमिक भाव कहते हैं।

वर्तमानकालीन सर्वघाति स्पर्शकों का उदयाभावी क्षय, भविष्यकालीन उन्हीं स्पर्धकों का सदवस्थारूप उपशम और वर्तमानकालीन देशघाति स्पर्धकों का उदय – इन तीनरूप कर्म की अवस्था को क्षयोपशम कहते हैं। कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से होनेवाले जीव के भावों को क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

कर्मों के आत्मा से सर्वथा पृथक् होने को क्षय कहते हैं। कर्मों के कर्मरूप से नाश अर्थात् अकर्मदशा होने को क्षय कहते हैं। कर्मों के क्षय के निमित्त से होनेवाले जीव के भावों को क्षायिकभाव कहते हैं।

प्रश्न – अनंतानुबंधी कषाय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर – अनंत अर्थात् संसार या मिथ्यात्व परिणाम, मिथ्यात्व परिणाम के साथ-साथ बंधनेवाले कषाय कर्म को अनंतानुबंधी कषायकर्म कहते हैं।

सम्यक्त्व-प्राप्ति में एक सुनिश्चित क्रम सर्वज्ञ भगवान ने बताया है, उसे जानने पर उनका परस्पर कारण-कार्य संबंध भी स्पष्ट हो जाता है। अनादि मिथ्यादृष्टि को सबसे पहले एक मात्र औपशमिक सम्यक्त्व की ही प्राप्ति होती है। क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्वपूर्वक ही प्रगट होता है। अतः इन दोनों सम्यक्त्वों को क्षायिक सम्यक्त्व के पूर्व होने के कारण यहाँ इन्हें साधन बतलाया है।

वस्तुतः तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व ही क्षायिक सम्यक्त्व का कारण है, तथापि कारण का कारण जो औपशमिक सम्यक्त्व, उसे भी आचार्य ने क्षायिक सम्यक्त्व का कारण अर्थात् साधन बताया है, जो योग्य ही है।

आत्मा का ज्ञानप्रमाणपना और ज्ञान का सर्वगतत्व –

ज्ञानप्रमाणमात्मानं ज्ञानं ज्ञेयप्रमं विदुः।
लोकालोकं यतो ज्ञेयं ज्ञानं सर्वगतं ततः॥१९॥

अन्वय :– आत्मानं ज्ञानप्रमाणं विदुः। ज्ञानं ज्ञेयप्रमं (विदुः)। यतः ज्ञेयं (सर्वं) लोकालोकं (भवति); ततः ज्ञानं सर्वगतम् (अस्ति)।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :– जिनेन्द्रदेव ने आत्मा को ज्ञानप्रमाण/ज्ञान जितने आकारवाला और ज्ञान को ज्ञेयप्रमाण अर्थात् ज्ञेयों के आकारवाला जाना है; चूँकि ज्ञेय लोकालोकरूप है, अत: ज्ञान सर्वगत है।

भावार्थ :– आत्मा अर्थात् जीव एक द्रव्य है। उसमें अनादिकाल से ज्ञानादि अनंत विशेष गुण हैं और अस्तित्वादि अनंत सामान्य गुण भी हैं। जो द्रव्य के सम्पूर्ण भागों में और उसकी सम्पूर्ण अवस्थाओं में रहते हैं, उन्हें गुण कहते हैं। इस परिभाषा के अनुसार द्रव्य का जितना आकार है, उतने आकार में सब गुण फैले हुए हैं और जितने आकार में गुण फैले हुए हैं, उतने ही आकार का द्रव्य है, यह स्पष्ट होता है।

इस श्लोक में आत्मा/जीवद्रव्य को ज्ञानप्रमाण कहा है। जितना ज्ञान है, उतना आत्मा है। ज्ञान से आत्मा का आकार/विस्तार बड़ा हो तो आत्मा का कुछ अंश ज्ञान से रहित होगा और वह अंश ज्ञानरहित होने से अचेतनता को प्राप्त हो जायेगा।

आत्मा के बाहर भी ज्ञान गुण का विस्तार मान लिया जाय तो द्रव्य के बिना गुण किसमें – किसके आधार से रहेंगे ? आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में गुणों की परिभाषा बताते समय लिखा है, **'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः'** अर्थात् जो सदा द्रव्य में रहनेवाले हैं और स्वयं अन्य गुण से रहित हैं, वे गुण हैं, इस सूत्र के साथ विरोध आ जायेगा। इसलिए जितना ज्ञान गुण उतना आत्मा और जितना आत्मा उतना ही ज्ञान गुण मानना चाहिए।

ज्ञान को केवलज्ञान की अपेक्षा से ही ज्ञेयप्रमाण कहा है; क्योंकि केवलज्ञान में ही सर्व ज्ञेय अर्थात् त्रिकाल सहित त्रिलोकवर्ती पदार्थ ज्ञात होते हैं, अन्य ज्ञान में नहीं।

प्रमेयत्वगुण की परिभाषा के अनुसार भी प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव से ही ज्ञेय होने के कारण वस्तु किसी न किसी ज्ञान से जानी ही जायेगी। अत: ज्ञान सर्वगत सिद्ध होता है।

यहाँ ज्ञान सर्वगत है और उस अपेक्षा आत्मा भी सर्वगत है – ऐसा कथन उपचरित ही समझना चाहिए; क्योंकि न आत्मा के प्रदेश सीधे अलोकाकाश में जाते हैं और न अलोकाकाश आत्मा के प्रदेशों में आता है; तथापि अलोकाकाश जानने में अवश्य आता है।

सिद्ध अथवा अरहंत भगवान के प्रदेश भी लोक में सदैव कहाँ फैलते हैं ? मात्र केवली समुद्घात के समय आत्मा के प्रदेश पूर्ण लोक में फैल जाते हैं, इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा अपने-अपने शरीर के आकार में ही रहते हुए भी ज्ञान की अपेक्षा सर्वगत है, आत्मप्रदेशों की अपेक्षा से वस्तुतः सर्वगत नहीं है। इस विषय की विशेष जानकारी हेतु प्रवचनसार गाथा २३ एवं २६ तथा दोनों की टीका भी अवश्य देखें।

आत्मा से ज्ञान को अधिक मानने पर आपत्ति –

यद्यात्मनोऽधिकं ज्ञानं ज्ञेयं वापि प्रजायते।
लक्ष्य-लक्षणभावोऽस्ति तदानीं कथमेतयोः ॥२०॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्वय :– यदि आत्मनः ज्ञानं वा ज्ञेयं अपि अधिकं प्रजायते तदानीं एतयोः लक्ष्य-लक्षण-भावः कथं अस्ति? (अर्थात् न भवति)।

सरलार्थ :– यदि आत्मा से ज्ञान अथवा ज्ञेय भी अधिक होता है तो आत्मा और ज्ञान में लक्ष्य-लक्षणभाव कैसे बन सकता है ?

भावार्थ :– इस श्लोक में आत्मा लक्ष्य है और ज्ञान लक्षण है। यदि लक्ष्यरूप आत्मा से लक्षणरूप ज्ञान का आकार बड़ा माना जायेगा तो लक्षण में अतिव्याप्ति दोष उत्पन्न होगा; क्योंकि लक्षण लक्ष्य से बाहर गया। अतः आत्मा से ज्ञान को अधिक नहीं मानना चाहिए। जितने आकार का लक्ष्य है उतने ही आकार में रहनेवाला लक्षण ही निर्दोष लक्षण होता है।

यदि आत्मा को बड़े आकारवाला/अधिक विस्तारवाला/क्षेत्रवाला माना जाय और ज्ञान को कम आकार/कम क्षेत्रवाला अर्थात् पूरे आत्मा में न माना जाये तो यह लक्षण अव्याप्तिदोष से दूषित हो जायेगा; क्योंकि लक्षण लक्ष्य के एकदेश में पाया जा रहा है।

यदि आत्मा को स्पर्शादिवाला, गतिहेतुत्वरूप अथवा स्थितिहेतुत्ववाला माना जाय तो लक्षण असंभवदोष से दूषित होगा; क्योंकि लक्षण लक्ष्य में पाया ही नहीं जा रहा है, अतः आत्मा को मात्र ज्ञानलक्षणवाला ही मानना चाहिए और ज्ञानलक्षण को भी आत्मा जितने आकारवाला ही मानना चाहिए, हीनाधिक नहीं।

इसीप्रकार ज्ञेय को भी आत्मा से अधिक मानने पर दोष संभव है। ज्ञान ज्ञेय प्रमाण होता है और ज्ञेय अधिक मानने पर ज्ञान को भी आत्मा से अधिक मानना पड़ेगा, इससे अतिव्याप्ति दोष आयेगा। अतः आत्मा से ज्ञान अथवा ज्ञेय कोई भी अधिक नहीं है – यह सिद्ध होता है।

इस विषय के विशेष स्पष्टीकरण के लिए प्रवचनसार गाथा २४ एवं २५ को टीका सहित देखें।

ज्ञेयक्षिप्त ज्ञान की व्यापकता –

क्षीरक्षिप्तं यथा क्षीरमिन्द्रनीलं स्वतेजसा।
ज्ञेयक्षिप्तं तथा ज्ञानं ज्ञेयं व्याप्नोति सर्वतः॥२१॥

अन्वय :– यथा क्षीरक्षिप्तं इन्द्रनीलं सर्वतः स्वतेजसा क्षीरं व्याप्नोति तथा ज्ञेयक्षिप्तं ज्ञानं ज्ञेयं(सर्वतः व्याप्नोति)।

सरलार्थ :– जैसे दूध में पड़ा हुआ इन्द्रनीलमणि अपने तेज/प्रभा से दूध में सब ओर से व्याप्त हो जाता है; उसीप्रकार ज्ञेय के मध्यस्थित ज्ञान अपने ज्ञानरूपी प्रकाश से ज्ञेय समूह को पूर्णतः व्याप्त कर ज्ञेयों को प्रकाशित करता है।

भावार्थ :– यहाँ **इन्द्रनील** पद उस सातिशय महानील रत्न का वाचक है, जो बड़ा तेजस्वी होता है। उसे जब किसी दूध से भरे बड़े बर्तन में डाला जाता है तो वह दूध के वर्तमान रूप का तिरस्कार कर उसे सब ओर से अपनी प्रभा द्वारा नीला बना लेता है। उसीप्रकार ज्ञेयों के मध्य में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्थित हुआ केवलज्ञान भी अपने तेज से अज्ञान अन्धकार को दूर कर समस्त ज्ञेयों में ज्ञेयाकार रूप से व्याप्त हुआ उन्हें प्रकाशित करता है अर्थात् उन्हें जानता है।

दूध से भरे जिस बड़े पात्र में इन्द्रनील रत्न पड़ा होता है, उसके थोड़े से ही देश में यद्यपि वह स्थित होता है और उसका कोई भी परमाणु उससे निकलकर अन्यत्र नहीं जाता; फिर भी उसकी प्रभा में ऐसी विशेषता है कि वह सारे दूध को अपने रंग में रंग लेता है, परन्तु दूध का कोई भी परमाणु वस्तुतः नीला नहीं हो पाता। नीलमणि को यदि दूध से निकाल लिया जाये तो दूध ज्यों का त्यों अपने स्वाभाविक रंग में स्थित नजर आता है, नीलरत्न की प्रभा के संसर्ग से कहीं भी उसमें कोई विकार लक्षित नहीं होता।

ऐसी ही अवस्था ज्ञान तथा ज्ञेयों की है, ज्ञेयों के मध्य में स्थित हुआ केवलज्ञान यद्यपि वस्तुतः अपने आत्मप्रदेशों में ही स्थित होता है और आत्मा का कोई भी प्रदेश आत्मा से अलग होकर बाह्य पदार्थों में नहीं जाता; फिर भी उस केवलज्ञान के तेज का ऐसा माहात्म्य है कि वह सारे पदार्थों को अपनी प्रभा से ज्ञेयाकार रूप में व्याप्त कर उन पदार्थों में अपने प्रदेशों के साथ तादात्म्य को प्राप्त जैसा प्रतिभासित होता है। अतः व्यवहार नय की दृष्टि से ज्ञान का ज्ञेयों में और ज्ञेयों (पदार्थों) का ज्ञान में अस्तित्व कहा जाता है।

प्रवचनसार गाथा ३० एवं पंचास्तिकाय संग्रह गाथा ३३ में भी इसीप्रकार का भाव आया है।

ज्ञेय को जानता हुआ ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं होता –

चक्षुर्गृह्णद्यथा रूपं रूपरूपं न जायते।
ज्ञानं जानत्तथा ज्ञेयं ज्ञेयरूपं न जायते॥२२॥

अन्वय :– यथा चक्षुः रूपं गृह्णत् रूपरूपं न जायते तथा ज्ञेयं जानत् ज्ञानं ज्ञेयरूपं न जायते।

सरलार्थ :– जिसप्रकार आँख रंग-रूप को ग्रहण करती/जानती हुई रंग-रूपमय नहीं हो जाती, उसीप्रकार ज्ञान ज्ञेय को जानता हुआ ज्ञेयरूप नहीं होता; परन्तु ज्ञानरूप ही रहता है।

भावार्थ :– जब मनुष्य आँख से अग्नि को देखता है, तब आँख अग्नि को देखने-जानने से न गरम होती है न लाल होती है। आँख से मलीन वस्तु देखने से आँख मलीन नहीं होती। किसी भी अच्छी-बुरी वस्तु को देखने-जानने पर भी आँख तो मात्र आँख ही रहती है; जिसे देखती है, उस पदार्थरूप बिल्कुल परिणमित नहीं होती।

उसीप्रकार ज्ञान अनेकप्रकार के ज्ञेयों को जानता है; तथापि ज्ञान ज्ञानरूप ही रहता है ज्ञेयरूप नहीं हो जाता। यदि जाननेमात्र से ज्ञान ज्ञेयरूप होता रहे तो केवली भगवान केवलज्ञान से सर्व पदार्थों को युगपत् स्पष्ट जानते ही उन ज्ञेयरूप परिणमित हो जाते तो सबसे अधिक दुःखी हो जाते; लेकिन ऐसा नहीं है। अल्पज्ञान हो अथवा पूर्ण ज्ञान हो, वह ज्ञेयों को जानते हुए ज्ञेयों से पूर्ण अप्रभावित रहता है; यह इस श्लोक में स्पष्ट किया है। प्रवचनसार गाथा २८ तथा उसकी टीका भी इस विषय के लिये अवश्य देखें।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ज्ञान, दूरवर्ती पदार्थ को भी स्वभाव से जानता है –

दवीयांसमपि ज्ञानमर्थं वेत्ति निसर्गतः।
अयस्कान्तः स्थितं दूरे नाकर्षति किमायसम्॥२३॥

अन्वय :– ज्ञानं दवीयांसं अर्थं अपि निसर्गतः वेत्ति (यथा) अयस्कान्तः दूरे स्थितं आयसं किं न आकर्षति ? (अपितु आकर्षति एव)।

सरलार्थ :– ज्ञान, क्षेत्र-कालादि की अपेक्षा से दूरवर्ती पदार्थ समूह को भी स्वभाव से जानता है। क्या चुम्बकपाषाण दूरी पर स्थित लोहे को अपनी ओर नहीं खींचता ? खींचता ही है।

भावार्थ :– जिसप्रकार चुम्बकपाषाण दूर स्थित लोहे को स्वभाव से अपनी ओर खींच लेता है; उसीप्रकार केवलज्ञान भी क्षेत्र की अपेक्षा तथा काल की अपेक्षा दूरवर्ती पदार्थों को भी स्वभाव से स्पष्ट जानता है।

इस पर कोई यह शंका कर सकता है कि चुम्बक की शक्ति तो सीमित है, उसकी शक्ति-सीमा के भीतर जब लोहा स्थित होता है, तभी वह उसको खींचकर अपने से चिपका लेता है, जब लोहा सीमा के बाहर होता है तब उसे नहीं खींच पाता; तब क्या केवलज्ञान भी सीमित क्षेत्र-काल के पदार्थों को ही अपना विषय बनाता है ?

इसका समाधान इतना ही है कि दृष्टान्त हमेशा एकदेश होता है, सर्वदेश नहीं। अतः चुम्बक की तरह ज्ञान की शक्ति को सीमित नहीं समझ लेना चाहिए, उसमें प्रतिबन्धक का अभाव हो जाने से दूरवर्ती तथा अन्तरित ही नहीं, किन्तु सूक्ष्म पदार्थों को अपना विषय बनाने की अनन्तानन्तशक्ति है, उसमें कोई भी पदार्थ बिना जाने नहीं रहता। इसी से ज्ञान को सर्वगत कहा है। वह अपने आत्मप्रदेशों की अपेक्षा नहीं, किन्तु जानने की अपेक्षा सर्वगत है।

ज्ञान, स्वभाव से ही स्व-पर प्रकाशक है –

ज्ञानमात्मानमर्थं च परिच्छित्ते स्वभावतः।
दीप उद्योतयत्यर्थं स्वस्मिन्नान्यमपेक्षते॥२४॥

अन्वय :– ज्ञानं स्वभावतः आत्मानं अर्थं च परिच्छित्ते (यथा) दीपः अर्थं उद्योतयति स्वस्मिन् अन्यं न अपेक्षते।

सरलार्थ :– ज्ञान अपने को और पदार्थ को स्वभाव से जानता है। जैसे – दीपक पदार्थ को प्रकाशित करता है, उसे अपने को प्रकाशित करने में भी किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती है।

भावार्थ :– पिछले श्लोक में यह बतलाया है कि केवलज्ञान दूरवर्ती पदार्थों को भी जानता है, चाहे वह दूरी क्षेत्र सम्बन्धी हो या काल-सम्बन्धी। यहाँ यह प्रश्न पैदा होता है कि ज्ञान पर को ही स्वभाव से जानता है या अपने को भी जानता है ?

इस श्लोक में दीपक के उदाहरण द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि जिसप्रकार दीपक पर पदार्थों का उद्योतन (प्रकाशन) करता है, उसीप्रकार अपना भी उद्योतन करता है; अपने उद्योतन में किसी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पर की अपेक्षा नहीं रखता। उसीप्रकार ज्ञान भी अपने को तथा पर-पदार्थ समूह को स्वभाव से ही जानता है, अपने को अथवा अन्य पदार्थों को जानने में किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता।

क्षायोपशमिक एवं क्षायिक ज्ञान का स्वरूप –

क्षायोपशमिकं ज्ञानं कर्मापाये निवर्तते।
प्रादुर्भवति जीवस्य नित्यं क्षायिकमुज्ज्वलम्॥२५॥

अन्वय :– कर्मापाये (कर्म-अपाये) जीवस्य क्षायोपशमिकं ज्ञानं निवर्तते, नित्यं उज्ज्वलं क्षायिकं (ज्ञानं) प्रादुर्भवति।

सरलार्थ :– मोहनीय आदि चारों घाति कर्मों के नाश होने पर जीव का क्षायोपशमिक ज्ञान नष्ट हो जाता है और निर्मल क्षायिक ज्ञान सदा उदय को प्राप्त होता है अर्थात् सदा व्यक्त रहता है।

भावार्थ :– मति, श्रुत, अवधि एवं मनःपर्यय ज्ञान – ये चारों अल्प विकसित ज्ञान नियम से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतरायकर्म के क्षयोपशम के साथ संबंध रखनेवाले हैं। इसलिए जब इन चारों घाति कर्मों का नाश होता है, तब क्षायिक ज्ञान प्रगट होने के कारण क्षायोपशमिक ज्ञानों का अभाव हो जाता है।

क्षायिकज्ञान और क्षायोपशमिकज्ञान दोनों एक साथ नहीं रहते। किसी संसारी (अष्टकर्म सहित) जीव को क्षायोपशमिक मति, श्रुत दो ज्ञान रह सकते हैं किसी को मति, श्रुत, अवधि अथवा मति, श्रुत, मनःपर्यय – ये तीन ज्ञान और किसी को मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ये चार ज्ञान भी एक साथ रह सकते हैं। ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षय के निमित्त से प्रगट होनेवाला केवलज्ञान/पूर्णज्ञान एक ही रहता है। यह क्षायिक ज्ञान नित्य व्यक्त रहता है, भविष्य में अनंतकाल में इसका कभी नाश नहीं होता।

केवलज्ञान की सत्-असत् विषय में प्रवृत्ति –

सन्तमर्थमसन्तं च काल-त्रितय-गोचरम्।
अवैति युगपज्ज्ञानमव्याघातमनुत्तमम्॥२६॥

अन्वय :– अव्याघातं अनुत्तमं (क्षायिकं) ज्ञानं काल-त्रितय-गोचरं सन्तं असन्तं अर्थं च युगपद् अवैति।

सरलार्थ :– अव्याघात और सर्वोत्तम क्षायिकज्ञान त्रिकाल (वर्तमान, भूत, भविष्य) विषयक सत्-असत् सभी पदार्थों को युगपत् जानता है।

भावार्थ :– क्षायिक ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान किसी भी परपदार्थ से बाधित नहीं है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थों को भी हस्तामलकवत् स्पष्ट जानता है। जैसे परमाणु, कालाणु, समय, प्रदेश, अविभाग प्रतिच्छेद, एक समय में होनेवाला द्रव्य का परिवर्तन ये सर्व पदार्थ सूक्ष्म होने पर भी केवलज्ञान इनको स्पष्ट जानता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्तरित अर्थात् काल की अपेक्षा जिनमें विशेष दूरी है, ऐसे राम-रावण, वृषभादि तीर्थंकर, भूतकालीन चौबीसी, भविष्यकालीन चौबीसी – इनका जानना केवलज्ञान में सहज होता है।

क्षेत्र की अपेक्षा से दूर स्वयंभूरमण समुद्र, सुदर्शन आदि मेरु पर्वत, अकृत्रिम जिन चैत्य-चैत्यालय – इनको भी केवलज्ञान सहज जान लेता है। सभी भूत, भविष्यत् पदार्थों को भी क्षायिकज्ञान वर्तमानवत् एवं स्पष्ट जानता है।

आचार्यश्री माणिक्यनंदी परीक्षामुखसूत्र **''नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत्''** इस सूत्र में अल्पज्ञ जीव का ज्ञान भी अर्थ अर्थात् ज्ञेयवस्तु और आलोक अर्थात् प्रकाशादि निमित्त के बिना ही होता है ऐसा कहते हैं; तो केवलज्ञान सत्-असत् वस्तुओं को भी स्पष्ट जानता है, इसमें क्या आश्चर्य है ?

केवलज्ञान के विषय की चर्चा करते हुए आचार्य उमास्वामी ने भी तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय के २९वें सूत्र में **'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य'** अर्थात् केवलज्ञान जाति अपेक्षा छहों तथा संख्या अपेक्षा अनंतानंत द्रव्य एवं उनकी सर्व पर्यायों को युगपत् जानता है, यह स्पष्ट किया है।

अतः केवलज्ञान को छोड़कर अन्य कोई ज्ञान सर्वोत्तम नहीं है; यह तो सहज ही समझ में आता है।

इस विषय की विशेष जानकारी हेतु प्रवचनसार गाथा ३७ एवं उसकी टीका अवश्य देखें।

सत्-असत् पदार्थों का खुलासा –

असन्तस्ते मता दक्षैरतीता भाविनश्च ये।
वर्तमानाः पुनः सन्तस्त्रैलोक्योदरवर्तिनः ।।२७।।

अन्वय :– दक्षैः ये त्रैलोक्योदर-वर्तिनः अतीताः भाविनः च (पदार्थाः) ते असन्तः पुनः वर्तमानाः सन्तः मताः।

सरलार्थ :– जो पदार्थ तीन लोक के उदर में भूतकाल में थे और भविष्यकाल में रहेंगे, उन्हें विवेकी पुरुष असत् मानते हैं। तथा जो पदार्थ वर्तमान काल में हैं, उन्हें सत् मानते हैं।

भावार्थ :– वस्तुतः वर्तमानकाल तो एक समय का होता है। इस वर्तमान काल में अनंतानंत द्रव्य, प्रत्येक द्रव्य में अनंत गुण और प्रत्येक गुण की वर्तमानकालीन एक समय की एक-एक पर्याय – इतना वर्तमानकालीन सत् पदार्थ है तथा भूतकालीन विनष्ट पर्यायों एवं भविष्यकालीन अनुत्पन्न पर्यायों को असत् (अविद्यमान) कहते हैं।

वर्तमानकाल की अपेक्षा भूतकाल अनंतगुणा है; क्योंकि भूतकाल अनादि का है। भविष्यकाल, भूतकाल की अपेक्षा सदा ही अनंत गुणा रहता है; इसतरह सत्-असत् पदार्थों का सूक्ष्मता से विचार करना चाहिए; जो आगम-सम्मत हो।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भूत-भावी पदार्थों को जानने का स्वरूप –

अतीता भाविनश्चार्थाः स्वे स्वे काले यथाखिलाः।
वर्तमानास्ततस्तद्वद्वेत्ति तानपि केवलम्॥२८॥

अन्वय :– ततः अतीताः भाविनः च अखिलाः अर्थाः स्वे स्वे काले यथा वर्तमानाः तान् अपि केवलं (केवलज्ञानं) तद्वत् वेत्ति।

सरलार्थ :– अतीत और अनागत सम्पूर्ण पदार्थ अपने-अपने काल में जिस-जिस रूप में वर्तते हैं; उनको उसी रूप में वर्तमानकालीन पदार्थों के समान केवलज्ञान जानता है।

भावार्थ :– आचार्य अमितगति भूतकालीन एवं भविष्यकालीन पदार्थों को असत् कहते हैं। इन असत् पदार्थों को केवलज्ञान वर्तमानकालीन पदार्थों के समान स्पष्ट जानता है, यह इस श्लोक में बताना चाहते हैं। जिन पदार्थों/पर्यायों की सत्ता ही नहीं उनको अस्पष्ट जानते होंगे, कुछ साधनों के आधार से जानते होंगे अथवा तर्क, अनुमान से जानने का प्रयास करते होंगे – ऐसी शंकाओं को निर्मूल करने के लिए ही वर्तमानकालीन पदार्थों के समान जानते हैं; ऐसा स्पष्ट खुलासा किया है।

इसी विषय को आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार के ज्ञानाधिकार की ३९वीं गाथा में अत्यन्त विशद रूप से कहते हैं – यदि अनुत्पन्न पर्याय तथा नष्ट पर्याय केवलज्ञान को प्रत्यक्ष न हो तो उस केवलज्ञान को दिव्य ज्ञान कौन कहेगा ? इससे पूर्व की गाथा ३८ भी टीकासहित देखना उपयुक्त होगा।

सब पदार्थों में केवलज्ञान के युगपत प्रवृत्त न होने पर दोषापत्ति –

सर्वेषु यदि न ज्ञानं यौगपद्येन वर्तते।
तदैकमपि जानाति पदार्थं न कदाचन॥२९॥
एकत्रापि यतोऽनन्ताः पर्यायाः सन्ति वस्तुनि।
क्रमेण जानता सर्वे ज्ञायन्ते कथ्यतां कदा॥३०॥

अन्वय :– यदि ज्ञानं सर्वेषु यौगपद्येन न वर्तते तदा एकं अपि पदार्थं कदाचन न जानाति; यतः एकत्रापि वस्तुनि अनन्ताः पर्यायाः सन्ति सर्वे क्रमेण जानता कदा ज्ञायन्ते कथ्यताम् ?

सरलार्थ :– यदि केवलज्ञान सब पदार्थों को युगपत्/एकसाथ नहीं जानता है तो वह केवलज्ञान एक वस्तु को भी कभी नहीं जान सकता; क्योंकि एक वस्तु में भी अनंत पर्यायें होती हैं। क्रम से जानते हुए वे सब पर्यायें कबतक जानी जायेंगी सो बतलाओ ? एक वस्तु के पर्यायों का भी अंत नहीं आने से कभी एक वस्तु का भी पूरा-जानना नहीं हो सकेगा।

भावार्थ :– प्रत्येक वस्तु अनादि-अनंत नित्य है और उसमें प्रतिसमय नयी-नयी पर्याय भी होती रहती है अर्थात् वस्तु अपने में नित्यता के साथ अनित्यता को भी स्वीकारती है। इसी तथ्य को आचार्य उमास्वामी **'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्'** (तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ३८) – इस सूत्र में व्यक्त करते हैं। यह नित्यानित्यात्मक (गुण नित्य हैं और पर्यायें अनित्य हैं) अथवा गुणपर्यायस्वरूप

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वस्तु हमारे ज्ञान में भी तर्क के आधार से समझ में आती है। इससे हम यह स्पष्ट जान सकते हैं कि प्रत्येक वस्तु भूतकाल में अनादिकाल से अनंत पर्याय सहित वर्त चुकी है। वर्तमानकाल में एक समय की पर्यायसहित वर्त रही है और भविष्य में अनंत गुण-पर्याय सहित वर्तेगी। एक द्रव्य का भी यह स्पष्ट स्वरूप केवलज्ञान के बिना कौन पूर्ण जान सकेगा? अर्थात् एकवस्तु को भी पूर्णरूप से केवली ही जान पायेंगे, अन्य कोई अल्पज्ञ नहीं।

प्रश्न :– हम-आप भी शास्त्र के आधार से यह सब जान रहे हैं, केवलज्ञान की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर :– हमारा आपका यह जानना शास्त्र के आधार से अस्पष्ट/अविशद है, केवलज्ञान विशद/स्पष्ट रीति से पदार्थों की वर्तमानपर्यायवत् भूत-भविष्यकालीन पर्यायों को भी जानता है।

इसी विषय को आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार की गाथा ५० में स्पष्ट कहा है, जो निम्नप्रकार है–

उप्पज्जदि जदि णाणं कमसो अट्ठे पडुच्च णाणिस्स।
तं णेव हवदि णिच्चं ण खाइगं णेव सव्वगदं॥

इसी का विशेष स्पष्टीकरण – वह क्रमवर्ती ज्ञान नित्य इसलिए नहीं है कि एक तो पदार्थ का अवलम्बन लेकर उत्पन्न होता है, दूसरे पदार्थ के ग्रहण करने पर नष्ट हो जाता है; क्षायिक इसलिए नहीं है कि वह ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमाधीन प्रवर्तता है और सर्वगत इसलिए नहीं है कि वह अनन्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को युगपत् जानने में समर्थ नहीं है। अत: ऐसे क्रमवर्ती पराधीन ज्ञान का धनी आत्मा सर्वज्ञ नहीं हो सकता।

भव्यात्मा ही परमात्मा के स्वरूप को स्वीकारता है –

घातिकर्मक्षयोत्पन्नं यद्रूपं परमात्मनः।
श्रद्धत्ते भक्तितो भव्यो नाभव्यो भववर्धकः॥३१॥

अन्वय :– परमात्मनः घातिकर्मक्षयोत्पन्नं यद् रूपं भव्यः भक्तितः श्रद्धत्ते भववर्धकः अभव्यः न (श्रद्धत्ते)।

सरलार्थ :– घाति कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुये परमात्मा के जिस स्वरूप का भव्यात्मा भक्ति से श्रद्धान करता है; अभव्य जीव उसका श्रद्धान नहीं करता; क्योंकि वह अभव्य जीव स्वभाव से भववर्धक होता है।

भावार्थ :– ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय एवं अंतराय इन चार घाति कर्मों के क्षय से जीव को अरहंत अवस्था की प्राप्ति होती है। अरहंत परमात्मा की अवस्था को ही केवली भगवान व सकल परमात्मा भी कहते हैं। केवली अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख एवं अनंतवीर्यस्वरूप हो जाते हैं। अरहंत का स्वरूप अलौकिक होता है। उनका अधर गमन होता है। शरीर परम औदारिक होता है; अत: मैली अवस्था से रहित, स्फटिक समान शुद्ध होता है। उपदेशरूप वाणी सर्वांग से ओंकार स्वरूप एकाक्षरी खिरती है। उस वाणी से सभी जीवों का कल्याण होता है। इसतरह के

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परमात्मपद का श्रद्धान भव्य जीव ही कर पाता है। अभव्य ऐसे भगवान के सच्चे स्वरूप का श्रद्धान नहीं कर पाता; क्योंकि अभव्यों को तो संसार बढ़ाने का ही कार्य करना है।

प्रवचनसार गाथा ६२ तथा पंचास्तिकाय संग्रह गाथा १६३ में भी इसीप्रकार का भाव स्पष्ट किया है।

निज शुद्धात्मा का स्वरूप एवं उसके श्रद्धान का फल –

यत्सर्वार्थवरिष्ठं यत्क्रमातीतमतीन्द्रियम्।
श्रद्दधात्यात्मनो रूपं स याति पदमव्ययम्।।३२।।

अन्वय :– (यः) आत्मनः यत् सर्वार्थवरिष्ठं यत् क्रमातीतं अतीन्द्रियं रूपं श्रद्धधाति सः अव्ययं पदं याति।

सरलार्थ :– जो सर्व पदार्थों में श्रेष्ठ है, क्रमातीत अर्थात् आदि-मध्य-अंत से रहित है और अतीन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियज्ञानगोचर नहीं है – आत्मा के ऐसे स्व-रूप का जो जीव श्रद्धान करता है, वह अविनाशी पद – मोक्ष को प्राप्त होता है।

भावार्थ :– इस श्लोक में अरहंत से भी श्रेष्ठ पद जो सिद्ध अवस्था उसकी प्राप्ति का मूल जो त्रिकाली भगवान आत्मा, उसके स्वरूप को स्पष्ट किया है। ग्रंथाधिराज समयसार में प्रत्येक आत्मा को ज्ञायक बताया है। वह ज्ञायक आत्मा सर्व परद्रव्यों से तो रहित है ही; परन्तु अपने आत्मा में ही उत्पन्न होनेवाले शुद्धाशुद्ध पर्यायों से पार एवं निर्मल है; ऐसा कहा है। उसी आत्मा के स्वरूप को इस श्लोक में स्पष्ट किया है।

आत्मसाधक का एवं आत्मा का स्वरूप –

निर्व्यापारीकृताक्षस्य यत्क्षणं भाति पश्यतः।
तद्रूपमात्मनो ज्ञेयं शुद्धं संवेदनात्मकम्।।३३।।

अन्वय :– निर्व्यापारीकृताक्षस्य क्षणं पश्यतः यद् भाति तद् शुद्धं संवेदनात्मकं आत्मनः रूपं ज्ञेयं।

सरलार्थ :– इन्द्रिय और मन के व्यापार को रोककर एवं क्षणभर के लिये अन्तर्मुख होकर देखनेवाले योगी को आत्मा का जो रूप दिखाई देता है/अनुभव में आता है, उसे आत्मा का शुद्ध संवेदनात्मक/ज्ञानात्मक रूप जानना चाहिए।

भावार्थ :– आचार्यश्री ने मूल श्लोक में मात्र अक्ष याने इन्द्रिय शब्द का प्रयोग किया है; तथापि हमने सरलार्थ में अक्ष का अर्थ मन भी इसलिए किया है कि मन को रोके बिना अन्तर्मुख होना संभव नही है। दूसरी बात मन भी इन्द्रिय ही है; क्योंकि मन भी ज्ञान का बाह्य साधन है, जीव का चिह्न है। मन को नोइन्द्रिय (अनिन्द्रिय या किञ्चित् इन्द्रिय) ऐसा शास्त्र में कहा ही है। मन का विषय और स्थान निश्चित ज्ञात न होने से ही उसे नो अर्थात् किंचित् इन्द्रिय कहा है। अर्थात् आँख-नाक की तरह मन शरीर में स्पष्ट दिखाई नहीं देता और उसके रूप-गंध आदि निश्चित विषय भी नहीं है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इन्द्रिय एवं मन को रोकने की बात तो व्यवहार से निषेधमूलक कही है। जब शुद्ध ज्ञानस्वरूप अपनी आत्मा को देखा/अनुभव किया जाता है, तब इन्द्रिय एवं मन का व्यापार स्वतः ही रुक जाता है।

आत्मा का वास्तविक रूप/स्वभाव तो मात्र ज्ञानात्मक ही है। ज्ञान को छोड़कर आत्मा कर भी क्या सकता है ? आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार की आत्मख्याति टीका में कलश ६२ में कहा ही है :–

"आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत् करोति किम्।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥

अर्थ :– आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है; वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य क्या करता है ? आत्मा परभाव का कर्ता है, ऐसा मानना (तथा कहना) यह व्यवहारी जीवों का मोह (अज्ञान) है।"

जिसे आत्मा, मात्र ज्ञानस्वरूप ही अनुभव में आता है, वही साधक है, अन्य जीव साधक हो ही नहीं सकता।

श्रुतज्ञान से भी केवलज्ञान के समान आत्मबोध की प्राप्ति –

आत्मा स्वात्मविचारज्ञैर्नीरागीभूतचेतनैः।
निरवद्यश्रुतेनापि केवलेनेव बुध्यते॥३४॥

अन्वय :– स्व-आत्म-विचारज्ञैः नीरागीभूतचेतनैः निरवद्यश्रुतेन अपि आत्मा केवलेन इव बुध्यते।

सरलार्थ :– निज आत्मा के विचार में निपुण रागरहित (साम्यभावरूप परिणत सम्यग्दृष्टि) जीव निर्दोष श्रुतज्ञान से भी आत्मा को केवलज्ञान के समान जानते हैं।

भावार्थ :- जो भावश्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा के केवल/शुद्ध स्वरूप का अनुभव करते हैं, उन्हें श्रुतकेवली कहा जाता है। जैसा कि समयसार की गाथा ९/प्रवचनसार गाथा ३३ से प्रकट है –

जो हि सुदेणहिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं शुद्धं।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा॥

गाथार्थ :- जो जीव निश्चय से श्रुतज्ञान के द्वारा इस अनुभव-गोचर केवल एक शुद्ध आत्मा को सन्मुख होकर जानता है, उसे लोक को प्रकाशित करनेवाले ऋषीश्वर श्रुतकेवली कहते हैं।

इस गाथा में जिसे केवल/शुद्ध कहा गया है, उसे ही प्रवचनसार की ३३वीं गाथा में भी ज्ञायकस्वभावरूप बतलाया है।

जिनेन्द्र भगवान ने जिस श्रुत का – सूत्ररूप आगम का निर्देश किया है, वह पौद्गलिक वचनों के द्वारा निर्दिष्ट होने से द्रव्यश्रुत है, स्वतः ज्ञानरूप न होकर पुद्गलरूप है। उसकी जो ज्ञप्ति/जानकारी वह भावश्रुतज्ञान कहलाती है। भावश्रुतज्ञान की उत्पत्ति में कारण पड़ने से उस द्रव्यश्रुत को भी उपचार से, व्यवहारनय से श्रुतज्ञान कहा जाता है। सूत्र तो उपाधिरूप में होने से छूट जाता है, ज्ञप्ति

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ही अवशिष्ट रह जाती है। वह ज्ञप्ति केवलज्ञानी की और श्रुतकेवली की आत्मा के सम्यक् अनुभव में समान ही होती है। वस्तुत: ज्ञान का श्रुतोपाधिरूप भेद नहीं है, ऐसा भाव श्री अमृतचन्द्राचार्य ने प्रवचनसार की ३४ वीं गाथा की टीका में व्यक्त किया है – **'अथ सूत्रमुपाधित्वान्नाद्रियते ज्ञप्तिरेवावशिष्यते। सा च केवलिनः श्रुतकेवलिनश्चात्मसंचेतने तुल्यैवेति नास्ति ज्ञानस्य श्रुतोपाधिभेदः।'**

स्वामी समन्तभद्र के शब्दों में स्याद्वादरूप श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों के जीवाजीव सर्वतत्त्व प्रकाशन में साक्षात्-असाक्षात् का अर्थात् प्रत्यक्ष-परोक्ष का भेद है, तत्त्वों को यथार्थरूप से जानने में कोई अन्तर नहीं है। जैसा कि देवागम स्तोत्र की कारिका १०५ से स्पष्ट है –

स्याद्वाद-केवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्॥

समयसार गाथा १४३, १४४ तथा उनकी टीका एवं भावार्थ भी इस संदर्भ में अवश्य पठनीय हैं।

सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति का काल –

रागद्वेषापराधीनं यदा ज्ञानं प्रवर्तते।
तदाभ्यधायि चारित्रमात्मनो मलसूदनम्॥३५॥

अन्वय :– यदा ज्ञानं राग-द्वेष-अपराधीनं प्रवर्तते तदा आत्मनः मलसूदनं चारित्रं अभ्यधायि।

सरलार्थ :– जब ज्ञान अर्थात् आत्मा राग-द्वेष की पराधीनता से रहित प्रवर्तता है, तब आत्मा के कर्मरूपी मल का नाशक चारित्र होता है, ऐसा कहा है।

भावार्थ :– आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार गाथा क्रमांक ७ में इसी विषय को स्पष्ट कहा है–

चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो॥

गाथार्थ – चारित्र वास्तव में धर्म है; जो धर्म है वह साम्य है, ऐसा शास्त्रों में कहा है। साम्य मोह और क्षोभ रहित आत्मा का परिणाम है।

आचार्य कुन्दकुन्द की द्विसहस्राब्धि वर्ष के समय कुन्दकुन्द के सम्बन्ध में उनके भक्त कहते रहे, **'राग-द्वेष तो कर्म है और वीतरागता धर्म है।'**

जैसे-जैसे वीतरागता बढ़ती जाती है वैसे-वैसे कर्म की निर्जरा भी अधिक-अधिक मात्रा में होती जाती है। इसलिये यहाँ वीतरागता को चारित्र कहा और चारित्र को कर्म का नाशक बताया है। कर्म के नाश के लिये वीतरागता को छोड़कर अन्य कोई उपाय नहीं है।

कुछ लोग शारीरिक शुभ क्रिया को धर्म मानते हैं और कुछ पुण्य/शुभ परिणाम को धर्म मानते हैं – दोनों मिथ्या मान्यताओं में समान ही अपराध करते हैं। शुभ क्रिया को धर्म मानना तो अजीव

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

द्रव्य की क्रिया को धर्म मानने की भूल है और पुण्य-परिणाम को धर्म मानना आस्रव, बंधरूप संसार तत्त्व को धर्म मानने की भूल है। धर्म तो संवर-निर्जरारूप है, वह वीतरागरूप ही है; अन्यरूप नहीं।

कषाय से स्वभावच्युत आत्मा के व्रत नहीं –

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्म सङ्गविवर्जनम्।
कषाय-विकले ज्ञाने समस्तं नैव तिष्ठति॥३६॥

अन्वय :– ज्ञाने कषाय-विकले (सति) अहिंसा सत्यं अस्तेयं ब्रह्म सङ्गविवर्जनं (च एतत्) समस्तं (व्रतं) नैव तिष्ठति।

सरलार्थ :– ज्ञान अर्थात् आत्मा जब क्रोधादि कषाय परिणामों से विकल अर्थात् व्याकुलित होने पर आत्मस्थिरतारूप स्वभाव से च्युत होता है; तब अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रहभाव समस्त ही महाव्रतरूप भाव स्थिर नहीं रहते, नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ :– श्लोक में तो व्रतसमूह स्थिर नहीं रहता, ऐसा कथन आया है, इसका अर्थ हमने महाव्रत करके आचार्यों के अभिप्राय को ही स्पष्ट किया है; क्योंकि श्लोक में कहीं अणुव्रत शब्द का उल्लेख नहीं आया है और पंचम व्रत का कथन करते समय **संङ्गविवर्जनं** इस शब्द का प्रयोग किया है। परिग्रह का समग्र त्याग महाव्रती मुनिराज ही के होता है; अतः स्वतः महाव्रत सिद्ध हो गया।

आचार्य अमितगति ने आगे श्लोक क्रमांक ३८,३९,५९ में क्रमशः योगी, यति, योगी शब्दों का प्रयोग किया है। अत: हमने भी सरलार्थ में महाव्रत-अर्थ किया है। आचार्यरचित शास्त्र की व्याख्या करने का उद्देश्य उनके भाव को स्पष्ट करना है।

मूल श्लोक में आगत कषाय-विकले शब्द का भाव भी आगमानुकूल समझना अति आवश्यक है। प्रमत्त विरत छठवें गुणस्थान में भावलिंगी मुनिराज को भी उनके भूमिका के अनुकूल संज्वलन कषाय चौकड़ी के तीव्र उदयवश कषाय परिणाम तो होते हैं; तथापि उनके व्रतों का नाश नहीं होता। छठवें गुणस्थान में जो शुभोपयोगरूप प्रवृत्ति होती है, उसका निमित्त कारण संज्वलन कषाय चौकड़ी का तीव्र उदय ही है। वहाँ तो महाव्रतों के पालन का भाव रहता ही है, इसीलिए उन्हें प्रमत्त संयत मुनिराज ऐसा नाम प्राप्त होता है।

प्रश्न – इस चर्चा से आप क्या कहना चाहते हैं? कुछ समझ में नहीं आया इसे स्पष्ट कीजिए।

उत्तर – प्रत्याख्यानावरण, अप्रत्याख्यानावरण अथवा अनंतानुबंधी कषायों के उदय से जो परिणाम होंगे या मिथ्यात्व के उदयजनित भाव होंगे तो महाव्रत नहीं रहते; ऐसा कषाय-विकल शब्द का यथायोग्य अर्थ ग्रहण करना चाहिए, हम यही बताना चाहते हैं।

बाह्य में मुनिदशा हो और जीवन में श्रावक योग्य परिणाम और क्रियाएँ होने लगें तो समझना चाहिए कि महाव्रत नहीं टिकते अर्थात् यथार्थ मुनिपना/भावलिंगीपना नहीं रहता।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मरमणता से पापों का पलायन –

हिंसत्वं वितथं स्तेयं मैथुनं सङ्गसंग्रहः।
आत्मरूपगते ज्ञाने निःशेषं प्रपलायते ।।३७।।

अन्वय :– ज्ञाने आत्मरूपगते हिंसत्वं वितथं स्तेयं मैथुनं सङ्गसंग्रहः निःशेषं प्रपलायते।

सरलार्थ :– ज्ञान के आत्मरूप में परिणत होने पर अर्थात् आत्मा के आत्मस्वरूप में लीन होने पर हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह – ये पाँचों पाप भाग जाते हैं अर्थात् कोई भी पाप नहीं रहता।

भावार्थ :– दिगम्बर संत अलौकिक महापुरुष हैं। उनके जीवन में अंशमात्र हिंसादि पाँच पाप नहीं होते। छठवें गुणस्थान में उनको शुभोपयोग होता है, उस काल में २८ मूलगुण पालने का सर्वोत्तम पुण्य परिणाम ही होता है।

श्लोक में प्रकरण तो जो आत्मा आत्ममग्न होता है, उसका है अर्थात् शुद्धोपयोगी संतों का है; अप्रमत्तविरत गुणस्थान से लेकर उपरिम गुणस्थान में विराजमान महामुनियों का है। शुद्धोपयोग में तो पाँचों पापों की अंशमात्र भी संभावना नहीं है। वहाँ तो बुद्धिपूर्वक पुण्यपरिणाम का भी अभाव है। अतः यहाँ पाप पलायन करते हैं; ऐसा कथन किया है; जो परमसत्य है। आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान एवं आत्मरमणता ही पापों के अभाव का सही उपाय है।

आत्मा के ध्यान से कर्मों से छुटकारा –

चारित्रं दर्शनं ज्ञानमात्मरूपं निरञ्जनम्।
कर्मभिर्मुच्यते योगी ध्यायमानो न संशयः।।३८।।

अन्वय :– निरञ्जनं ज्ञानं दर्शनं चारित्रं (च) आत्मरूपं ध्यायमानः योगी कर्मभिः मुच्यते न संशयः।

सरलार्थ :– निर्मल दर्शन, ज्ञान, चारित्र यह आत्मा का स्वरूप/स्वभाव है। इस आत्मस्वरूप को ध्याते हुये योगी कर्मों से छूट जाते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं।

भावार्थ :– शुद्धात्मा का ध्यान शास्त्रों में दो प्रकार से कहा है – साधनभाव से और साध्यभाव से। शुद्ध रत्नत्रयात्मक आत्मा का ध्यान करना चाहिए, यह कथन साधनभाव का हुआ और शुद्धात्मा का ध्यान करना चाहिए, यह कथन साध्यभाव का हुआ। यही समयसार गाथा १६ और उसकी टीका में कहा है, उसे यहाँ अविकल रूप से दे रहे हैं –

"दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो।।

गाथार्थ – साधु पुरुष को दर्शन, ज्ञान और चारित्र का सदा सेवन करने योग्य है और उन तीनों को निश्चयनय से एक आत्मा ही जानो।

टीका – यह आत्मा जिस भाव से साध्य तथा साधन हो, उस भाव से ही नित्य सेवन करने योग्य

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है। इसप्रकार स्वयं विचार करके दूसरों को व्यवहार से प्रतिपादन करते हैं कि साधु पुरुष को दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सदा सेवन करने योग्य है। किन्तु परमार्थ से देखा जाय तो यह तीनों एक आत्मा ही हैं, क्योंकि ये अन्य वस्तु नहीं, किन्तु आत्मा की ही पर्याय हैं। जैसे किसी देवदत्त नामक पुरुष के ज्ञान; श्रद्धान और आचरण देवदत्त के स्वभाव का उल्लंघन न करने से (वे) देवदत्त ही हैं, अन्यवस्तु नहीं; इसीप्रकार आत्मा में भी आत्मा के ज्ञान-श्रद्धान और आचरण आत्मा के स्वभाव का उल्लंघन न करने से आत्मा ही है, अन्य वस्तु नहीं। इसलिए यह स्वयमेव सिद्ध होता है कि एक आत्मा ही सेवन करने योग्य है।

भावार्थ – दर्शन, ज्ञान, चारित्र – तीनों आत्मा की ही पर्याय हैं, कोई भिन्न वस्तु नहीं हैं; इसलिए साधु पुरुषों को एक आत्मा का ही सेवन करना, यह निश्चय है और व्यवहार से दूसरों को भी यही उपदेश करना चाहिए।''

आत्मध्यान से विमुख योगी का स्वरूप –

यः करोति परद्रव्ये रागमात्मपराङ्मुखः।
रत्नत्रयमयो नासौ न चारित्रचरो यतिः ॥३९॥

अन्वय :– यः यतिः आत्म-पराङ्मुखः परद्रव्ये रागं करोति असौ न रत्नत्रयमयः न चारित्रचरः।

सरलार्थ :– जो योगी आत्मस्वभाव से विमुख होकर परद्रव्य में राग/प्रीति करता है, वह योगी न रत्नत्रयसम्पन्न है और न सम्यक् चारित्र का आचरण करनेवाला है।

भावार्थ :– धर्मक्षेत्र में एक त्रिकाली निज शुद्धात्मा का सतत ध्यान ही मुख्य है। जब किसी भी साधक जीव की दृष्टि/श्रद्धा में से अपना त्रिकाली भगवान आत्मा छूट जाता है, तब वह धार्मिक नहीं रहता। यहाँ आत्मपराङ्मुख का अर्थ श्रद्धा में से अपने निज शुद्धात्मा का छूट जाना है, मात्र उपयोग में से छूट जाना, ऐसा अर्थ नहीं करना चाहिए।

ध्यान अर्थात् ज्ञान की निरंतरता में से निजात्मा छूट जाते ही परद्रव्यरतपना अर्थात् चारित्र का नाश नहीं होता। यदि शुद्धोपयोग से छूटते ही परद्रव्यरतपना स्वीकार किया जाय तो प्रमत्तविरत गुणस्थानवर्ती को, शुभाशुभोपयोगमयी देशविरति को अथवा अविरति को भी अधार्मिक अथवा आत्मविमुखता माननी पड़ेगी। अतः जबतक श्रद्धा में निजशुद्धात्मा का अहंपना रहता है अर्थात् छठवें, पाँचवें, चौथे गुणस्थान में विशिष्ट कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक शुद्धपरिणतिरूप वीतरागता व्यक्त है; तबतक शुद्धोपयोग रहित आत्मा को भी साधकपना ही है – यह स्वीकारना आवश्यक है।

प्रश्न :– श्रोताओं को उपदेश देनेवाले अथवा शास्त्र-लेखन करनेवाले एवं शास्त्र पढ़ने-पढ़ानेवाले आचार्य तथा उपाध्याय परमेष्ठी को क्या आत्मविमुख माना जा सकता है?

उत्तर :– बिल्कुल नहीं, ये तो भावलिंगी संतों का छठवें गुणस्थान में भूमिकानुसार होनेवाला

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सहज कार्य है। इस शुभोपयोगरूप परिणाम से तो व्यवहारधर्म की प्रवृत्ति जीवित रहती है। यह तो पर्याय के स्वभावगत कार्य हैं, उनका निषेध नहीं किया जा सकता। इन कार्यों में संलग्न मुनिराज इन कार्यों को उपादेय नहीं मानते, यह भी समझना आवश्यक है।

प्रश्न :– अविरत या देशविरत गुणस्थानवर्ती साधक अशुभोपयोग में प्रवृत्ति करते हैं, क्या उस अवस्था में भी उन्हें साधक माना जा सकता है ?

उत्तर :– हाँ, अवश्य साधक ही मानना चाहिए। जब तक सम्यग्दर्शन है, एक या दो कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक शुद्धपरिणतिरूप वीतरागता व्यक्त है, तब तक साधकपना रहेगा ही रहेगा। यदि ऐसा नहीं माना जाय तो घर में रहते हुए तीर्थंकर को, चक्रवर्ती को आत्मविमुख अर्थात् मिथ्यादृष्टि मानने की आपत्ति आ जायेगी। आहारग्रहण करते हुए मुनिराज का साधकपना भी संकट में आ जायेगा।

जब श्रद्धा एवं ज्ञान में से भी निज भगवान आत्मा का उपादेयपना छूट जाता है, तब आत्मपराङ्मुखपना होता है अर्थात् मिथ्यादृष्टि होता है। यहाँ मिथ्यात्व को ही आत्मविमुखता समझना चाहिए।

निश्चयचारित्र का स्वरूप –

अभिन्नमात्मन: शुद्धं ज्ञानदृष्टिमयं स्फुटम्।
चारित्रं चर्यते शश्वच्चारु-चारित्रवेदिभि: ।।४०।।

अन्वय :– चारु-चारित्रवेदिभि: आत्मन: अभिन्नं शुद्धं ज्ञानदृष्टिमयं स्फुटं चारित्रं शश्वत् चर्यते।

सरलार्थ :– सम्यग्चारित्र के अनुभवी महापुरुष आत्मा से अभिन्न, शुद्ध अर्थात् वीतरागमय, सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान सहित स्पष्ट अर्थात् व्यक्त, चारित्र का निरंतर आचरण करते हैं।

भावार्थ :– निश्चय सम्यग्चारित्र की पवित्र एवं सुखद पर्याय आत्मा से अभिन्न है; क्योंकि आत्मगुण एवं उसकी हर पर्याय आत्मा से एकरूप ही होना स्वाभाविक है। यह कहकर आचार्य निश्चय चारित्र आत्मगुण एवं आत्मपर्याय को छोड़कर अन्य-शरीररूप पुद्गल द्रव्य अथवा उसकी पर्यायरूप नहीं हो सकता, ऐसा निर्णय करा रहे हैं।

चारित्र को **स्फुट** अर्थात् स्पष्ट एवं व्यक्त कहकर जीवन में साक्षात् अनुभव में आता है; यह कह रहे हैं। जीवन में होनेवाला सम्यक्चारित्र गुप्त-सुप्त नहीं रह सकता।

शुद्ध शब्द से पुण्य-पापरूप विभावभावों से सर्वथा अलग/भिन्न है; ऐसा कहकर आस्रव, बंध के कारण आकुलतामय पुण्यभाव एवं शुभोपयोग चारित्र नहीं है, यह स्पष्ट कर रहे हैं।

ज्ञानदृष्टिमय विशेषण से सम्यक्चारित्र नियम से सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्दर्शन सहित ही होता है, अज्ञान तथा अंधश्रद्धा का सम्यक् चारित्र के साथ दूर का भी संबंध नहीं है, यह स्पष्ट किया है।

शाश्वत विशेषण से साधक के जीवन में निरन्तर चारित्र होता है अर्थात् पुण्योदय हो तो चारित्र

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होवे, शुभोपयोग के काल में चारित्र होवे, शरीर बलवान हो तो चारित्र होवे, अनुकूल काल होवे तो चारित्र होवे – इसप्रकार सर्व अन्य कारणों के साथ कोई संबंध नहीं है, यह स्पष्ट किया है। शाश्वत शब्द से सिद्ध अवस्था में अनंतकाल पर्यंत भी चारित्र रहेगा ही, यह भी समझना चाहिए।

किसी भी विषय के कथन अथवा अनुभव करनेवाले व्यक्ति से कथ्य एवं अनुभाव्य विषय की विशेषता समझी जाती है। इसलिए यहाँ सम्यक्चारित्र का स्वयं अनुभव करनेवाले ही इस चारित्र का हमेशा आचरण करते हैं; यह बताया है।

व्यवहाररत्नत्रय का स्वरूप –

आचार-वेदनं ज्ञानं सम्यक्त्वं तत्त्व-रोचनम्।
चारित्रं च तपश्चर्या व्यवहारेण गद्यते॥४१॥

अन्वय :– व्यवहारेण तत्त्व-रोचनं सम्यक्त्वं, आचार-वेदनं ज्ञानं, तपश्चर्या च चारित्रं गद्यते।

सरलार्थ :– व्यवहारनय की अपेक्षा से तत्त्वरुचि को सम्यग्दर्शन, आचारादि शास्त्र के अंगों के ज्ञान को सम्यग्ज्ञान एवं तपरूप/व्रतादिस्वरूप आचरण को सम्यक्चारित्र कहते हैं।

भावार्थ :– इस श्लोक में व्यवहार सम्यग्दर्शनादि का स्वरूप बताया है। इसीतरह अन्य अपेक्षा से भी पंचास्तिकाय संग्रह गाथा १६०, समयसार गाथा २७६-२७७ में इस विषय की चर्चा है।

समयसार गाथा २७६-२७७ तथा उनकी टीका में व्यवहारनय को प्रतिषेध्य एवं निश्चयनय को प्रतिषेधक बताते हुए अतिशय महत्त्वपूर्ण विवेचन आया है, उसे हम अत्यन्त उपयोगी जानकर यहाँ अविकलरूप से दे रहे हैं –

"अब यह प्रश्न होता है कि निश्चयनय के द्वारा निषेध्य व्यवहारनय और व्यवहारनय का निषेधक निश्चयनय वे दोनों नय कैसे हैं ? अत: व्यवहार और निश्चयनय का स्वरूप कहते हैं –

आयारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं।
छज्जीवणिकं च तहा भणदि चरित्तं तु ववहारो॥
आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो॥

गाथार्थ :- आचारांगादि शास्त्र ज्ञान है, जीवादि तत्त्व, दर्शन जानना चाहिए तथा छह जीव-निकाय, चारित्र हैं – ऐसा तो व्यवहारनय कहता है।

निश्चय से मेरा आत्मा ही ज्ञान है, मेरा आत्मा ही दर्शन और चारित्र है, मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान है, मेरा आत्मा ही संवर और योग (समाधि, ध्यान) है।

टीका – आचारांगादि शब्दश्रुतज्ञान है, क्योंकि वह (शब्दश्रुत) ज्ञान का आश्रय है, जीवादि नव पदार्थ दर्शन हैं; क्योंकि वे (नव पदार्थ) दर्शन के आश्रय हैं और छह जीव-निकाय चारित्र है; क्योंकि वह (छह निकाय) चारित्र का आश्रय है; इसप्रकार व्यवहार है। शुद्ध आत्मा ज्ञान है, क्योंकि वह

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(शुद्धात्मा) ज्ञान का आश्रय है, शुद्ध आत्मा दर्शन है, क्योंकि वह दर्शन का आश्रय है और शुद्ध आत्मा चारित्र है, क्योंकि वह चारित्र का आश्रय है; इसप्रकार निश्चय है। इनमें, व्यवहारनय प्रतिषेध्य अर्थात् निषेध्य है, क्योंकि आचारांगादि को ज्ञानादि का आश्रयत्व अनैकान्तिक है, व्यभिचारयुक्त है, (शब्दश्रुतादि को ज्ञानादि का आश्रयस्वरूप मानने में व्यभिचार आता है, क्योंकि शब्दश्रुतादि के होने पर भी ज्ञानादि नहीं भी होते, इसलिए व्यवहारनय प्रतिषेध्य है) और निश्चयनय व्यवहारनय का प्रतिषेधक है, क्योंकि शुद्ध आत्मा के ज्ञानादि का आश्रयत्व ऐकान्तिक है। (शुद्ध आत्मा को ज्ञानादिक का आश्रय मानने में व्यभिचार नहीं है, क्योंकि जहाँ शुद्ध आत्मा होता है, वहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता ही है।) यही बात हेतुपूर्वक समझाई जाती है –

आचारांगादि शब्दश्रुत एकान्त से ज्ञान का आश्रय नहीं है; क्योंकि उसके (अर्थात् शब्दश्रुत के) सद्भाव में भी अभव्यों को शुद्ध आत्मा के अभाव के कारण ज्ञान का अभाव है; जीवादि नवपदार्थ दर्शन के आश्रय नहीं हैं, क्योंकि उनके सद्भाव में भी अभव्यों को शुद्ध आत्मा के अभाव के कारण दर्शन का अभाव है; छह जीव-निकाय चारित्र के आश्रय नहीं हैं, क्योंकि उनके सद्भाव में भी अभव्यों को शुद्ध आत्मा के अभाव के कारण चारित्र का अभाव है। शुद्ध आत्मा ही ज्ञान का आश्रय है, क्योंकि आचारांगादि शब्दश्रुत के सद्भाव में या असद्भाव में उसके (शुद्ध आत्मा के) सद्भाव से ही ज्ञान का सद्भाव है, शुद्ध आत्मा ही दर्शन का आश्रय है, क्योंकि जीवादि नवपदार्थों के सद्भाव में या असद्भाव में उसके (शुद्ध आत्मा के) सद्भाव से ही दर्शन का सद्भाव है; शुद्ध आत्मा ही चारित्र का आश्रय है, क्योंकि छह जीव-निकाय के सद्भाव में या असद्भाव में उसके (शुद्ध आत्मा के) सद्भाव से ही चारित्र का सद्भाव होता है।

भावार्थ :– आचारांगादि शब्दश्रुत का ज्ञान, जीवादि नव पदार्थों का श्रद्धान तथा छह काय के जीवों की रक्षा – इन सबके होते हुए भी अभव्य के ज्ञान, दर्शन, चारित्र नहीं होते; इसलिए व्यवहारनय तो निषेध्य है और जहाँ शुद्धात्मा होता है, वहाँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र होता ही है, इसलिए निश्चयनय, व्यवहार का निषेधक है। अतः शुद्धनय उपादेय कहा गया है।''

रत्नत्रय परिणत आत्मा ही मोक्षमार्ग है –

सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्र-स्वभाव:परमार्थत:।
आत्मा रागविनिर्मुक्तो मुक्तिमार्गो विनिर्मल:।।४२।।

अन्वय :– परमार्थत: सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्र-स्वभाव: रागविनिर्मुक्त: विनिर्मल: आत्मा (एव) मुक्तिमार्ग: (अस्ति)।

सरलार्थ :– निश्चय की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभावी रागरहित निर्मल आत्मा ही मोक्षमार्ग अर्थात् मोक्ष का उपाय/साधन है।

भावार्थ :– आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम सूत्र में ही **'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि**

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मोक्षमार्ग:' अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र की एकतारूप परिणाम को मोक्ष का मार्ग/ उपाय/साधन कहा है। इस सूत्र में निश्चयनय का कथन किया है; क्योंकि अन्य द्रव्य, अन्यगुण एवं अन्यपर्याय को मोक्ष का उपाय है; ऐसा कथन नहीं किया। इस सूत्र में स्वभावपर्याय की मुख्यता से मोक्षमार्ग का कथन किया है।

मोक्ष अर्थात् बंधन से/विभाव से/दु:ख से छूटना अर्थात् बंधनरहित होने को मोक्ष कहते हैं। स्वभावरूप परिणमन को मोक्ष कहते हैं। अत्यन्त सुखरूप अवस्था को मोक्ष कहते हैं।

मार्ग का अर्थ विशिष्ट क्षेत्रगत रास्ता ऐसा नहीं है। रास्ता अर्थ करके उसका भाव भी उपाय अथवा साधन करोगे तो ही ज्ञानियों इष्ट है। मार्ग का अर्थ, कारण, हेतु, जीवद्रव्य की पर्याय ही करना चाहिए; जिससे प्रकरण के अनुसार योग्य भाव स्पष्ट होता है। मोक्ष अवस्था जीव की है और उसकी प्राप्ति का साधन भी जीवद्रव्य की पर्याय ही होना चाहिए; जो वस्तुस्वभाव के लिये अनुकूल है।

आत्मा, स्वयं दर्शन-ज्ञान-चारित्र है –

यश्चरत्यात्मनात्मानमात्मा जानाति पश्यति।
निश्चयेन स चारित्रं ज्ञानं दर्शनमुच्यते ।।४३।।

अन्वय :– य: आत्मा निश्चयेन आत्मानं आत्मना पश्यति, जानाति चरति स: दर्शनं ज्ञानं चारित्रं उच्यते।

सरलार्थ :– जो आत्मा, आत्मा को निश्चयनय से देखता, जानता और आचरता अर्थात् स्वरूप में प्रवृत्ति करता है, वह आत्मा ही स्वयं दर्शन, ज्ञान और चारित्र कहा जाता है।

भावार्थ :– आत्मा स्वयं दर्शन, ज्ञान, चारित्र है, इसी विषय को आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द्र ने पंचास्तिकाय संग्रह गाथा १६२ तथा उसकी टीका में स्पष्ट किया है, जो अति-महत्त्वपूर्ण है, अत: उसे हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं।

जो चरदि णादि पेच्छदि अप्पाणं अप्पणा अणण्णमयं।
सो चारित्तं णाणं दंसणमिदि णिच्छिदो होदि।।

गाथार्थ :– ''जो आत्मा अनन्यमय आत्मा को आत्मा से आचरता है, जानता है, देखता है, वह आत्मा ही चारित्र है, ज्ञान है, दर्शन है – ऐसा निश्चित है।

टीका :– यह आत्मा के चारित्र-ज्ञान-दर्शनपने का प्रकाशन है अर्थात् आत्मा ही चारित्र, ज्ञान और दर्शन है, ऐसा यहाँ समझाया है। जो (आत्मा) वास्तव में आत्मा को – जो कि आत्मामय होने से अनन्यमय है, उसे आत्मा से आचरता है अर्थात् स्वभावनियत अस्तित्व द्वारा अनुवर्तता है। आत्मा से जानता है अर्थात् स्व-पर प्रकाशकरूप से चेतता है। आत्मा से देखता है अर्थात् यथातथ्य रूप से अवलोकता है। वह आत्मा ही वास्तव में चारित्र है, ज्ञान है, दर्शन है, ऐसा कर्ता-कर्म-करण के अभेद के कारण निश्चित है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इससे (ऐसा निश्चित हुआ कि) चारित्र-ज्ञान-दर्शनरूप होने के कारण आत्मा को जीवस्वभावनियंत चारित्र जिसका लक्षण है – ऐसा निश्चय मोक्षमार्गपना अत्यन्त घटित होता है।''

निज शुद्धात्मा की उपासना ही निर्वाणसुख का उपाय –

तस्मात्सेव्यः परिज्ञाय श्रद्धयात्मा मुमुक्षुभिः।
लब्ध्युपायः परो नास्ति यस्मान्निर्वाणशर्मणः ।।४४।।

अन्वय :– तस्मात् मुमुक्षुभिः आत्मा परिज्ञाय श्रद्धया सेव्यः, यस्मात् परः निर्वाणशर्मणः लब्धि-उपायः न अस्ति।

सरलार्थ :– मोक्ष की इच्छा रखनेवाले साधक को कर्ता-कर्म-करण की अभेदता के कारण निश्चित एवं शुद्ध आत्मा की ज्ञानपूर्वक श्रद्धा द्वारा निजात्मा की उपासना करना चाहिए, क्योंकि मोक्षसुख की प्राप्ति का दूसरा कोई उपाय/साधन नहीं है।

भावार्थ :– आज तक जितने भी साधक जीव सिद्ध हो गये हैं; वे सभी निजशुद्धात्मा के ध्यान से ही सिद्ध हुए हैं। निजशुद्धात्मा का ज्ञान-श्रद्धान-आचरण ही एकमेव मुक्ति का उपाय है और यही द्वादशांगरूप जिनवाणी का सार भी है।

आत्मस्वरूप की अनुभूति का उपाय –

निषिध्य स्वार्थतोऽक्षाणि विकल्पातीतचेतसः।
तद्रूपं स्पष्टमाभाति कृताभ्यासस्य तत्त्वतः ।।४५।।

अन्वय :– अक्षाणि स्व-अर्थतः निषिध्य कृताभ्यासस्य विकल्पातीत-चेतसः तत् रूपं (आत्मरूपं) तत्त्वतः स्पष्टं आभाति।

सरलार्थ :– स्पर्शनेन्द्रियादि इन्द्रियों को अपने-अपने स्पर्शादि विषयों से रोककर आत्मध्यान का अभ्यास करनेवाले निर्विकल्पचित्त/ध्याता/साधक को आत्मा का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट/विशद/साक्षात् अनुभव में आता है।

भावार्थ :– आचार्य अमितगति ने इस विषय को इसी अधिकार के ३३वें श्लोक में भी स्पष्ट किया है; उसे भी पुनः देखें।

आचार्य देवसेन ने आराधनासार की गाथा ८५ में इस विषय को और भी स्पष्ट किया है –

उव्वसिए मणगेहे णट्ठे णिस्सेस-करण-वावारे।
विप्फुरिए ससहावे अप्पा परमप्पओ हवदि।।

गाथार्थ :– मन-मन्दिर के उजाड़ होने पर अर्थात् उसमें किसी भी संकल्प-विकल्प का वास न रहने पर और समस्त इन्द्रियों का व्यापार नष्ट हो जाने पर आत्मा का स्वभाव अवश्य आविर्भूत होता है और उस स्वभाव के आविर्भूत होने पर यह आत्मा ही परमात्मा बन जाता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

केवलज्ञान, आत्मा का उत्तम स्वरूप –

स्वसंविदितमत्यक्षमव्यभिचारि केवलम्।
नास्ति ज्ञानं परित्यज्य रूपं चेतयितुः परम्।।४६।।

अन्वय :– अत्यक्षं स्वसंविदितं अव्यभिचारि केवलं ज्ञानं परित्यज्य चेतयितुः परं रूपं नास्ति।

सरलार्थ :– जो ज्ञान इन्द्रियों की सहायता से रहित है, जिसका कभी भी संशय-विपर्ययादिरूप अन्यथा परिणमन नहीं होता, उस केवलज्ञान को छोड़कर आत्मा का दूसरा कोई उत्तम स्वरूप नहीं है।

भावार्थ :– केवलज्ञान के विशेषणों का विशेष स्पष्टीकरण –

१. अत्यक्ष – अतीन्द्रियज्ञान को अत्यक्ष अर्थात् इन्द्रिय रहित प्रत्यक्ष कहते हैं। केवलज्ञान के लिये किसी भी इन्द्रिय की निमित्तता आवश्यक नहीं है, अतः केवलज्ञान को शास्त्र में असहाय (जिसे किसी की सहायता की, मदद की आवश्यकता नहीं) भी कहा है।

२. स्वसंविदित – अर्थात् स्वप्रकाशक। जैसे दीपक को प्रकाशित करने के लिए अन्य दीपक की आवश्यकता नहीं है, वैसे केवलज्ञान को जानने के लिए अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। वह स्वयमेव ही स्वभाव से स्वप्रकाशक है।

२. अव्यभिचारि – संशयादिरूप कोई भी दोष नहीं होने से केवलज्ञान निर्दोष है।

आचार्य योगीन्दुदेव ने परमात्मप्रकाश एवं योगसार ग्रंथ में आत्मा को केवलज्ञानस्वभावी कहा है। वहाँ इतनी विवक्षा समझना चाहिए कि ज्ञानावरणादि कर्मों का अभाव होनेपर केवलज्ञान प्रगट होता है। आत्मा तो ज्ञानस्वभावी है और मति, श्रुतादि ज्ञान, ज्ञान गुण की पर्यायें हैं। केवलज्ञान भी ज्ञानगुण की सर्वोत्कृष्ट पर्याय है। इससे और कोई सर्वोतम पर्याय नहीं हो सकती।

अणुमात्र राग भी पाप का बंधक –

यस्य रागोऽणुमात्रेण विद्यतेऽन्यत्र वस्तुनि।
आत्मतत्त्व-परिज्ञानी बध्यते कलिलैरपि।।४७।।

अन्वय :– यस्य अन्यत्र वस्तुनि अणुमात्रेण रागः विद्यते सः आत्मतत्त्व-परिज्ञानी अपि कलिलैः बध्यते।

सरलार्थ :– जिसके परवस्तु में सूक्ष्म से सूक्ष्म भी राग विद्यमान है, वह जीव आत्मतत्त्व का ज्ञाता होने पर भी पाप कर्मों से बंधता है।

भावार्थ :– इस श्लोक का अर्थ थोड़ा अटपटा लगता है। इसलिए कुछ शब्दों का भावार्थमूलक अर्थ जानना आवश्यक है। श्लोक में आत्मतत्त्व परिज्ञानी का अर्थ वास्तविक आत्मतत्त्व को जाननेवाला न लेकर मात्र शास्त्र के आधार से आत्मा को विकल्पात्मक जानना ही लेना चाहिए; अन्यथा वास्तविक अर्थ समझ में नहीं आयेगा।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रश्न :– यह अर्थ तो आप अपने मन से ही लगा रहे हैं, किसी आचार्य प्रणीत शास्त्र का आधार दीजिए।

उत्तर :– आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार गाथा २०१-२०२ में इस विषय को लिया है, उसका विशिष्ट अर्थ आचार्य अमृतचन्द्र ने अपनी ओर से अलग ही किया है और पंडितश्री जयचन्दजी छाबड़ा ने तो उस अर्थ को और भी अधिक स्पष्ट किया है। इसलिए हम मूल गाथा, उसकी टीका व भावार्थ यहाँ यथावत् दे रहे हैं।

''अब पूछता है कि रागी (जीव) सम्यग्दृष्टि क्यों नहीं होता ? उसका उत्तर कहते हैं –

परमाणुमित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि॥
अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो॥

गाथार्थ :– वास्तव में जिस जीव के परमाणुमात्र-लेशमात्र भी रागादिक वर्तता है वह जीव भले ही सर्वागम का धारी (समस्त आगमों को पढ़ा हुआ) हो, तथापि आत्मा को नहीं जानता, और आत्मा को न जानता हुआ वह अनात्मा को/पर को भी नहीं जानता; इसप्रकार जो जीव और अजीव को नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ?

टीका – जिसके रागादि अज्ञानमय भावों के लेशमात्र का भी सद्भाव है, वह भले ही श्रुतकेवली जैसा हो, तथापि वह ज्ञानमय भावों के अभाव के कारण आत्मा को नहीं जानता और जो आत्मा को नहीं जानता वह अनात्मा को भी नहीं जानता; क्योंकि स्वरूप से सत्ता और पररूप से असत्ता इन दोनों के द्वारा एक वस्तु का निश्चय होता है; (जिसे अनात्मा का-राग का-निश्चय हुआ हो, उसे अनात्मा और आत्मा – दोनों का निश्चय होना चाहिए, इसप्रकार से आत्मा और अनात्मा को जो नहीं जानता वह जीव और अजीव को नहीं जानता; तथा जो जीव और अजीव को नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि ही नहीं है। इसलिए रागी (जीव) ज्ञान के अभाव के कारण सम्यग्दृष्टि नहीं होता।

भावार्थ :– यहाँ राग शब्द से अज्ञानमय राग-द्वेष-मोह कहे गये हैं और अज्ञानमय कहने से मिथ्यात्व-अनन्तानुबंधी से हुए रागादिक समझना चाहिए। मिथ्यात्व के बिना चारित्रमोह के उदय का राग नहीं लेना चाहिए; क्योंकि अविरत सम्यग्दृष्टि इत्यादि को चरित्रमोह के उदय सम्बन्धी जो राग है सो ज्ञानसहित है; सम्यग्दृष्टि उस राग को कर्मोदय से उत्पन्न हुआ रोग जानता है और उसे मिटाना ही चाहता है; उसे उस राग के प्रति राग नहीं है और सम्यग्दृष्टि के राग का लेशमात्र सद्भाव नहीं है – ऐसा कहा है। सो इसका कारण इसप्रकार है – सम्यग्दृष्टि के अशुभराग तो अत्यन्त गौण है और जो शुभ राग होता है, सो वह उसे किंचित्मात्र भी भला (अच्छा) नहीं समझता, उसके प्रति लेशमात्र राग नहीं करता और निश्चय से तो उसके राग का स्वामित्व ही नहीं है। इसलिए उसके लेशमात्र राग नहीं है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यदि कोई जीव राग को भला जानकर उसके प्रति लेशमात्र राग करे तो वह भले ही सर्व शास्त्रों को पढ़ चुका हो, मुनि हो, व्यवहारचारित्र का पालन करता हो तथापि यह समझना चाहिए कि उसने अपने आत्मा के परमार्थस्वरूप को नहीं जाना, कर्मोदयजनित राग को ही अच्छा मान रक्खा है, तथा उसी से अपना मोक्ष माना है। इसप्रकार अपने और पर के परमार्थस्वरूप को न जानने से जीव-अजीव के परमार्थ स्वरूप को नहीं जानता। और जहाँ जीव तथा अजीव – इन दो पदार्थों को ही नहीं जानता वहाँ वह सम्यग्दृष्टि कैसा ? तात्पर्य यह है कि रागी जीव सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता।''

इस विषय के और अधिक स्पष्टीकरण के लिये इन गाथाओं से पहले के प्रकरण का भी सूक्ष्मता से अध्ययन अवश्य करें।

परमेष्ठी की उपासना से कर्मक्षय नहीं होता –

यो विहायात्मनो रूपं सेवते परमेष्ठिनः।
स बध्नाति परं पुण्यं न कर्मक्षयमश्नुते ।।४८।।

अन्वय :– यः आत्मनः रूपं विहाय परमेष्ठिनः सेवते सः पुण्यं बध्नाति; परं कर्मक्षयं न अश्नुते।

सरलार्थ :– जो कोई आत्मा के रूप (स्वरूप) को छोड़कर अरहन्तादि परमेष्ठियों के रूप (स्वरूप) को ध्याता है, वह उत्कृष्ट पुण्य तो बांध लेता है; परन्तु कर्मक्षय को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ :– इसी ग्रंथ के श्लोक ४४ में निज शुद्धात्मा की उपासना को ही मोक्ष-सुख का एकमेव उपाय तथा साधन बताया है। इस श्लोक में परमेष्ठी की उपासना कर्मबंध का कारण है, कर्मक्षय का कारण नहीं; ऐसा कहकर शुद्धात्मा की ही उपासना को और दृढ़ किया है।

इस श्लोक में कहे हुए विषय को आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय ग्रंथ में विभिन्न तीन गाथाओं द्वारा अत्यन्त विशद रीति से समझाया है। इसलिए उन तीन गाथाओं का अर्थ देखिए –

अरहंतसिद्धचेदियपवयणगणणाणभत्तिसंपण्णो।
बंधदि पुण्णं बहुसो ण हु सो कम्मक्खयं कुणदि॥
अरहंतसिद्धचेदियपवयणभत्तो परेण णियमेण।
जो कुणदि तवोकम्मं सो सुरलोगं समादियदि॥
तम्हा णिव्वुदिकामो रागं सव्वत्थ कुणदु मा किंचि।
सो तेण वीदरागो भविओ भवसायरं तरदि॥

गाथार्थ – ''अरहंत, सिद्ध, चैत्य (अरहंतादि की प्रतिमा) प्रवचन (शास्त्र) मुनिगण और ज्ञान के प्रति भक्तिसम्पन्न जीव बहुत पुण्य बांधता है, परन्तु वास्तव में वह कर्म का क्षय नहीं करता ॥१६६॥

जो जीव अरहंत, सिद्ध, चैत्य (अरहंतादि की प्रतिमा) और प्रवचन/शास्त्र के प्रति भक्तियुक्त वर्तता हुआ परम संयम सहित तप-कर्म करता है, वह देवलोक को संप्राप्त करता है॥१७१॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसलिए मोक्षाभिलाषी जीव सर्वत्र किंचित् भी राग मत करो। ऐसा करने से वह भव्य जीव वीतराग होकर भवसागर को तरता है॥१७२॥

आचार्य कुन्दकुन्द जैसे समर्थ आचार्यों का स्पष्ट-शब्दों में अभिप्राय/उपदेश जानने के बाद किसी भी समझदार साधक को पुण्य का पक्षपात नहीं रहना चाहिए।

प्रश्न – क्या हम अरहंतादि की भक्ति छोड़ दें ?

उत्तर – भक्ति छोड़ने के लिये कौन कह रहा है ? हम तो भक्ति का यथार्थ स्वरूप समझा रहे हैं। शास्त्र में भक्ति, सदाचार, जीवदया छोड़ने की बात कही नहीं जाती; जब जीव अपने स्वरूप में समा जाता है, तब भूमिका के अनुसार कुछ परिणाम छूटते हैं और कुछ नये परिणाम भूमिका के अनुसार उत्पन्न होते हैं। जिनवाणी माता तो पाप छोड़ने के लिये/जीवन में धर्म प्रगट करने एवं बढ़ाने के लिये कहती है। जिस गुणस्थान में जो परिणाम छूटने योग्य हों, वे छूटेंगे और जो होनेयोग्य हैं, वे होंगे; यह तो वस्तुस्वरूप है।

आस्रव रोकने/संवर का एकमेव उपाय –

नागच्छच्छक्यते कर्म रोद्धुं केनापि निश्चितम्।
निराकृत्य परद्रव्याण्यात्मतत्त्वरतिं विना॥४९॥

अन्वय :– परद्रव्याणि निराकृत्य आत्मतत्त्वरतिं विना आगच्छन् कर्म निश्चितं केनापि रोद्धुं न शक्यते।

सरलार्थ :– परद्रव्यों को छोड़कर अर्थात् हेय अथवा ज्ञेय मानकर निजात्मतत्त्व में लीनंता किये बिना आते हुए कर्म समूह को किसी भी उपाय से रोकना सम्भव नहीं है; यह निश्चित/परमसत्य है।

भावार्थ :– इस श्लोक में आस्रव को रोकने का उपाय बताया है। स्थूलदृष्टि से विचार किया जाये तो दो उपाय प्रतीत होते हैं – १. परद्रव्यों को छोड़ना और २. आत्मतत्त्व में लीनता करना। वास्तव में देखा जाय तो निजात्मतत्त्व में लीन होना ही एक उपाय है। साधक जब आत्ममग्न होता है तब स्वयमेव ही परद्रव्य छूट जाते हैं।

आस्रव को रोकना कहो अथवा कर्मों का संवर कहो एक ही बात है। आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र शास्त्र के नववें अध्याय के प्रथम सूत्र में बताया है – **आस्रवनिरोधः संवरः।** संवर कहो, धर्म का प्रारम्भ कहो, शुद्धि अथवा वीतरागता की उत्पत्ति कहो सबका एक ही अर्थ है। आत्मतत्त्व में रति, लीनता, मग्नता ही आस्रव को रोकने का एकमात्र कारण है, अन्य कोई नहीं।

संवर होने का उपाय ग्रन्थाधिराज समयसार में १२९वें कलश में '**संपद्यते संवर एष साक्षात्, शुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपपंभात्** – यह साक्षात् संवर वास्तव में शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि से होता है।' – ऐसा कहा है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परद्रव्योपासक जीव का स्वरूप –

ये मूढा लिप्सवो मोक्षं परद्रव्यमुपासते।
ते यान्ति सागरं मन्ये हिमवन्तं यियासवः ॥५०॥

अन्वय :– ये मोक्षं लिप्सवः परद्रव्यं उपासते ते मूढाः हिमवन्तं यियासवः (अपि) सागरं यान्ति; (इति अहं) मन्ये।

सरलार्थ :– जो मोक्ष की लालसा/तीव्र इच्छा रखते हुए भी परद्रव्य की उपासना करते हैं अर्थात् परद्रव्य के भक्त एवं सेवक बने हुए हैं, परद्रव्यों के पीछे सुख की आशा से दौड़ते हैं, वे मूढ़, अज्ञानीजन हिमवान पर्वत पर चढ़ने के इच्छुक होते हुए भी समुद्र की ओर चले जाते हैं; ऐसा मैं (आचार्य अमितगति) मानता हूँ।

भावार्थ :– जैसे हिमवान पर्वत और समुद्र-दोनों परस्पर विरुद्ध दिशा में विद्यमान हैं; वैसे ही मोक्ष और परद्रव्य - इनका स्वरूप परस्पर में एकदम विरुद्ध है। जिसे मोक्ष चाहिए उसकी श्रद्धा-ज्ञानादि का ढलान मोक्ष की ओर अथवा मोक्ष प्राप्ति में जो निमित्त हों, उनकी ओर स्वाभाविक रूप से ही होता है। यदि मोक्ष, मोक्षमार्ग अथवा इनमें निमित्त पदार्थों को छोड़कर अन्य विषय-कषायों में सहायक पदार्थ की ओर ही श्रद्धादि की प्रवृत्ति हों तो वे जीव आचार्य अमितगति की दृष्टि में बिचारे हैं, दया के पात्र हैं, स्पष्ट शब्दों में कहा जाय तो तीव्र मिथ्यादृष्टि हैं।

ध्याता, ध्येय के अनुसार हो जाता है –

परद्रव्यी भवत्यात्मा परद्रव्यविचिन्तकः।
क्षिप्रमात्मत्वमायाति विविक्तात्मविचिन्तकः ॥५१॥

अन्वय :– परद्रव्यविचिन्तकः आत्मा परद्रव्यी भवति, विविक्तात्मविचिन्तकः क्षिप्रं आत्मत्वं आयाति।

सरलार्थ :– जो मूढ़ आत्मा परद्रव्यों की चिंता में मग्न रहता है, वह आत्मा परद्रव्य जैसा हो जाता है। जो साधक आत्मा पर से भिन्न निज शुद्धात्मा के ध्यान में मग्न/लीन रहता है, वह आत्मा शीघ्र आत्मतत्त्व/मोक्ष या मोक्षमार्ग को प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ :– पुद्गलादि परद्रव्यों की चिंता/मनन-चिंतन/ध्यान करनेवाला परद्रव्य तो नहीं होता, परद्रव्य के समान होता जाता है अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति आदि विभाव परिणामरूप परिणमित होता रहता है। मूढ़जीव भले अपने त्रिकाली भगवान आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान न करे तो भी उसका आत्मा तो अनादि-अनंत शुद्ध ही रहता है। **स्वभाव उसे ही कहते हैं, जो कभी बदले नहीं।**

आचार्य कुंदकुंद ने समयसार की गाथा १८६ में ध्यान का महत्त्व बताते हुए लिखा है – "शुद्ध आत्मा को जानता हुआ/अनुभव करता हुआ जीव शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है और अशुद्ध आत्मा को जानता हुआ/अनुभव करता हुआ जीव अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है।"

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ध्यान करनेवाले आत्मा को ध्याता कहते हैं। ध्याता जिस आत्मा का ध्यान करता है उसे ध्येयरूप आत्मा कहते हैं। ध्येयरूप त्रिकाली भगवान आत्मा में ही अपने व्यक्त ज्ञान को जोड़ना ध्यान कहलाता है।

ध्येयरूप विविक्तात्मा/शुद्धात्मा का स्वरूप –

कर्म-नोकर्म-निर्मुक्तममूर्तमजरामरम्।
निर्विशेषमसंबद्धमात्मानं योगिनो विदुः॥५२॥

अन्वय :– योगिनः आत्मानं कर्म-नोकर्म-निर्मुक्तं अमूर्तं अजर-अमरं निर्विशेषं असंबद्धं विदुः।

सरलार्थ :– योगीजन आत्मा को ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों, राग-द्वेषादि भावकर्मों और शरीर आदि नोकर्मों से रहित; स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से विहीन; अजर-अमर, गुणभेद से शून्य-सामान्यस्वरूप और सर्वप्रकार के संबंधों एवं बंधनों से रहित तथा स्वाधीन जानते हैं, मानते हैं एवं बतलाते हैं।

भावार्थ :– इस श्लोक का विशेष भाव समझने के लिए समयसार गाथा १४ तथा १९ और उसकी टीका बारीकी से अवश्य देखें।

आत्मा में स्वभाव से वर्णादि का अभाव –

वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-शब्द-देहेन्द्रियादयः।
चेतनस्य न विद्यन्ते निसर्गेण कदाचन॥५३॥

अन्वय :– चेतनस्य वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-शब्द-देह-इन्द्रियादयः निसर्गेण कदाचन (अपि) न विद्यन्ते।

सरलार्थ :– चेतन आत्मा में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, देह, इन्द्रियाँ इत्यादिक स्वभाव से किसी समय भी विद्यमान नहीं होते।

भावार्थ :– चेतन आत्मा का स्वभाव मात्र जानना है। मोह-राग-द्वेष भावरूप विभाव भाव भी आत्मा का स्वभाव नहीं, तब स्पर्शादि कोई भी पर्याय आत्मा में कैसे हो सकती है? इस विषय की विस्तृत जानकारी के लिये समयसार गाथा ५० से ५५ तथा उनकी टीका मननीय है; जिसमें आत्मा के स्पर्शादि २९ भाव नहीं है; यह तर्क सहित स्पष्ट किया है।

शरीरसंयोग से वर्णादिक शुद्धात्मा के कहे जाते हैं –

शरीर-योगतः सन्ति वर्ण-गन्ध-रसादयः।
स्फटिकस्येव शुद्धस्य रक्त-पुष्पादि-योगतः॥५४॥

अन्वय :– रक्त-पुष्पादियोगतः शुद्धस्य स्फटिकस्य इव (शुद्धात्मनः) वर्ण-गन्ध-रसादयः शरीरयोगतः सन्ति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :– जैसे शुद्ध अर्थात् श्वेत स्फटिक मणि के लाल, पीले, हरे आदि पुष्पों के संयोग/निमित्त से लाल, पीले, हरे आदि रंग देखे जाते हैं; वैसे शरीर के संयोग से शुद्धात्मा के वर्ण, गंध, रस आदि कहे जाते हैं।

भावार्थ :– इस श्लोक का मर्म समझने के लिये समयसार गाथा ५६ और ५७ टीका सहित पठनीय है, जो निम्नानुसार हैं :–

''अब शिष्य पूछता है कि यदि यह वर्णादिक भाव जीव के नहीं हैं तो अन्य सिद्धान्त ग्रन्थों में ऐसा कैसे कहा गया है कि 'वे जीव के हैं' ? इसका उत्तर गाथारूप में कहते हैं –

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स॥

गाथार्थ – यह वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त जो भाव कहे गये हैं वे व्यवहारनय से तो जीव के हैं (इसलिए सूत्र में कहे गये हैं); किन्तु निश्चयनय के मत में उनमें से कोई भी जीव के नहीं हैं।

टीका – यहाँ, व्यवहारनय पर्यायाश्रित होने से, सफेद रुई से बना हुआ वस्त्र जो कि कुसुम्बी (लाल) रंग से रंगा हुआ है। ऐसे वस्त्र के औपाधिक भाव (लाल रंग) की भाँति, पुद्गल के संयोगवश अनादि काल से जिसकी बंधपर्याय प्रसिद्ध है ऐसे जीव के औपाधिक भाव (वर्णादिक) का अवलम्बन लेकर प्रवर्तमान होता हुआ (वह व्यवहारनय) **दूसरे के भाव को दूसरे का कहता है और निश्चयनय द्रव्याश्रित होने से, केवल एक जीव के स्वाभाविक भाव का अवलम्बन लेकर प्रवर्तमान होता हुआ, दूसरे के भाव को किंचित्मात्र भी दूसरे का नहीं कहता, निषेध करता है।** इसलिए वर्ण से लेकर गुणस्थान पर्यन्त जो भाव हैं, वे व्यवहारनय से जीव के हैं और निश्चयनय से जीव के नहीं हैं – ऐसा (भगवान का स्याद्वादयुक्त) कथन योग्य है।''

''अब फिर शिष्य पूछता है कि वर्णादिक निश्चय से जीव के क्यों नहीं हैं ? इसका कारण कहिए। इसका उत्तर गाथारूप से कहते हैं –

एदेहिं य सम्बन्धो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
ण य होंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा॥

गाथार्थ – इन वर्णादिक भावों के साथ जीव का सम्बन्ध दूध और पानी का एकक्षेत्रावगाहरूप संयोगसम्बन्ध है, ऐसा जानना और वे उस जीव के नहीं हैं; क्योंकि जीव उनसे उपयोगगुण से अधिक हैं (वह उपयोग गुण के द्वारा भिन्न ज्ञात होता है)।

टीका – जैसे जलमिश्रित दूध का, जल के साथ परस्पर अवगाहस्वरूप सम्बन्ध होने पर भी, स्वलक्षणभूत दुग्धत्व गुण के द्वारा व्याप्त होने से दूध जल से अधिकपने से प्रतीत होता है; इसलिए, जैसा अग्नि का उष्णता के साथ तादात्म्यस्वरूप सम्बन्ध है, वैसा जल के साथ दूध का सम्बन्ध न होने से, निश्चय से जल, दूध का नहीं है; इसप्रकार वर्णादिक पुद्गलद्रव्य के परिणामों के साथ

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मिश्रित इस आत्मा का पुद्गलद्रव्य के साथ परस्पर अवगाहस्वरूप सम्बन्ध होने पर भी, स्वलक्षणभूत उपयोगगुण के द्वारा व्याप्त होने से आत्मा सर्व द्रव्यों से अधिकपने से (भिन्न) प्रतीत होता है; इसलिए जैसा अग्नि का उष्णता के साथ तादात्म्यस्वरूप सम्बन्ध है, वैसा वर्णादिक के साथ आत्मा का सम्बन्ध नहीं है, इसलिए निश्चय से वर्णादिक पुद्गलपरिणाम आत्मा के नहीं हैं।''

इस विषय के ही और भी अधिक स्पष्टीकरण हेतु समयसार गाथा ५८, ५९, ६० और ६२ टीका सहित देखकर पाठक अपनी जिज्ञासा शांत कर सकते हैं।

औदयिक भावों को जीव का स्वभाव मानने से आपत्ति –

राग-द्वेष-मद-क्रोध-लोभ-मोह-पुरस्सराः।
भवन्त्यौदयिका दोषाः सर्वे संसारिणः सतः॥५५॥
यदि चेतयितुः सन्ति स्वभावेन क्रुधादयः।
भवन्तस्ते विमुक्तस्य निवार्यन्ते तदा कथम्॥५६॥

अन्वय :– **संसारिणः सतः राग-द्वेष-मद-क्रोध-लोभ-मोह-पुरस्सराः सर्वे दोषाः औदयिकाः भवन्ति।**

यदि क्रुधादयः चेतयितुः स्वभावेन सन्ति तदा ते विमुक्तस्य भवन्तः कथं निवार्यन्ते ?

सरलार्थ :– संसारी जीव के जो राग-द्वेष-मद-क्रोध-लोभ-मोह आदि दोष होते हैं वे सब भाव कर्मों के उदय के निमित्त से होते हैं, अतः औदयिकरूप हैं, स्वभावरूप नहीं।

यदि क्रोधादिक दोषों का होना जीव के स्वभावस्वरूप माना जाय तो उन दोषों का मुक्त जीव के भी रहने/होने का निषेध कैसे किया जा सकता है? निषेध नहीं किया जा सकता; क्योंकि स्वभाव का कभी अभाव नहीं हो सकता।

भावार्थ :– यहाँ कर्मोदय के निमित्त से होनेवाले औदयिक भावों को जीव का स्वभाव नहीं है, यह बताया है।

गुणस्थानादि जीव नहीं हैं –

गुणजीवादयः सन्ति विंशतिर्याः प्ररूपणाः।
कर्मसंबंधनिष्पन्नास्ता जीवस्य न लक्षणम्॥५७॥

अन्वय :– **याः गुणजीवादयः विंशतिः प्ररुपणाः ताः कर्मसम्बन्धनिष्पन्नाः जीवस्य लक्षणं न सन्ति।**

सरलार्थ :– गुणस्थान, जीवसमास, मार्गणास्थान आदि बीस प्ररूपणाएँ जीव के कर्म-संबंध से उत्पन्न होनेवाले भाव हैं, वे शुद्ध जीव के लक्षण नहीं हैं।

भावार्थ :– गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा और चौदह मार्गणाएँ एवं उपयोग –

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इन सबको बीस प्ररूपणा कहते हैं। सामान्य और विशेष की अपेक्षा गुणस्थानादि बीसों में पर्याप्त और अपर्याप्त विशेषणों से विशेषित करके जीवों की जो परीक्षा की जाती है, उसे प्ररूपणा कहते हैं।

प्ररूपणाओं का कथन षट्खंडागम, गोम्मटसार, पंचसंग्रह आदि करणानुयोग के बड़े-बड़े ग्रंथों में विस्तार के साथ किया है। यहाँ द्रव्यानुयोग में प्ररुपणाएँ शुद्धजीव का लक्षण नहीं है; यह बता रहे हैं। इस कथन की हमें यथायोग्य विवक्षा स्वीकार करना चाहिए। **विस्तार में जाना आगम है और समेटना अर्थात् संक्षेप में आत्मस्वरूप को समझना अध्यात्म है।** अतः यहाँ जीवतत्त्व का हमें ज्ञान तथा श्रद्धान करना है; इसलिए समेटने का काम करना आवश्यक है। बीस प्ररूपणाएँ जीव का लक्षण नहीं हैं, जीव का लक्षण तो मात्र जानना है, ऐसा आचार्य अमितगति यहाँ समझा रहे हैं।

क्षायोपशमिक ज्ञानादि भाव शुद्धजीव का स्वरूप नहीं –

क्षायोपशमिकाः सन्ति भावा ज्ञानादयोऽपि ये।
स्वरूपं तेऽपि जीवस्य विशुद्धस्य न तत्त्वतः॥५८॥

अन्वय :– ये ज्ञानादयः अपि क्षायोपशमिकाः भावाः ते अपि विशुद्धस्य जीवस्य तत्त्वतः स्वरूपं न सन्ति ।

सरलार्थ :– जो ज्ञानादिक गुणों की क्षायोपशमिक भावरूप पर्यायें/अवस्थाएँ हैं; वे सभी निश्चयनय की अपेक्षा से शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं हैं।

भावार्थ :– इस श्लोक में आचार्य क्षायोपशमिक ज्ञानादिक भावों/परिणामों को शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं है; ऐसा बता रहे हैं।

मात्र चार घाति कर्मों में ही क्षयोपशम घटित होता है, अन्य कर्मों में नहीं। ज्ञान, दर्शन और दानादि पाँच लब्धि के लिये कर्मों का क्षयोपशम अज्ञानी और ज्ञानी – दोनों को होता है। मोहनीय कर्म में क्षयोपशम मात्र साधक जीवों के ही होता है। इनका भी यहाँ शुद्ध जीव के स्वरूप में निषेध किया है।

इस विषय को समयसार में गाथा ५० से ६८ पर्यंत १८ गाथाओं में अनेक युक्तियों एवं तर्कों से स्पष्ट किया गया है। इतना ही नहीं पंडित श्री जयचंदजी छाबडा ने भी भावार्थ में प्रश्नोत्तर द्वारा इसे और भी स्पष्ट किया है।

वहाँ द्रव्यकर्म, भावकर्म तथा नोकर्मों के २९ परिणामों को जीव के नहीं हैं, यह एकसाथ बताया है। एक अपेक्षा से जीव-अजीवाधिकार का मर्म ही इस प्रकरण में समाहित है। इसे ही आचार्य अमितगति ने श्लोक ५३ से ५८ पर्यंत मात्र ६ श्लोक में बताने का सफल प्रयास किया है। इसलिए पाठकों से निवेदन हैं कि इस विषय के मर्म को समझने के लिये समयसार के उक्त प्रकरण को समग्र रूप से जरूर देखें। साथ ही गाथा ४९ और उसकी समग्र टीका भी देखना न भूलें।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निज शुद्धात्मा के ध्यान से मुक्ति –

(मालिनी)

गलित-निखिल-राग-द्वेष-मोहादि-दोषः
सततमिति विभक्तं चिन्तयन्नात्मतत्त्वम्।
गतमलमविकारं ज्ञान-दृष्टि-स्वभावं
जनन-मरण-मुक्तं मुक्तिमाप्नोति योगी॥५९॥

अन्वय :– गतमलं अविकारं जनन-मरण-मुक्तं विभक्तं ज्ञान-दृष्टि-स्वभावं इति आत्मतत्त्वं सततं चिन्तयन् गलित-निखिल-राग-द्वेष-मोहादि-दोषः योगी मुक्तिं आप्नोति।

सरलार्थ :– जो ज्ञानावरणादि कर्मरूपी मल से रहित है, रागादि विकारी भावों से शून्य है, जन्म-मरण से मुक्त है और विभक्त अर्थात् परपदार्थों से भिन्न ज्ञान-दर्शन स्वभावमय है – ऐसे निजात्म तत्त्व को सतत अर्थात् निरंतर ध्याता हुआ जो योगी पूर्णतः राग-द्वेष-मोह आदि दोषों से रहित हो जाता है, वह मुक्ति को प्राप्त करता है।

भावार्थ :– इस श्लोक में तीन विषयों को आचार्य ने स्पष्ट किया है :–

प्रथम विषय है – आत्मतत्त्व का अनादि-अनंत शुद्ध स्वरूप, जिसका ध्यान योगी को करना चाहिए। इसतरह आत्मतत्त्व का स्वरूप समयसार, नियमसार परमात्मप्रकाश, योगसार, समाधिशतक, इष्टोपदेश आदि ग्रंथों में भी बताया है; मुमुक्षु को इसे प्रथम जानना आवश्यक है।

दूसरा विषय – साधक योगी शुद्धात्मा के ध्यान से जैसे हो जाते हैं, वैसा उनका स्वरूप स्पष्ट किया है। आत्मध्यान से साधक योगी वीतराग होते हैं अर्थात् मुक्ति प्राप्त करने योग्य हो जाते हैं।

तीसरा विषय – साधक का साध्य पूर्ण वीतरागता प्राप्त हो जाने के बाद भी पुनः अंतर्मुहूर्त शुद्धात्मा का ध्यान करते रहने पर केवलज्ञान प्राप्त करके सकल परमात्मा बन जाते हैं। सकल परमात्मा को ही अरहंत कहते हैं। तदनंतर यथायोग्य काल में शेष चार अघाति कर्मों का क्षय करके सिद्धावस्था अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है।

इसतरह एक ही श्लोक में आत्मस्वरूप, उसकी साधना और साध्य मुक्ति को बताकर जीवाधिकार का मर्म अर्थात् पूर्ण प्रयोजन स्पष्ट किया है।

इसप्रकार श्लोक क्रमांक १ से ५९ पर्यन्त ५९ श्लोकों में यह प्रथम 'जीव-अधिकार' पूर्ण हुआ।

●●●

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

२

अजीव-अधिकार

अजीव द्रव्यों के नाम –

धर्माधर्म-नभः-काल-पुद्गलाः परिकीर्तिताः।
अजीवा जीवतत्त्वज्ञैर्जीवलक्षणवर्जिताः॥६०॥

अन्वय :– **जीवतत्त्वज्ञैः धर्म-अधर्म-नभः-काल-पुद्गलाः जीवलक्षणवर्जिताः अजीवाः परिकीर्तिताः।**

सरलार्थ :– जीवतत्त्व के ज्ञाता अर्थात् आत्मज्ञ अरहंत, आचार्य आदि साधक जीवों ने धर्म, अधर्म, आकाश, काल एवं पुद्गल – इन पाँच द्रव्यों को जीवद्रव्य के लक्षण से रहित होने के कारण अजीव द्रव्य कहा है।

भावार्थ :– जीव द्रव्य का लक्षण उपयोग अर्थात् जानना-देखना है – यह जीवाधिकार में बताया है। अब इस अजीवाधिकार में अजीवतत्त्व का वर्णन करते हुए प्रारंभ में ही पाँचों अजीवद्रव्यों के नाम बताये हैं। जीव द्रव्य का चेतना लक्षण जिनमें नहीं है, उनको समूहरूप से अजीव कहते हैं। ये पाँचों द्रव्य अपने-अपने भिन्न-भिन्न लक्षणों के कारण भिन्न-भिन्न ही द्रव्य हैं। प्रत्येक का लक्षण आगे यथास्थान ग्रंथकार स्वयमेव बतानेवाले हैं।

अजीव द्रव्यों की स्वतंत्रता –

अवकाशं प्रयच्छन्तः प्रविशन्तः परस्परम्।
मिलन्तश्च न मुञ्चन्ति स्व-स्वभावं कदाचन॥६१॥

अन्वय :– **(ते अजीवाः) परस्परं अवकाशं प्रयच्छन्तः, प्रविशन्तः, च मिलन्तः स्व-स्वभावं कदाचन न मुञ्चन्ति।**

सरलार्थ :– धर्म, अधर्म, आकाश, काल एवं पुद्गल – ये पाँचों अजीव द्रव्य एक-दूसरे को जगह/अवगाह देते हुए और एक-दूसरे में प्रवेश करते हुए, तथा एक दूसरे में मिलते हुए भी अपने-अपने स्वभाव को कभी नहीं छोड़ते।

भावार्थ :– यहाँ प्रकरण अजीव का होने से केवल अजीव द्रव्यों की चर्चा की है, लेकिन वस्तुतः छहों द्रव्य परस्पर में प्रवेश करते हैं, मिलते हैं; लेकिन अपना-अपना स्वभाव कभी नहीं छोड़ते। इसीप्रकार का भाव पंचास्तिकायसंग्रह गाथा-७ में भी आया है।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रश्न – अवगाह देने का काम तो मात्र आकाश का है और इस श्लोक में तो सभी द्रव्य एक-दूसरे को अवगाह देते हैं; ऐसा कहा है; यह कैसे?

उत्तर – आपका प्रश्न उचित है। उपकार के प्रकरण में प्रत्येक द्रव्य का भिन्न-भिन्न निमित्तसापेक्ष कार्य बताते समय व्यवहारनय से अवगाह देना आकाश का काम बताया है। यहाँ प्रत्येक द्रव्य एक-दूसरे को जगह/अवगाह देते हैं, यह स्पष्ट किया है, अतः विरोध नहीं है। अपेक्षा लगाकर समझने से समाधान होता है।

सब द्रव्यों में अवगाहनत्व गुण होता है – यह विषय कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २१४-२१५ में आया है।

अजीवद्रव्यों का विभाजन एवं मूर्तित्व का लक्षण –

अमूर्ता निष्क्रियाः सर्वे मूर्तिमन्तोऽत्र पुद्‌गलाः।
रूप-गन्ध-रस-स्पर्श-व्यवस्था मूर्तिरुच्यते ।।६२।।

अन्वय :– **अत्र पुद्‌गलाः मूर्तिमन्तः, (शेषाः) सर्वे (अजीवाः) अमूर्ताः निष्क्रियाः सन्ति। रूप-गन्ध-रस-स्पर्श-व्यवस्था मूर्तिः उच्यते।**

सरलार्थ :– धर्मादि इन पाँचों अजीव द्रव्यों में पुद्‌गल द्रव्य मूर्तिक है। शेष धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल ये चारों द्रव्य अमूर्तिक और निष्क्रिय हैं। वर्ण-गंध-रस-स्पर्श की व्यवस्था को मूर्तिक कहते हैं।

भावार्थ :– मूर्तिक को रूपी भी कहते हैं। जैसे तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवें अध्याय के सूत्र ५ में कहा है – **रूपिणः पुद्‌गलाः।** वैसे तो रूप शब्द का सामान्य अर्थ वर्ण है; लेकिन रूपी शब्द का अर्थ-स्पर्श, रस, गंध और वर्ण सहित द्रव्य होता है। पुद्‌गल मूर्तिक तो है ही और वह क्रियावान भी है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमन करने की शक्ति को क्रिया कहते हैं। पुद्‌गल एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमन करता है अतः क्रियावान है।

स्कन्धरूप पुद्‌गल में स्पर्शादि की पर्यायें इसप्रकार होती है – **स्पर्श के आठ भेद –** कोमल, कठोर, हल्का, भारी, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष। **रस के पाँच भेद –** खट्टा, मीठा, कड़वा, कसायला, चरपरा। **गंध के दो भेद –** सुगंध और दुर्गंध। **वर्ण के पाँच भेद –** लाल, पीला, काला, नीला, सफेद।

परमाणुरूप पुद्‌गल में उपर्युक्त २० में से मात्र पाँच ही पर्यायें होती हैं – जैसे आठ स्पर्श में से २ स्पर्श, पाँच रस में से एक रस, दो गंध में से एक गंध, पाँच वर्ण में से एक वर्ण। पंचास्तिकाय संग्रह गाथा ८१ में भी कहा है कि – "वह परमाणु एक रसवाला, एक वर्णवाला, एक गंधवाला, दो स्पर्शवाला है; शब्द का कारण है, अशब्द है और स्कन्ध के भीतर हो, तथापि परिपूर्ण स्वतंत्र द्रव्य है, ऐसा जानो।"

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

छहों की द्रव्यसंज्ञा –

जीवेन सह पञ्चापि द्रव्याण्येते निवेदिता:।
गुण-पर्ययवद्द्रव्यमिति लक्षण-योगत: ।।६३।।

अन्वय :– गुणपर्ययवद् द्रव्यम् इति लक्षणयोगत: जीवेन सह निवेदिता: एते पञ्च अपि (अजीवा:) द्रव्याणि (सन्ति)।

सरलार्थ :– जीव सहित ये पाँचों भी (अजीव द्रव्य) द्रव्य कहे गये हैं; क्योंकि ये सभी **गुणपर्ययवद्द्रव्यं** इस द्रव्य के लक्षण से सहित हैं।

भावार्थ :– गुणपर्यायवान को द्रव्य कहते हैं, यह लक्षण जीवादि छहों द्रव्यों में बराबर घटित होता है। यही तत्त्वार्थसूत्र के ५वें अध्याय के ३८वें सूत्र में भी इन्हीं शब्दों में कहा है।

आचार्य कुंदकुंद ने पंचास्तिकाय संग्रह की गाथा १० में भी द्रव्य का लक्षण निम्नानुसार दिया है –

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू।।

गाथार्थ – जो सत् लक्षणवाला है, जो उत्पादव्ययध्रौव्य संयुक्त है अथवा जो गुणपर्यायों का आश्रय है, उसे सर्वज्ञदेव द्रव्य कहते हैं।

प्रश्न – 'गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं' यह जैन सिद्धान्त प्रवेशिका में समागत लक्षण ठीक नहीं लगता है?

उत्तर – नहीं, यह लक्षण भी आगम व युक्ति सम्मत ही है। **पंचाध्यायी** के प्रथम अध्याय के ७३वें श्लोक में **गुणसमुदायो द्रव्यं** ऐसा कहा है।

युक्ति से भी यह लक्षण सही सिद्ध होता है; क्योंकि पर्यायें गुणों की ही तो होती हैं। गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं, ऐसा कहो अथवा गुणपर्यायों के समूह को द्रव्य कहते हैं, ऐसा कहो – दोनों का अर्थ/अभिप्राय एक ही है।

द्रव्य का व्युत्पत्तिपरक लक्षण और सत्तामय स्वरूप –

द्रूयते गुणपर्यायैर्यद्द् द्रवति तानथ।
तद् द्रव्यं भण्यते षोढा सत्तामयमनश्वरम्।।६४।।

अन्वय :– अथ गुणपर्यायै: यत् द्रूयते (यत्) तान् द्रवति तत् द्रव्यं भण्यते। (तत्) षोढ़ा, सत्तामयम्, अनश्वरम्।

सरलार्थ :– जो गुण-पर्यायों के द्वारा द्रवित होता है अथवा जो उन गुण-पर्यायों को द्रवित/प्रवाहित करता है, वह द्रव्य कहा जाता है। उक्त द्रव्य जीवादि छह भेदरूप हैं, सत्तासहित हैं और अविनश्वर अर्थात् कभी नष्ट न होनेवाले हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– इस श्लोक में द्रव्य का लक्षण व्याकरण सम्मत व्युत्पत्ति द्वारा स्पष्ट किया है। इसीप्रकार का अर्थ पंचास्तिकाय संग्रह गाथा ९में भी है – ''उन-उन सद्भाव पर्यायों को जो द्रवित होता है, प्राप्त होता है, उसे (सर्वज्ञ) द्रव्य कहते हैं, जो कि सत्ता से अनन्यभूत है।''

सर्व पदार्थगत सत्ता का स्वरूप –

ध्रौव्योत्पादलयालीढा सत्ता सर्वपदार्थगा।
एकशोऽनन्तपर्याया प्रतिपक्षसमन्विता ।।६५।।

अन्वय :– सत्ता ध्रौव्य-उत्पाद-लय-आलीढ़ा, एकशः सर्वपदार्थगा, अनन्तपर्याया, प्रतिपक्षसमन्विता (भवति)।

सरलार्थ :– सत्ता अर्थात् अस्तित्व ध्रौव्योत्पादव्ययात्मिका, एक से लेकर सब पदार्थों में व्यापनेवाली, अनन्त पर्यायों को धारण करनेवाली और विरुद्ध पक्ष सहित अर्थात् असत्ता आदि के साथ विरोध न रखनेवाली होती है।

भावार्थ :– द्रव्य के सत्तारूप/अस्तित्वमय स्वभाव में उत्पाद और ध्रौव्य तो सत्स्वरूप हैं ही; लेकिन लय अर्थात् द्रव्य का व्ययरूप अंश भी सत्स्वरूप ही है। जिनेन्द्र प्रणीत वस्तु-व्यवस्था में अभाव भी सर्वथा अभावरूप अर्थात् तुच्छाभावरूप न होकर कथंचित् अभावरूप अथवा भावान्तर अभावरूप होता है।

आचार्य कुंदकुंद और अमृतचंद्र ने पंचास्तिकाय गाथा ८ एवं उसकी टीका में और प्रवचनसार गाथा ९६, ९७ तथा इनकी टीका में स्वरूप अस्तित्व (अवान्तर सत्ता)/सादृश्य अस्तित्व (महासत्ता) को विस्तार से समझाया है। उक्त विषय को ही आचार्य अमितगति मात्र एक ही श्लोक में बताने का प्रयास कर रहे हैं। अतः पाठकों से निवेदन है कि वे पंचास्तिकाय संग्रह और प्रवचनसार के उल्लेखित अंश को अवश्य पढ़ें। विस्तार भय से यहाँ नहीं दिया है।

द्रव्य के सप्रतिपक्षपने को पंचाध्यायी ग्रंथ में भी श्लोक नं. २०, २१, २२ में स्पष्ट किया है।

द्रव्य का उत्पाद-व्यय, पर्याय अपेक्षा से –

नश्यत्युत्पद्यते भावः पर्यायापेक्षयाखिलः।
नश्यत्युत्पद्यते कश्चिन्न द्रव्यापेक्षया पुनः ।।६६।।

अन्वय :– अखिलः भावः पर्याय-अपेक्षया नश्यति उत्पद्यते। पुनः द्रव्य-अपेक्षया न कश्चित् नश्यति (न) उत्पद्यते।

सरलार्थ :– द्रव्य समूह को पर्याय की अपेक्षा से देखा जाय तो द्रव्य नष्ट होता है और द्रव्य ही उत्पन्न भी होता है ;परन्तु अनादि-अनंत अर्थात् अविनाशी द्रव्य की अपेक्षा से देखा जाय तो कोई भी द्रव्य न नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है।

भावार्थ :– आचार्य कुंदकुंद भी पंचास्तिकाय संग्रह की ११वीं गाथा में इसी भाव को स्पष्ट

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

करते हुए कहते हैं –''द्रव्य का उत्पाद या विनाश नहीं हैं; सद्भाव है। उसी की पर्यायें विनाश, उत्पाद और ध्रुवता करती है।''

जिनेन्द्रकथित वस्तुव्यवस्था में अपेक्षाओं का मधुर सम्मेलन है। अपेक्षा बदलते ही अर्थ बदल जाता है।

प्रवचनसार शास्त्र में गाथा ९९ से १०४ पर्यंत ६ गाथाओं में उत्पाद आदि का कथन अलग-अलग अपेक्षाओं से आया है, जो मूलतः पठनीय है। प्रवचनसार के ज्ञेयाधिकार को आचार्य जयसेन ने सम्यक्त्वाधिकार कहा है; क्योंकि वस्तुव्यवस्था का स्पष्ट यथार्थ बोध हुए बिना जीव सम्यग्दर्शन का अधिकारी नहीं हो सकता। इससे जिनधर्म में वस्तु-व्यवस्था के ज्ञान को विशेष महत्व दिया गया है, यह स्पष्ट समझ में आता है।

द्रव्य के साथ गुण-पर्यायों का अविनाभावी संबंध –

किंचित् संभवति द्रव्यं न विना गुण-पर्ययैः।
संभवन्ति विना द्रव्यं न गुणा न च पर्ययाः॥६७॥

अन्वय :– किंचित् द्रव्यं गुण-पर्ययैः विना न संभवति। गुणाः च पर्यायाः द्रव्यं विना न संभवन्ति।

सरलार्थ :– कोई भी द्रव्य, गुण तथा पर्यायों के बिना नहीं हो सकता और गुण अथवा पर्यायें द्रव्य के बिना नहीं हो सकते।

भावार्थ :– पंचास्तिकाय की गाथा १२ एवं १३ को आचार्य अमितगति ने इस श्लोक में समेटने का प्रयास किया है। आचार्य कुंदकुंद एवं आचार्य अमितगति के काल में एक हजार वर्ष का अन्तराल होने पर भी आचार्यों में न मतभेद है न कथन में अस्पष्टता है। इससे जिनवाणी की परम्परा कैसी अक्षुण्ण और अबाधित चली आ रही है, इसका स्पष्ट बोध होता है।

धर्मादि द्रव्यों की प्रदेश व्यवस्था –

धर्माधर्मैकजीवानां प्रदेशानामसंख्यया।
अवष्टब्धो नभोदेशः प्रदेशः परमाणुना॥६८॥

अन्वय :– परमाणुना अवष्टब्धः नभोदेशः प्रदेशः, धर्म-अधर्म-एक जीवानां प्रदेशानां (संख्या) असंख्यया।

सरलार्थ :– परमाणु से आकाश का एक प्रदेश घिरा हुआ है। धर्म, अधर्म और एक जीव, इन द्रव्यों के अर्थात् इन प्रत्येक द्रव्य के असंख्यात प्रदेशों से आकाश का स्थान अवरुद्ध अर्थात् घिरा हुआ है।

भावार्थ :– एक परमाणु अथवा कालाणु से व्याप्त आकाश के क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं। कालाणु एवं पुद्गल परमाणु का आकार (आकाश का क्षेत्र) समान ही होता है; अतः दोनों को मात्र एकप्रदेशी ही माना गया है। धर्म, अधर्म द्रव्य तथा एक जीव द्रव्य के प्रदेश असंख्यात होते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रश्न – अति सूक्ष्म निगोदिया आदि जीवों के प्रदेश असंख्यात कैसे हो सकते हैं?

उत्तर – मगरमच्छ एवं हाथी आदि महाकाय अथवा केवली समुद्घात करनेवाले जीवों के प्रदेश ही असंख्यात हो सकते हैं, अन्य सूक्ष्म संसारी जीवों के नहीं; ऐसा नहीं समझना चाहिए। सूक्ष्मातिसूक्ष्म निगोदिया जीव भी अपने शरीर द्वारा आकाश के असंख्यात प्रदेशों को ही घेरता है। एक प्रदेश कितना सूक्ष्म है, यह हम नहीं जानते, इसलिए ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है। तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५ के ७ तथा ११ वें सूत्रों में यह विषय आया है।

परमाणु का लक्षण –

द्रव्यमात्मादिमध्यान्तमविभागमतीन्द्रियम्।
अविनाश्यग्निशस्त्राद्यैः परमाणुरुदाहृतम्॥६९॥

अन्वय :– आत्मा-आदि-मध्य-अन्तं, अविभागं, अतीन्द्रियं, अग्नि-शस्त्राद्यैः अविनाशि द्रव्यं परमाणुः उदाहृतम्।

सरलार्थ :– जो स्वयं आदि, मध्य और अन्तरूप है अर्थात् जिसका आदि, मध्य और अन्त एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं; जिसका विभाजन खण्ड अथवा अंशविकल्प नहीं हो सकता; जो इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है और जो अग्नि-शस्त्र आदि से नाश को प्राप्त नहीं हो सकता – ऐसा पुद्गलरूप द्रव्य परमाणु कहा गया है।

भावार्थ :– इसी अर्थ को व्यक्त करनेवाली नियमसार की गाथा २६ को अवश्य देखिए।

आकाश एवं पुद्गल द्रव्यों के प्रदेशों की संख्या –

प्रदेशा नभसोऽ नन्ता अनन्तानन्तमानकाः।
पुद्गलानां जिनैरुक्ताः परमाणुरनंशकः॥७०॥

अन्वय :– जिनैः नभसः अनन्ताः पुद्गलानां अनंतानंत-मानकाः प्रदेशाः उक्ताः, परमाणुः अनंशकः।

सरलार्थ :– जिनेन्द्र देव ने आकाश द्रव्य के अनंत और पुद्गल द्रव्यों के अनन्तानन्त प्रदेश कहे हैं। उसीतरह पुद्गल परमाणु को अप्रदेशी अर्थात् एक प्रदेशी कहा है।

भावार्थ :– आकाश द्रव्य लोक एवं अलोक में व्याप्त रहता है, इसलिए आकाश के प्रदेश अनंत हैं; ऐसा स्वीकार करने में किसे भी कोई आपत्ति नहीं होती; परंतु पुद्गल के संबंध में शंका उपस्थित होती है कि असंख्यात-प्रदेशी लोकाकाश में अनंतानंत प्रदेशी पुद्गल द्रव्य का रहना कैसे सम्भव है?

उसका समाधान – पुद्गल द्रव्य अनंतानंतप्रदेशी होने पर भी असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में ही रहता है, इसके दो कारण हैं – प्रथम तो आकाश के एक प्रदेश में एक परमाणु को, संख्यात परमाणुओं को, असंख्यात परमाणुओं को एवं अनंत परमाणुओं को भी स्थान अर्थात् अवगाह देने की सामर्थ्य है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दूसरा कारण – एक पुद्गल परमाणु में भी अन्य संख्यात, असंख्यात एवं अनंतानंत परमाणुओं को स्थान देने की शक्ति है।

यदि आकाश के एक प्रदेश में एक ही परमाणु को स्थान देने की सामर्थ्य होती और पुद्गल परमाणु भी अन्य पुद्गलों को अपने में स्थान देने में असमर्थ होता तो असंख्यातप्रदेशी लोकाकाश में असंख्यातप्रदेशी पुद्गल द्रव्य ही रह सकते थे।

प्रश्न – लोकाकाश में असंख्यातप्रदेशी पुद्गल ही हैं; ऐसा मानने में क्या आपत्ति है?

उत्तर – प्रत्यक्ष में ही विरोध का प्रसंग आता है।

प्रश्न – कैसे?

उत्तर – पुस्तक, पेन, टेबल, कुर्सी, कागज ये पुद्गल स्कन्ध अनंत-अनंत परमाणुओं के पिण्ड हैं, यह स्पष्ट समझ में आ रहा है। अतः प्रत्यक्ष ज्ञात वस्तु-स्वरूप के विरोध का प्रसंग आयेगा। इसलिए असंख्यात-प्रदेशी लोकाकाश में अनंतानन्तप्रदेशी पुद्गल का अवगाह मानना शास्त्र सम्मत, युक्ति एवं सांव्यवहारिक ज्ञान प्रमाण से प्रमाणित है। तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५ सूत्र ९ एवं ११ में यही भाव स्पष्ट होता है।

कालद्रव्य की संख्या एवं उसकी व्यापकता –

असंख्या भुवनाकाशे कालस्य परमाणवः।
एकैका व्यतिरिक्तास्ते रत्नानामिव राशयः ॥७१॥

अन्वय :– **भुवनाकाशे कालस्य असंख्याः परमाणवः (सन्ति) ते रत्नानां राशयः इव एकैकाः व्यतिरिक्ताः (भवन्ति)।**

सरलार्थ :– लोकाकाश में कालद्रव्य के असंख्यात परमाणु (कालाणु) स्थित हैं। वे कालाणु रत्नराशि समान एक-एक एवं भिन्न-भिन्न अर्थात् लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित हैं।

भावार्थ :– आचार्य ने कालाणु को अर्थात् कालद्रव्य को परमाणु कहा है; क्योंकि पुद्गल का परमाणु और कालद्रव्य – इन दोनों का आकार (आकाशप्रदेश) समान है, यही एक कारण है, अन्य कुछ नहीं।

प्रश्न – ग्रंथों में कालद्रव्य को समझाने के लिये रत्नों की राशि के समान यह एक ही एक दृष्टान्त ग्रन्थकार क्यों देते हैं? अन्य दृष्टान्त के साथ विस्तारपूर्वक क्यों नहीं समझाते?

उत्तर – जिनवाणी में कालादि अजीव का कथन जीव द्रव्यों को समझाने के प्रयोजन से ही किया जाता है। ज्ञानानंद के पिपासु विरक्त साधुओं को मात्र निज भगवान आत्मा के स्वरूप के उपदेश में एवं यथार्थ वस्तु-व्यवस्था के कथन में ही आनंद आता है। प्रसंगप्राप्त अजीवद्रव्यों का मात्र अत्यावश्यक कथन करते हैं। जिनवाणी के कथन का मुख्य केन्द्र बिन्दु तो मात्र एक जीवतत्त्व अर्थात् भगवान आत्मा ही है; इसलिए कालद्रव्य को समझाने के लिये नये-नये दृष्टान्त न देकर एक

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ही बुद्धिगम्य दृष्टान्त से संक्षेप में ही कथन किया है। द्रव्यसंग्रह गाथा २२ में एवं गोम्मटसार गाथा ५८८ में यही भाव स्पष्टरूप से दिया है।

धर्म, अधर्म और पुद्गलद्रव्य की व्यापकता –

धर्माधर्मौ स्थितौ व्याप्य लोकाकाशमशेषकम्।
व्योमैकांशादिषु ज्ञेया पुद्गलानामवस्थितिः ॥७२॥

अन्वय :– धर्माधर्मौ अशेषकं लोकाकाशं व्याप्य स्थितौ (स्तः)। पुद्गलानां अवस्थितिः व्योम-एक-अंशादिषु ज्ञेया।

सरलार्थ :– धर्म, अधर्म-दोनों द्रव्य संपूर्ण लोकाकाश में व्यापकर तिष्ठते हैं। पुद्गलों का अवस्थान/व्यापकता आकाश द्रव्य के एक आदि अंश अर्थात् एक प्रदेश से लेकर दो, तीन, चार आदि प्रदेश बढ़ाते हुए संपूर्ण लोकाकाश में जानना चाहिए।

भावार्थ :– धर्म और अधर्म ये दो द्रव्य तो सारे लोकाकाश में व्याप्त होकर स्थित हैं। लोकाकाश का कोई भी प्रदेश ऐसा नहीं, जो इनसे व्याप्त न हो। इनमें से प्रत्येक की प्रदेशसंख्या असंख्यात होने से लोकाकाश भी असंख्यातप्रदेशी है; यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है। पुद्गलों की अवस्थिति लोक के एक प्रदेश से लेकर संख्यात असंख्यात प्रदेशों पर्यंत है। तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र १२, १३, १४ में यही भाव आया है।

संसारी जीवों की लोकाकाश में व्यापकता –

लोकासंख्येयभागादाववस्थानं शरीरिणाम्।
अंशा विसर्प-संहारौ दीपानामिव कुर्वते ॥७३॥

अन्वय :– शरीरिणां अवस्थानं लोक-असंख्येयभागादौ (भवति)। (संसारी जीवानां) अंशाः दीपानां इव विसर्प-संहारौ कुर्वते।

सरलार्थ :– शरीरधारी संसारीजीव की व्यापकता लोकाकाश के असंख्येय भागादिकों में अर्थात् लोकाकाश के असंख्यातवें भाग में होती है। संसारी जीवों के प्रदेश शरीर के आकारानुसार दीपकों के प्रकाश के समान संकोच-विस्तार करते रहते हैं।

भावार्थ :– लोकाकाश का असंख्यातवाँ भाग असंख्यात प्रदेशी है और पूर्ण लोकाकाश के प्रदेश भी असंख्यात हैं; यह विषय समझना यहाँ महत्त्वपूर्ण है।

पहले संख्यात और असंख्यात की परिभाषा जानना आवश्यक है। जो संख्या पाँचों इन्द्रियों का अर्थात् मति-श्रुतज्ञान का विषय हो, उसे संख्यात कहते हैं। उसके अनेक अर्थात् संख्यात भेद हैं। जैसे-२ यह जघन्य संख्या है। १००, २००, १०००, ५०००, ५ लाख, ५ करोड, अरब, खरब, नील, महानील आदि संख्या के संख्यात भेद हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अवधिज्ञानगम्य संख्या को असंख्यात कहते हैं। जिनकी गिनती न हो सके, उसे असंख्यात कहते हैं। संख्यातीत संख्या को असंख्यात कहते हैं। इसके भी असंख्यात भेद होते हैं। इस कारण लोकाकाश के असंख्यातवें भाग में भी आकाश के असंख्यात प्रदेश रहते हैं और पूर्ण लोकाकाश के प्रदेश भी असंख्यात ही होते हैं। अतः इसमें विरोध नहीं है। कितना भी सूक्ष्म शरीरधारी जीव हो तो भी उसके शरीर के प्रदेश असंख्यात ही होते हैं, यह आगम के अनुसार मानना चाहिए।

संसारी जीव के प्रदेशों में दीपक के प्रकाश के समान संकोच और विस्तार होता है, मुक्त जीवों में नहीं; क्योंकि यह संकोच-विस्तार कर्म के निमित्त से होता है और मुक्तात्माओं में कर्मों का अभाव है। तत्त्वार्थसूत्र के अध्याय ५ के सूत्र १५, १६ में यही भाव आया है। जैसा कि तत्त्वानुशासन के १३२वें श्लोक में कहा है :–

पुंसः संहार-विस्तारौ संसारे कर्म-निर्मितौ।
मुक्तौ तु तस्य तौ न स्तः क्षयात्तद्धेतु-कर्मणाम्॥

धर्मादि द्रव्यों का उपकार –

जीवानां पुद्गलानां च धर्माधर्मौ गतिस्थिती।
अवकाशं नभः कालो वर्तनां कुरुते सदा॥७४॥

अन्वय :– धर्म-अधर्मौ जीवानां पुद्गलानां गति-स्थिती, नभः अवकाशं, कालः वर्तनां सदा कुरुते।

सरलार्थ :– धर्मद्रव्य, जीव और पुद्गलों को गमन करने में सदा उपकार करता है। अधर्मद्रव्य, जीव और पुद्गलों को स्थिर रहने में सदा उपकार करता है। आकाशद्रव्य जीवादि सर्व द्रव्यों को जगह/स्थान देने में सदा उपकार करता है। कालद्रव्य जीवादि सर्व द्रव्यों को परिवर्तन करने/बदलने में सदा उपकार करता है।

भावार्थ :– इस श्लोक में उपकार शब्द तो आया नहीं, आपने उपकार शब्द कहाँ से और कैसे लिया? ऐसी शंका करनेवालों को आगामी श्लोक को देखना चाहिए। उसमें उपकार शब्द का प्रयोग किया है। अतः यहाँ अर्थ करने के लिए अनुकूल जानकर हमने भी जोड दिया है, ऐसा ही अर्थ अन्य आगम ग्रन्थों में अनेक स्थान पर किया है, यह सर्व आगमाभ्यासी जानते हैं।

उपकार शब्द मात्र भलाई के अर्थ में नहीं लेना चाहिए। उपकार शब्द का अर्थ निमित्त ही लेना आवश्यक है। पण्डित जयचंदजी छाबडा ने सर्वार्थसिद्धि वचनिका में (तत्त्वार्थसूत्र के अध्याय ५, सूत्र १९ की टीका में) उपकार शब्द का अर्थ निमित्त ही किया है। अन्य ग्रन्थ में भी इस ही प्रकार अर्थ किया/दिया है।

तत्त्वार्थसूत्र की टीका-सर्वार्थसिद्धि में अध्याय ५, सूत्र २२ की टीका करते समय आचार्य पूज्यपाद ने उपकार का अर्थ निमित्त ही लिया है। जैसे – **निमित्तमात्रेऽपि हेतुकर्तृ व्यपदेशः।**

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रश्न – धर्म और अधर्म द्रव्य मात्र जीव-पुद्गलों का ही उपकार क्यों करते हैं, अन्य चार द्रव्यों का क्यों नहीं?

उत्तर – जो गमन और स्थिर रहने का कार्य स्वयं करते हैं, उनका ही तो उपकार करेंगे। अन्य धर्मादि चार द्रव्य गमन करते ही नहीं अर्थात् नित्य स्थित हैं, उनका उपकार कैसे कर पायेंगे?

जैसे समझनेवाले को ही समझाया जा सकता है, नहीं समझनेवाले को समझाना संभव ही नहीं है; अतः समझानेवाला मात्र समझनेवालों को ही समझने में निमित्त हो सकता है। उसीप्रकार क्रियावतीशक्ति के कारण मात्र जीव व पुद्गल ही गति-स्थिति कर सकते हैं, अतः धर्म-अधर्म द्रव्य इन दो ही द्रव्यों की गति-स्थिति में निमित्त होते हैं/उपकार करते हैं।

प्रश्न – आकाश और काल द्रव्य सर्व द्रव्यों का उपकार करते हैं; ऐसा अर्थ कैसे किया? श्लोक में तो ऐसे शब्द आये नहीं।

उत्तर – आकाश और कालद्रव्य किन द्रव्यों का उपकार करते हैं – इसका उल्लेख श्लोक में नहीं है, अतः अन्य शास्त्रों के आधार से जो आगमसम्मत व वस्तुव्यवस्था के अनुरूप अर्थ है, वही किया है।

जीव का उपकार –

संसारवर्तिनोऽन्योन्यमुपकारं वितन्वते।
मुक्तास्तद्व्यतिरेकेण न कस्याप्युपकुर्वते।।७५।।

अन्वय :– **संसारवर्तिन: (जीवा:) अन्योन्यं उपकारं वितन्वते। मुक्ता: (जीवा:) तद् व्यतिरेकेण कस्यापि न उपकुर्वते।**

सरलार्थ :– संसारवर्ती/राग-द्वेष विकारों से अथवा आठ कर्मों से सहित जीव परस्पर एक-दूसरे का उपकार करते हैं अर्थात् सुख-दुख, जीवन-मरण आदि में परस्पर निमित्त होते हैं। मुक्त/सिद्ध जीव संसार से भिन्न होने के कारण किसी का भी उपकार नहीं करते हैं।

भावार्थ :– मुक्त/सिद्ध जीव के राग-द्वेष परिणामों का अभाव होने के कारण वे वीतरागी बन गये हैं, अतः उन्हें किसी जीव के उपकार का भाव आ ही नहीं सकता। इसकारण वे किसी को भी निमित्त नहीं बनते, यह बात यद्यपि सही है; तथापि दूसरी यह भी एक विवक्षा है कि संसारीजीव द्वारा उन मुक्त जीवों का ध्यान करने पर सिद्ध जीवों में निमित्तपना बन सकता है। इसी प्रकार का भाव समयसार ग्रंथ की मंगलाचरण की टीका लिखते समय अमृतचंद्राचार्य ने स्पष्ट किया है –

''वे सिद्ध भगवान सिद्धत्व के कारण साध्य जो आत्मा उसके प्रतिछंद के स्थान पर हैं, जिनके स्वरूप का संसारी भव्य जीव चिंतवन करके उनके समान अपने स्वरूप को ध्याकर उन्हीं के समान हो जाते हैं और चारों गतियों से विलक्षण पंचमगति/मोक्ष को प्राप्त करते हैं।'' संसारी जीव के उपकारसंबंधी विषय तत्त्वार्थसूत्र के अध्याय ५ के सूत्र २१ में आया है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पुद्गल का उपकार –

जीवितं मरणं सौख्यं दुःखं कुर्वन्ति पुद्गलाः।
उपकारेण जीवानां भ्रमतां भवकानने।।७६।।

अन्वय :– पुद्गलाः भवकानने भ्रमतां जीवानाम् उपकारेण जीवितं, मरणं, सौख्यं, दुःखं कुर्वन्ति।

सरलार्थ – संसाररूपी वन में भ्रमण करनेवाले जीवों पर पुद्गल अपने निमित्त से जीवन, मरण, सुख तथा दुःखरूप उपकार करते हैं अर्थात् जीवों के इन कार्यरूप परिणमन में पुद्गल निमित्त होते हैं।

भावार्थ – जब जीव द्रव्य अपनी योग्यता से/उपादान से अर्थात् अपने ही कारण जीवन, मरण, सुख, दुखरूप परिणत होता है, उस समय जिस पुद्गल पर अनुकूलता का आरोप आता है, उस पुद्गल का जीव पर उपकार हुआ, ऐसा व्यवहार चलता है, उसे ही पुद्गल ने जीव पर उपकार किया; ऐसा कथन जिनवाणी में आता है।

उपकार शब्द से मात्र अनुकूल अथवा अच्छे कार्य में सहयोगी होना, इतना ही अर्थ नहीं करना; क्योंकि इसी श्लोक में सुख में और दुख में तथा जीवन में और मरण में पुद्गल का उपकार होता है – ऐसा कहा है; इससे ही सब विषय स्पष्ट हो जाता है। यह विषय तत्त्वार्थसूत्र के अध्याय ५ के सूत्र १९ एवं तत्त्वार्थसार अध्याय ३, श्लोक ३१ में भी आया है।

कोई किसी का कभी कोई कार्य करता ही नहीं –

पदार्थानां निमग्नानां स्वरूपं परमार्थतः।
करोति कोऽपि कस्यापि न किंचन कदाचन।।७७।।

अन्वय :– परमार्थतः स्वरूपं निमग्नानां पदार्थानां कः अपि कस्य अपि कदाचन किंचन (अपि) न करोति।

सरलार्थ :– सर्व पदार्थ अपने-अपने स्वभाव में मग्न/लीन हैं; इसकारण निश्चयनय से कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ का कुछ भी कार्य कभी भी नहीं कर सकता।

भावार्थ :– छहों द्रव्यों के उपकार के प्रकरण के बाद इस श्लोक द्वारा आचार्य ने यह स्पष्ट किया है कि अभी हमने जो उपकार का कथन किया, वह सब निमित्त की मुख्यता से किया गया व्यवहार का कथन है। निश्चयनय से कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ का कुछ भी कार्य नहीं कर सकता। तथापि जिन्हें यह सत्य कथन मान्य नहीं करना है, वे अनेक प्रकार की शंकाएँ उपस्थित करते हैं; जो अनुचित है।

प्रश्न – निश्चयनय से कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता; लेकिन व्यवहार से तो कर सकता है ना?

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उत्तर – भाई ! व्यवहार से एक द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के परिवर्तन में निमित्त होता है, यह कहकर निमित्त का मात्र ज्ञान कराया है – कोई किसी का कुछ कर सकता है, इसका समर्थन नहीं किया है। व्यवहार से कर सकता है – ऐसा उपचार से कहा जाता है – इसका अर्थ निश्चय से नहीं कर सकता है; तथापि कर सकने का कथन लोक-व्यवहार में चलता है; ऐसा समझना चाहिए।

प्रश्न – धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य अनादि-अनंत शुद्ध हैं और शुद्ध ही परिणमन कर रहे हैं, वे एक-दूसरे का कुछ नहीं कर सकते; परंतु अनंत संसारी जीव तथा अनंतानंत पुद्गल स्कंध जो विभावरूप परिणमन कर रहे हैं, वे तो एक-दूसरे का अच्छा-बुरा कर सकते हैं ना?

उत्तर – आपका यह सोचना आगम एवं युक्ति से भी खण्डित होता है; इसलिए अयोग्य है। यदि ऐसा ही भाव ग्रन्थकार का होता तो वे वैसा स्पष्ट कहते, उनको कहने में क्या भय था। तथा विवेकी मनुष्यों को रात-दिन स्पष्ट समझ में भी आ ही रहा है कि अनेक लोग किसी का अच्छा करना चाहते हैं; लेकिन उनके चाहने पर और अति दक्षतापूर्वक अच्छा करने का प्रयास करने पर भी अच्छा नहीं कर पा रहे हैं।

इसके विपरीत अनेक लोग अनेक बार अपने शत्रु का अहित करना चाहते हैं तथा प्रयास भी करते ही रहते हैं, तो भी शत्रु का बुरा नहीं कर पाते हैं।

पुद्गल के चार भेद और उनका स्वरूप –

स्कन्धो देश: प्रदेशोऽणुश्चतुर्धा पुद्गलो मत:।
समस्तमर्धमर्धार्धमविभागमिमं विदु:॥७८॥

अन्वय :– स्कन्ध:, देश:, प्रदेश:, अणु: (इति) पुद्गल: चतुर्धा मत:। इमं समस्तम् अर्धम् अर्धार्धम् अविभागं (च) विदु:।

सरलार्थ :– पुद्गलद्रव्य स्कन्ध, देश, प्रदेश और अणु इसतरह चार प्रकार का माना गया है। इस चतुर्विध समस्त पुद्गल को क्रमशः सकल, अर्ध, अर्धार्ध और अविभागी कहते हैं।

भावार्थ :– भेद से होनेवाले पुद्गलविकल्पों (पुद्गलभेदों) का पंचास्तिकाय संग्रह गाथा ७५ की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने जो वर्णन किया है उसका तात्पर्य निम्नानुसार है :– अनंत परमाणु पिंडात्मक घटपटादिरूप जो विवक्षित सम्पूर्ण वस्तु उसे "स्कन्ध" संज्ञा है। भेद द्वारा उसके जो पुद्गल विकल्प होते हैं, वे निम्नोक्त दृष्टान्तानुसार समझना।

मान लो कि १६ परमाणुओं से निर्मित एक पुद्गलपिंड है और वह टूटकर उसके टुकडे होते हैं। वहाँ १६ परमाणुओं के पूर्ण पिण्ड को स्कन्ध माने तो आठ परमाणुओंवाला उसका अर्धभागरूप टुकडा वह देश है। चार परमाणुओंवाला उसका चतुर्थभागरूप टुकडा वह "प्रदेश" है और अविभागी छोटे-से-छोटा टुकडा "परमाणु" है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पुनश्च, जिसप्रकार १६ परमाणुवाले पूर्ण पिंड को ''स्कन्ध'' संज्ञा है, उसीप्रकार १५ से लेकर ९ परमाणुओं तक के किसी भी टुकड़े को भी ''स्कन्ध'' संज्ञा है। जिसप्रकार ८ परमाणुओंवाले उसके अर्धभागरूप टुकड़े को भी ''देश'' संज्ञा है, उसीप्रकार ७ से लेकर ५ परमाणुओं तक के उसके किसी भी टुकडे को भी देश संज्ञा है। जिसप्रकार ४ परमाणुवाले उसके चतुर्थ भागरूप टुकड़े को ''प्रदेश'' संज्ञा है, उसीप्रकार ३ से लेकर २ परमाणु तक के उसके किसी भी टुकड़े को भी ''प्रदेश'' संज्ञा है। – इस दृष्टान्त के अनुसार भेद द्वारा होनेवाले पुद्गलविकल्प समझना।

पुद्गलों से लोक भरा है –

सूक्ष्मै: सूक्ष्मतरैर्लोक: स्थूलै: स्थूलतरैश्चित:।
अनन्तै: पुद्गलैश्चित्रै: कुम्भो धूमैरिवाभित: ॥७९॥

अन्वय :– **धूमै: कुम्भ: इव लोक: अभित: सूक्ष्मै: सूक्ष्मतरै: स्थूलै: स्थूलतरै: अनन्तै: चित्रै: पुद्गलै: चित: (अस्ति)।**

सरलार्थ :– धूम से ठसाठस भरे हुए घट के समान लोकाकाश सर्व ओर से अनेक प्रकार के सूक्ष्म-सूक्ष्मतर, स्थूल-स्थूलतर अनन्त पुद्गलों से ठसाठस भरा हुआ है।

भावार्थ :– इसीप्रकार का भाव प्रवचनसार गाथा – १६८ व उसकी टीका में आया है। यह सर्व कथन केवलज्ञान का विषय होने से आज्ञाप्रमाण है, ऐसा स्वीकारना आवश्यक है।

द्रव्य के दो भेद और उनका लक्षण –

मूर्तामूर्तं द्विधा द्रव्यं मूर्तामूर्तैर्गुणैर्युतम्।
अक्षग्राह्या गुणा मूर्ता अमूर्ता सन्त्यतीन्द्रिया: ॥८०॥

अन्वय :– **मूर्त-अमूर्तै: गुणै: युतं द्रव्यं मूर्त-अमूर्तं द्विधा (भवति), अक्षग्राह्या: गुणा: मूर्ता:, अतीन्द्रिया: अमूर्ता: सन्ति।**

सरलार्थ :– द्रव्य मूर्तिक और अमूर्तिक दो प्रकार के हैं – जो द्रव्य मूर्त गुणों से सहित है, वे मूर्तिक द्रव्य हैं और जो द्रव्य अमूर्त गुणों से सहित है, वे अमूर्तिक द्रव्य हैं। जो गुण इन्द्रियों से जानने में आते हैं, वे मूर्त गुण हैं और जो गुण इन्द्रियों से जानने में नहीं आते वे अमूर्त गुण हैं।

भावार्थ :– इससे पूर्व (जीवाधिकार श्लोक १ से ४ में) छह द्रव्यों का विभाजन जीव-अजीव की अपेक्षा से किया गया था और यहाँ मूर्त-अमूर्त की अपेक्षा से किया जा रहा है। मूर्त गुणों से युक्त होने के कारण एक मात्र पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है, शेष जीव, धर्म, अधर्म, आकाश व काल द्रव्य अमूर्तगुणोंवाले होने से अमूर्तिक हैं।

स्पर्श, रस, गन्ध व वर्ण ये चार मूल गुण, जिनके उत्तर गुण (पर्याय) बीस होते हैं – इन्द्रिय ग्राह्य होने से मूर्त कहलाते हैं और ज्ञानदर्शनादि अतीन्द्रिय गुणों को अमूर्त कहते हैं। उक्त विषय प्रवचनसार गाथा १३१ में आया है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पुद्गल स्वयं ही कर्मभावरूप परिणमते हैं –

कर्म-वेदयमानस्य भावाः सन्ति शुभाशुभाः।
कर्मभावं प्रपद्यन्ते संसक्तास्तेषु पुद्गलाः ।।८१।।

अन्वय :– कर्म-वेदयमानस्य (जीवस्य) शुभाशुभाः भावाः सन्ति; तेषु संसक्ताः पुद्गलाः कर्मभावं प्रपद्यन्ते।

सरलार्थ :– कर्म के फल को भोगनेवाले जीव के शुभ-अशुभरूप परिणाम होते हैं। उन भावों/परिणामों के होने पर उनसे संबंधित पुद्गल अर्थात् कार्माण वर्गणाएँ ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मरूप परिणमती हैं।

भावार्थ – इस श्लोक में जीव के शुभाशुभ परिणाम एवं कार्माणवर्गणारूप पुद्गलों में परस्पर निमित्त-नैमित्तिक संबंध बताते हुए दोनों की स्वतंत्रता स्पष्ट करते हैं। इस श्लोकगत विषय पंचास्तिकाय संग्रह गाथा ६५ और उसकी टीका से स्पष्ट होता है। अतः उसे आगे अविकल रीति से दे रहे हैं –

''अत्ता कुणदि सभावं तत्थ गदा पोग्गला सभावेहिं।
गच्छंति कम्मभावं अण्णण्णोगाहमवगाढा।।

गाथार्थ :– आत्मा (मोह-राग-द्वेषरूप) अपने भाव को करता है (तब) वहाँ रहनेवाले पुद्गल अपने भावों से जीव में (विशिष्ट प्रकार से) अन्योन्य अवगाहरूप से प्रविष्ट हुए कर्मभाव को प्राप्त होते हैं।

टीका :– अन्य द्वारा किये बिना कर्म की उत्पत्ति किसप्रकार होती है, उसका यह कथन है।

आत्मा वास्तव में संसार-अवस्था में पारिणामिक चैतन्यस्वभाव को छोड़े बिना ही अनादि बंधन द्वारा बद्ध होने से अनादि मोह-राग-द्वेष द्वारा स्निग्ध ऐसे अविशुद्ध भावों रूप से ही विवर्तन को प्राप्त होता है (–परिणमित होता है)। वह (संसारस्थ आत्मा) वास्तव में जहाँ और जब मोहरूप, रागरूप या द्वेषरूप ऐसे अपने भाव को करता है, वहाँ और उस समय उसी भाव का निमित्त पाकर पुद्गल अपने भावों से ही जीव के प्रदेशों में (विशिष्टतापूर्वक) परस्पर-अवगाहरूप संश्लेष से प्रविष्ट हुए कर्मभाव को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ :– आत्मा जिस क्षेत्र में और जिस काल में अशुद्ध भावरूप परिणमित होता है, उसी क्षेत्र में स्थित कार्माणवर्गणारूप पुद्गलस्कंध उसी काल में स्वयं अपने भावों से ही जीव के प्रदेशों में विशेष प्रकार से परस्पर-अवगाहरूप से प्रविष्ट होकर कर्मपने को प्राप्त होते हैं।

इसप्रकार, जीव द्वारा किये बिना ही पुद्गल स्वयं कर्मरूप से परिणमित होते हैं।''

कर्म के आस्रव एवं बन्ध में निमित्त का निर्देश –

योगेन ये समायान्ति शस्ताशस्तेन पुद्गलाः।
तेऽष्टकर्मत्वमिच्छन्ति कषाय-परिणामतः ।।८२।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्वय :– **शस्त-अशस्तेन योगेन ये पुद्गलाः (आत्म-प्रदेशेषु) समायान्ति, ते (पुद्गलाः) कषाय-परिणामतः अष्ट-कर्मत्वं इच्छन्ति।**

सरलार्थ :– मन-वचन-काय के शुभ अथवा अशुभ योग के निमित्त से जो पुद्गल आत्म-प्रदेशों में प्रवेश करते हैं, वे ही पुद्गल अर्थात् कार्माणवर्गणाएँ मोह-राग-द्वेषादि कषाय परिणामों के निमित्त से ज्ञानावरणादि अष्टकर्मरूप परिणमती हैं।

भावार्थ :– अनन्त सर्वज्ञ भगवन्तों ने कर्मबन्ध के प्रकृति, प्रदेश, स्थिति एवं अनुभाग – ये चार भेद कहे हैं। इन चारों बन्ध के लिये भिन्न-भिन्न कारणों का उल्लेख किया है। योग से प्रकृति एवं प्रदेशबन्ध और मिथ्यात्व या कषाय से स्थिति एवं अनुभागबन्ध होते हैं। द्रव्यसंग्रह की यह गाथा तो जैन जगत में प्रसिद्ध है कि – **जोगा पयडि-पदेसा ठिदि अनुभागा कसायदो होंति।**

प्रत्येक कार्य में जो निमित्त हैं, उनका भी यथार्थ ज्ञान करना आवश्यक है।

प्रकृतिबन्ध के भेद –

ज्ञानदृष्ट्यावृती वेद्यं मोहनीयायुषी विदुः।
नाम गोत्रान्तरायौ च कर्माण्यष्टेति सूरयः॥८३॥

अन्वय :– **ज्ञान-दृष्ट्यावृती वेद्यं मोहनीय-आयुषी नाम च गोत्र-अन्तरायौ इति अष्टकर्माणि सूरयः विदुः।**

सरलार्थ :– ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इसप्रकार आचार्यों ने प्रकृतिबंध के आठ भेद बताये हैं।

भावार्थ :– पूर्व श्लोक में आत्म-क्षेत्र में प्रविष्ट हुए पुद्गलों के जिन आठ कर्मरूप परिणत होने की बात कही गयी है, उनके नाम इस श्लोक में बताये हैं। पुद्गलात्मक होने से ये आठों द्रव्यकर्म हैं। इन कर्मों में अपने-अपने नामानुकूल कार्य करने का निमित्तपना होता है, जिसे 'प्रकृतिबन्ध' कहते हैं। इसलिए ये आठ मूलकर्म प्रकृतियाँ कहलाती हैं, जिनके उत्तर भेद १४८ हैं। इन कर्म-प्रकृतियों का विशेष वर्णन षट्खण्डागम, गोम्मटसार, कम्मपयडि, पंचसंग्रह आदि कर्म-साहित्य विषयक करणानुयोग के ग्रन्थों से जानना चाहिए। तत्त्वार्थसूत्र के अध्याय ७ और सूत्र ४ में इन कर्मों का नामोल्लेख किया है।

जीव अपने विकारी भावों का कर्ता और पुद्गल कर्म का अकर्ता –

कल्मषोदयतः भावो यो जीवस्य प्रजायते।
स कर्ता तस्य भावस्य कर्मणो न कदाचन॥८४॥

अन्वय :– **कल्मष-उदयतः जीवस्य यः भावः प्रजायते तस्य भावस्य सः (जीवः) कर्ता (भवति), कर्मणः (कर्ता) कदाचन न (भवति)।**

सरलार्थ :– मिथ्यात्वादि पापकर्म के उदय से जीव में जो मोह राग-द्वेषरूप विकारी परिणाम

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उत्पन्न होते हैं, उन भावों का वह जीव कर्ता होता है; परन्तु ज्ञानावरणादि पुद्गलमय द्रव्यकर्म का कर्ता वह जीव कभी भी नहीं होता।

भावार्थ :– समयसार में इसी अर्थ का ज्ञान करानेवाली ८२वीं गाथा है। इसकी टीका में अमृतचंद्राचार्य ने जीव को कदाचित् कर्ता बताया है और उसका भाव श्री जयचंदजी छाबडा ने उसके भावार्थ में मार्मिक शब्दों में इसप्रकार स्पष्ट किया है – ''जीव के परिणाम के और पुद्गल के परिणाम के परस्पर मात्र निमित्त-नैमित्तिकपना है तो भी परस्पर कर्ताकर्मभाव नहीं है। पर के निमित्त से जो अपने भाव हुए उनका कर्ता तो जीव को अज्ञान दशा में कदाचित् कह भी सकते हैं; परन्तु जीव, पर-भाव का कर्ता कदापि नहीं है।''

कर्मों की विभिन्नता पुद्गलकृत हैं –

विविधाः पुद्गलाः स्कन्धाः संपद्यन्ते यथा स्वयम्।
कर्मणामपि निष्पत्तिरपरैरकृता तथा॥८५॥

अन्वय :– यथा विविधाः पुद्गलाः स्वयं स्कन्धाः संपद्यन्ते तथा (एव) कर्मणां अपि निष्पत्तिः अपरैः अकृता (भवति)।

सरलार्थ :– जिसप्रकार पुद्गल स्वयं अनेक प्रकार के स्कन्धरूप बन जाते हैं, उसीप्रकार अनेक प्रकार के कर्मों की निष्पत्ति भी दूसरों के द्वारा किये बिना ही अर्थात् स्वतः ही होती है।

भावार्थ :– ऐसा ही भाव पंचास्तिकाय संग्रह गाथा ६६ और उसकी टीका में उदाहरण सहित स्पष्ट किया है, जो इसप्रकार है :–

''जह पोग्गलदव्वाणं बहुप्पयारेहिं खंधणिव्वत्ती।
अकदा परेहिं दिट्ठा तह कम्माणं वियाणाहि॥

गाथार्थ :– जिसप्रकार पुद्गलद्रव्यों की अनेक प्रकार की स्कंधरचना पर के द्वारा किये बिना होती दिखाई देती है, उसीप्रकार कर्मों की बहुप्रकारता परसे अकृत जानो।

टीका :– कर्मों की विचित्रता (बहुप्रकारता) अन्य द्वारा नहीं की जाती, ऐसा यहाँ कहा है।

जिसप्रकार अपने को योग्य चन्द्र-सूर्य के प्रकाश की उपलब्धि होने पर, संध्या-बादल-इन्द्रधनुष-प्रभामण्डल इत्यादि अनेक प्रकार से पुद्गलस्कंधभेद अन्य कर्ता की अपेक्षा के बिना ही उत्पन्न होते हैं, उसीप्रकार अपने को योग्य जीव-परिणाम की उपलब्धि होने पर, ज्ञानावरणादि अनेक प्रकार के कर्म भी अन्य कर्ता की अपेक्षा के बिना ही उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ :- कर्मों की विविध प्रकृति-प्रदेश-स्थिति-अनुभागरूप विचित्रता भी जीवकृत नहीं है, पुद्गलकृत ही है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि ग्रन्थकार आचार्य अमितगति ने पंचास्तिकाय संग्रह गाथा ६६ का पूर्ण भाव इस श्लोक में दिया है।''

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जीव और कर्म की स्वतंत्रता –

कर्मभावं प्रपद्यन्ते न कदाचन चेतनाः।
कर्म चैतन्यभावं वा स्वस्वभावव्यवस्थिते:॥८६॥

अन्वय :– स्व-स्वभाव-व्यवस्थिते: चेतना: कदाचन कर्मभावं न प्रपद्यन्ते वा कर्म (अपि तथा एव) चैतन्यभावं (न प्रपद्यते)।

सरलार्थ :– अपने-अपने स्वभाव में सदा व्यवस्थित/स्थिर/एकरूप रहने के कारण जीव कभी भी कर्मपने को प्राप्त नहीं होते। अपने-अपने स्वभाव में सदा व्यवस्थित रहने के कारण कर्म कभी भी जीवपने को प्राप्त नहीं होते।

भावार्थ :– संसारी जीव और अष्ट कर्मों में अथवा जीव की पर्याय और कर्मरूप पर्याय में निमित्तनैमित्तिक संबंध बताने के बाद भी आचार्य इस श्लोक द्वारा इन दोनों की पूर्ण स्वतंत्रता को पुनः बता रहे हैं। अज्ञानी जीव निमित्तनैमित्तिक संबंध जानते हुए भी जीव और कर्मों को पूर्ण स्वतंत्र नहीं मानते - परस्पर में परतंत्र ही मानते हैं। अतः अज्ञानी की मिथ्या मान्यता छुड़ाने का यहाँ प्रयास किया है।

इसी विषय को समझने के लिये पंचास्तिकाय संग्रह ग्रंथ की गाथा ६१ एवं ६२ तथा इनकी टीका अतिशय उपयोगी है, जिनमें षट्कारक का कथन अति महत्त्वपूर्ण है। पाठक इस संदर्भ में उक्त प्रकरण को सूक्ष्मता से अवश्य पढ़ें।

श्लोक में जीव के लिये **चेतना:** शब्द को बहुवचन में रख दिया है। इससे भी हमें यह अर्थ समझना चाहिए कि अनंत संसारी जीवों में से एक भी जीव कर्मपने नहीं हुआ है और न होगा।

कर्मसहित अर्थात् संसारी जीव पराधीन/कर्माधीन रहते हैं; मात्र सिद्ध भगवान ही स्वतंत्र रह सकते हैं; ऐसी मिथ्या मान्यतावालों को भी इसमें अत्यन्त स्पष्टरूप से समझाया है।

एक जीव के साथ अनंतानंत कर्म अनादिकाल से रहे हैं; तथापि एक जीव को भी, यहाँ तक कि अभव्य को भी कर्मों ने कर्मरूप अर्थात् जडरूप नहीं किया, यह भी हमें समझना चाहिए।

कर्म को बलवान माननेरूप मिथ्या भ्रांति का भी जिज्ञासु इस कथन से सहज निराकरण कर सकते हैं।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता, यह जिनवाणी का मर्म है।

जीव, स्वभाव से कर्मों को करे तो आपत्ति –

जीव: करोति कर्माणि यद्युपादानभावत:।
चेतनत्वं तदा नूनं कर्मणो वार्यते कथम्॥८७॥

अन्वय :– यदि जीव: उपादानभावत: कर्माणि करोति तदा कर्मण: चेतनत्वं नूनं कथं वार्यते?

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :– यदि जीव अपने उपादान भाव से अर्थात् निजशक्ति से पुद्गलमय ज्ञानावरणादि आठों कर्मों को करेगा, तब कर्म के चेतनपने का निषेध निश्चय से कैसे किया जा सकता है? अर्थात् नहीं किया जा सकता, कर्मों में चेतनपना आ जायेगा।

भावार्थ :– विगत श्लोक में जीव तथा पुद्गल-कर्म की जिस स्वभाव/व्यवस्थिति का उल्लेख किया गया है, उसे न मानकर यदि यह कहा जाय कि जीव अपने उपादान-भाव से कर्मों का कर्ता है निमित्तरूप से नहीं – तो फिर कर्मों के चेतनत्व का निषेध नहीं किया जा सकता; क्योंकि उपादान-कारण जब चेतन होगा तो उसके कार्य को भी चेतन मानना ही पड़ेगा।

एक द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कार्य करने की बात वस्तु-व्यवस्था को ही मान्य नहीं; तथापि जिनवाणी में व्यवहारनय की मुख्यता से ऐसा कथन किया जाता है, वह उपचरित असद्भूतव्यवहारनय का कथन समझना चाहिए।

जीव यदि उपादानभाव से कर्मों को करे तो कर्मों में चेतनपना आना स्वाभाविक है; क्योंकि जीव द्रव्य अपने स्वभाव को अर्थात् चेतनपने को अपनी पर्यायों में क्यों नहीं करेगा? इसका स्पष्ट आशय यह है कि जीव पुद्गलमय द्रव्यकर्मों को करता ही नहीं है – कर सकता ही नहीं है।

जीव के कर्तापने के यथार्थ ज्ञान के लिये समयसार गाथा १०० तथा उसकी टीका एवं भावार्थ को भी पाठक अवश्य पढ़ें।

कर्म, स्वभाव से जीव को करे तो आपत्ति –

यद्युपादानभावेन विधत्ते कर्म चेतनम्।
अचेतनत्वमेतस्य तदा केन निषिध्यते ।।८८।।

अन्वय :– यदि कर्म उपादान-भावेन चेतनं विधत्ते तदा एतस्य (चेतन-जीवस्य) अचेतनत्वं केन निषिध्यते ?

सरलार्थ :– यदि कर्म अपने उपादानभाव से/अन्तरंग शक्ति से चेतन अर्थात् जीव का निर्माण करता है तो इस चेतनरूप जीव के अचेतनपने/जडपने के प्रसंग का निषेध कैसे किया जा सकता है? अर्थात् निषेध नहीं किया जा सकता।

भावार्थ :– कर्म का उपादान/निजस्वभाव पुद्गलात्मक अचेतन होने से उस कर्म से निर्मित जीव भी चेतना रहित जड ठहरता है। यदि स्वभाव व्यवस्थिति को न मानकर यह कहा जाय कि कर्म अपने उपादान से व्याप्य-व्यापकरूप से जीव के भावों का कर्ता है, निमित्तरूप से नहीं; तो फिर जीव के अचेतनत्व का निषेध कैसे किया जा सकता है? क्योंकि उपादान जब अचेतन होगा तो उसके कार्य को भी अचेतन ही मानना पड़ेगा।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोनों को परस्पर का कर्ता मानने से आपत्ति –

एवं संपद्यते दोषः सर्वथापि दुरुत्तरः।
चेतनाचेतनद्रव्यविशेषाभावलक्षणः ॥८१॥

अन्वय :– एवं (उपर्युक्तकथनानुसारं) चेतन-अचेतन-द्रव्यविशेष-अभावलक्षणः दोषः अपि संपद्यते (यः) सर्वथा दुरुत्तरः (अस्ति)।

सरलार्थ :– इसप्रकार अर्थात् चेतन को अचेतन का और अचेतन को चेतन का उपादान कारण मानने से चेतन और अचेतन द्रव्य में कोई भेद न रहनेरूप दोष उपस्थित होता है, जो किसी तरह भी टाला नहीं जा सकता।

भावार्थ :– जीव और कर्म यदि परस्पर कर्ता बनेंगे तो मात्र जीव तथा पुद्गल में एकरूपता का अर्थात् एक होने का दोष आयेगा, इतना ही नहीं सर्व वस्तु-व्यवस्था ही गडबडा जायेगी।

यदि एक जीव अपने आत्मप्रदेशों के साथ निमित्त-नैमित्तिकरूप से संलग्न अनंतानंत पुद्गलों में से कुछ पुद्गलों को जीवमय करे तो अन्य भी अनंत जीव अपने संबंधित पुद्गलों को जीवमय करेंगे, तो जीव की तथा पुद्गलों की जो नियत संख्या अनादिकाल से सुनिश्चित है, वह सिद्ध नहीं होगी/बदल जायेगी।

इसीतरह पुद्गल भी जीव को पुद्गलमय करते रहेंगे तो थोड़े ही काल में जीवों की संख्या कम होते-होते जीवों का अभाव भी हो सकता है। जीव द्रव्य की अपेक्षा पुद्गलों की संख्या अनंतगुणा अधिक है। अतः कर्मरूप परिणत अनंतानंत पुद्गल अपने संपर्क में आये हुए जीवों को पुद्गल बनाते जायेंगे और स्वाभाविक ही है कि जीव-पुद्गलों की नियत संख्या नहीं रहेगी। इतना ही नहीं फिर तो सर्व जीव, पुद्गल हो जायेंगे और जीवों का सर्वथा अभाव हो जायेगा।

धर्मादि चारों द्रव्य भी आपस में बदल जायेंगे और उनके भी स्वरूप तथा संख्या की नियत व्यवस्था नष्ट हो जायेगी। सर्व द्रव्यों के अभावरूप सर्वशून्यता नामक महादोष आ जायेगा, जो कि प्रत्यक्षप्रमाण तथा आगमसम्मत नहीं है।

अगुरुलघुत्व नामक सामान्य गुण की परिभाषा के अनुसार द्रव्य का द्रव्यत्व कायम रहता है अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणत नहीं होता, इस नियम को न मानने से आगम को भी नहीं माननेरूप आपत्ति उपस्थित होगी।

प्रत्यक्ष में भी कोई जीव अथवा पुद्गल अपने स्वरूप को छोड़ता हुआ किसी को देखने-सुनने में नहीं आता। इसलिए जीव-पुद्गलों को परस्पर का कर्ता मानना, यह आगम एवं प्रत्यक्ष से विरुद्ध होने के कारण ऐसी मान्यता छोड़ने में ही हित है।

कर्ता-कर्म का यथार्थ ज्ञान करने के लिए हमें समयसार ग्रंथ के कर्ता-कर्म अधिकार का गहराई से अध्ययन करना आवश्यक है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आचार्य उमास्वामीकृत तत्त्वार्थसूत्र के अध्याय ५, सूत्र २९ में समागत **सद्द्रव्य लक्षणम्** इस सूत्र से और अस्तित्वनामक सामान्य गुण के आधार से भी प्रत्येक द्रव्य अपने में पूर्ण, स्वतंत्र एवं स्वाधीन है; कोई किसीका कुछ नहीं कर सकता – यह विषय स्पष्ट हो जाता है।

कर्म एवं जीव के विभाव में परस्पर निमित्तपना –

सरागं जीवमाश्रित्य कर्मत्वं यान्ति पुद्गलाः
कर्माण्याश्रित्य जीवोऽपि सरागत्वं प्रपद्यते ।।९०।।

अन्वय :– **पुद्गलाः सरागं जीवं आश्रित्य कर्मत्वं यान्ति (तथा एव) जीवः अपि कर्माणि आश्रित्य सरागत्वं प्रपद्यते।**

सरलार्थ :– पुद्गल अर्थात् कार्माणवर्गणायें सरागी जीव का निमित्त पाकर कर्मपने को प्राप्त होती हैं और जीव भी कर्मों का निमित्त पाकर विभावभावरूप परिणाम को प्राप्त होता है।

भावार्थ :– यद्यपि जीव के परिणाम और कर्म के परिणाम में परस्पर कर्ता-कर्मपना न होने पर भी दोनों में निमित्तनैमित्तिक संबंध अवश्य है। इस निमित्त-नैमित्तिक संबंध को समयसार गाथा ८० से ८२ में भी स्पष्ट किया है।

कार्माणवर्गणारूप पुद्गल स्वयमेव अपने ही उपादान से कर्मरूप परिणमन करते हैं, तथापि उन्हें जीव का मोह-राग-द्वेषरूप परिणाम निमित्त होता है। इसीप्रकार जीव भी अपने ही उपादान से मोह-राग-द्वेषरूप परिणाम करता है; तथापि उसे कर्म का उदय निमित्त होता है।

इस निमित्तनैमित्तिक संबंध के होते हुए भी दोनों का परिणमन स्वतंत्र ही होता है, इसे समझना अति महत्त्वपूर्ण है। अज्ञानी जीव इस निमित्त-नैमित्तिक संबंध को कर्ता-कर्म संबंध मानकर परतंत्रता का ही अनुभव करते हैं।

प्रश्न – कर्म के उदय का निमित्त होता रहेगा और जीव मोह-राग-द्वेष परिणाम करता ही रहेगा, तो यह अनादि की परम्परा कब और कैसे टूटेगी? जीव पुरुषार्थ करेगा तब टूटेगी अथवा कर्म इसे रास्ता देगा तब टूटेगी – यह स्पष्ट करें।

उत्तर – कर्म रास्ता देगा, उपकार करेगा यह मान्यता मिथ्या है; क्योंकि जडकर्म जो ज्ञान रहित हैं, वे यह काम कैसे करेंगे? जीव ही पुरुषार्थ करेगा तब मुक्तिमार्ग खुलेगा।

प्रश्न – कर्म का उदय होगा तो नैमित्तिक मोह-राग-द्वेषभाव होंगे ही। जीव पुरुषार्थ कैसे करेगा?

उत्तर – नहीं, यदि जीव ज्ञाता-दृष्टा रहनेरूप पुरुषार्थ करे तो; कर सकता है। कर्म के उदय के काल में जीव मोहादि करने में बाध्य है, मजबूर है, ऐसा बिल्कुल नहीं। जीव शुद्धात्म-भावना के बल से मोहरूप परिणाम न करे, ऐसा प्रसंग बन सकता है।

प्रश्न – आपके कथन के लिये कुछ शास्त्राधार भी है?

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उत्तर – हाँ, हाँ, अवश्य। आचार्य जयसेन प्रवचनसार गाथा ४६ की टीका में स्पष्ट लिखते हैं – **द्रव्यमोहोदयेऽपि सति यदि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणमति तदा बन्धः न भवति। यदि पुनः कर्मोदयमात्रेण बन्धो भवति तर्हि संसारिणां सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात् सर्वदैव बँधः एव, न मोक्षः इति अभिप्रायः।** अर्थ – द्रव्यमोह का उदय होने पर भी यदि शुद्धात्मभावना के बल से भाव मोहरूप परिणमन नहीं करता तो बंध नहीं होता। यदि पुनः कर्मोदय मात्र से बंध होता तो संसारियों के सदैव कर्म के उदय की विद्यमानता होने से सदैव (सर्वदा) बंध ही होगा, (कभी भी) मोक्ष नहीं हो सकेगा - यह अभिप्राय है।''

प्रश्न – कर्मोदय हो और जीव परिणाम न करे, ऐसा हो सकता है; यह आपने शास्त्राधार से स्पष्ट किया, लेकिन क्या ऐसा भी संभव है कि जीव मोह परिणाम करे और तदनुसार मोहकर्म का बन्ध न हो? शास्त्राधार से बताइए।

उत्तर – हाँ, ऐसा भी हो सकता है। जब मुनिराज के सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ का परिणाम तो होता है; तथापि नया सूक्ष्म लोभ का बंध नहीं होता। अन्य कर्मों का बन्ध तो होता है।

पंचास्तिकाय संग्रह गाथा १०३ की टीका का अंश शास्त्राधाररूप से अति महत्त्वपूर्ण है, जो इसप्रकार है – ''वास्तव में जिसका स्नेह (रागादिरूप चिकनाहट) जीर्ण होता जाता है, ऐसा जघन्य स्नेह गुण के (स्पर्श गुण की चिकनाहटरूप पर्याय) सन्मुख वर्तते हुए परमाणु की भाँति भावी बंध से पराङ्मुख वर्तता हुआ, पूर्व बंध से छूटता हुआ, अग्नि-तप्त जल की दुःस्थिति समान जो दुःख, उससे परिमुक्त होता है।'' (जिसप्रकार जघन्य चिकनाहट कें सन्मुख वर्तता हुआ परमाणु भावी बंध से पराङ्मुख है; उसीप्रकार जिसके रागादि जीर्ण होते जाते हैं ऐसा पुरुष भावी बंध से पराङ्मुख है।)

जीव मोहादि परिणामों का अकर्ता –

कर्म चेत्कुरुते भावो जीवः कर्ता तदा कथम्।
न किंचित् कुरुते जीवो हित्वा भावं निजं परम्।।९१।।

अन्वय :– चेत् (रागादि) भावः कर्म कुरूते, तदा जीवः (कर्मणः) कर्ता कथं (भवति) जीवः निजभावं हित्वा किंचित् परं न कुरूते।

सरलार्थ :– यदि यह बात मान ली जाय कि मोह-राग-द्वेषादि विकारी/विभाव परिणाम ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म का कर्ता/निर्माता है, तो जीव ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का कर्ता कैसे हो सकता है? अर्थात् कर्ता नहीं हो सकता; क्योंकि जीव तो अपने ज्ञान-दर्शन आदि निज परिणामों को छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं कर सकता।

भावार्थ :– आगे के श्लोक में सब स्पष्ट किया है। इस श्लोक के प्रथम चरण में और चतुर्थ चरण में भाव शब्द आया है। प्रथम भाव शब्द का अर्थ रागादि-विभाव भाव और द्वितीय भाव का अर्थ ज्ञान-दर्शनरूप परिणाम करना चाहिए; यहाँ संदर्भ के अनुसार यही अर्थ यथार्थ प्रतीत होता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इस श्लोक में जीव मात्र अपने ज्ञान-दर्शनरूप पर्यायों का कर्ता है; इस विषय को बताना है। शुद्धनय की अपेक्षा से प्रत्येक जीव मात्र ज्ञातादृष्टा ही है। आचार्य कुंदकुंद ने समयसार गाथा ३८ एवं ७३ में जीव को मात्र ज्ञाता-दृष्टा ही बताया है। आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र शास्त्र में अध्याय दूसरा सूत्र ८ में **उपयोगो लक्षणम्** इस सूत्र से भी जीव के ज्ञाता-दृष्टापन को ही स्पष्ट किया है।

जीव ज्ञानावरणादि आठ अथवा एक सौ अड़तालीस द्रव्यकर्मों का कर्ता नहीं हो सकता; क्योंकि ये द्रव्यकर्म तो पुद्गलमय जड़ है और जीव चेतनमय है। फिर प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का कर्ता कौन है ? इसका उत्तर निमित्त की मुख्यता से अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से जीव के रागादि भाव ही जड़कर्मों के कर्ता हैं; यही समझना आवश्यक है; क्योंकि विभाव भावों के साथ द्रव्यकर्मों की व्याप्ति है।

द्रव्यकर्म और भावकर्म में परस्पर निमित्तनैमित्तिकपना –

कर्मतो जायते भावो भावतः कर्म सर्वदा।
इत्थं कर्तृत्वमन्योन्यं द्रष्टव्यं भाव-कर्मणोः॥९२॥

अन्वय :– कर्मतः भावः जायते भावतः सर्वदा कर्म (जायते)। इत्थं भाव-कर्मणोः अन्योन्यं कर्तृत्वं द्रष्टव्यम्।

सरलार्थ :– मोहनीय नामक द्रव्यकर्म के उदय के निमित्त से मोह-राग-द्वेष आदि जीव के विकारी परिणाम सदा उत्पन्न होते हैं और मोह-राग-द्वेष आदि जीव के विकारी परिणामों के निमित्त से सदा ज्ञानावरणादि आठ अथवा एक सौ अडतालीस प्रकृतिरूप द्रव्यकर्म उत्पन्न होते हैं। इसतरह द्रव्यकर्म और भावकर्म में परस्पर निमित्त-नैमित्तिकपना जानना चाहिए।

भावार्थ :– श्लोक का मूल शब्द जो **कर्तृत्वं** है, उसका अर्थ सरलार्थ में कर्तापना न करके निमित्तनैमित्तिकपना किया है, वह आचार्यों के अभिप्राय के अनुसार ही किया है। ग्रन्थकार ने इसी अधिकार के श्लोक क्रमांक १८ में कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कर्ता नहीं है, यह कहा है। श्लोक क्रमांक २८, २९, ३० में भी यदि जीव और कर्म दोनों परस्पर एक-दूसरे का कर्ता बनेंगे तो क्या-क्या आपत्तियाँ आयेंगी उसका स्पष्टीकरण कर दिया है। श्लोक ३१ में पुद्गलमय द्रव्यकर्म और मोह-राग-द्वेषादि भावकर्म में निमित्तपने का ज्ञान कराया है। इन सबका यथार्थ अर्थ समझने के लिये कर्तृत्व शब्द का अर्थ निमित्तनैमित्तिकपना ही योग्य सिद्ध होता है। अथवा व्यवहार से कर्तापना ऐसा अर्थ भी किया जा सकता है।

शब्द का अर्थ पाठक को आगे-पीछे के प्रकरणों को ध्यान में रखते हुए सावधानी से समझना आवश्यक होता है।

पंचास्तिकायसंग्रह की ५९ एवं ६० गाथा तथा उनकी टीका भी यहाँ द्रष्टव्य है :–

“भावो जदि कम्मकदो अत्ता कम्मस्स होदि किध कत्ता।
ण कुणदि अत्ता किंचि वि मुत्ता अण्णं सगं भावं॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

गाथार्थ :– यदि भाव (जीवभाव) कर्मकृत हों तो आत्मा कर्म का (द्रव्यकर्म का) कर्ता होना चाहिये, वह तो कैसे हो सकता है; क्योंकि आत्मा तो अपने भाव को छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं करता।

टीका :– कर्म को जीवभाव का कर्तृत्व होने के सम्बन्ध में यह पूर्वपक्ष है।

यदि औदयिकादिरूप जीव का भाव, कर्म द्वारा किया जाता हो, तो जीव उसका (औदयिकादिरूप जीवभाव का) कर्ता नहीं है, ऐसा सिद्ध होता है। और जीव का अकर्तृत्व तो इष्ट (मान्य) नहीं है। इसलिये, शेष यह रहा कि जीव, द्रव्यकर्म का कर्ता होना चाहिये। लेकिन वह तो कैसे हो सकता है? क्योंकि निश्चयनय से आत्मा अपने भाव को छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं करता।

भावो कम्मणिमित्तो कम्मं पुण भावकारणं हवदि।
ण दु तेसिं खलु कत्ता ण विणा भूदा दु कत्तारं॥

अन्वय :– जीवभाव का कर्म निमित्त है और कर्म का जीवभाव निमित्त है, परन्तु वास्तव में वे एक-दूसरे के कर्ता नहीं हैं; कर्ता के बिना होते हैं ऐसा भी नहीं है।

टीका :– यह, पूर्व सूत्र में (५९वीं गाथा में) कहे हुए पूर्वपक्ष के समाधानरूप सिद्धान्त है।

व्यवहार से निमित्तमात्रपने के कारण जीवभाव का कर्म कर्ता है (औदयिकादि जीवभाव का कर्ता द्रव्यकर्म है), कर्म का भी जीवभाव कर्ता है; निश्चय से तो जीवभावों का न तो कर्म कर्ता है और न कर्म का जीवभाव कर्ता है। वे (जीवभाव और द्रव्यकर्म) कर्ता के बिना होते हैं ऐसा भी नहीं है; क्योंकि निश्चय से जीव परिणामों का जीव कर्ता है और कर्म परिणामों का कर्म (पुद्गल) कर्ता है।''

ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म को जीवकृत कहा जाता है –

कोपादिभिः कृतं कर्म जीवेन कृतमुच्यते।
पदातिभिर्जितं युद्धं जितं भूपतिना यथा॥९३॥

अन्वय :– यथा पदातिभिः जितं युद्धं भूपतिना जितं (उच्यते तथा एव) कोपादिभिः कृतं कर्म जीवेन कृतं उच्यते।

सरलार्थ :– जिसप्रकार योद्धाओं के द्वारा जीता गया युद्ध राजा के द्वारा जीता गया, ऐसा व्यवहारनय से कहा जाता है, उसीप्रकार क्रोधादि कषायभावों के द्वारा अर्थात् मोह-राग-द्वेष आदि विभावभावों से किया गया कर्म जीव के द्वारा किया गया, ऐसा व्यवहारनय से कहा जाता है।

भावार्थ :– इसी सन्दर्भ में समयसार गाथा १०६ और उसकी टीका पठनीय है।

विगत श्लोक में **कर्त्तृत्वं** शब्द का अर्थ निमित्त-नैमित्तिकपना किया है, उसकी संगति भी इस श्लोक के विषय से स्पष्ट होती है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कर्मजनित देहादिक विभाव अचेतन हैं --

देह-संहति-संस्थान-गति-जाति-पुरोगमा:।
विकारा: कर्मजा: सर्वे चैतन्येन विवर्जिता:।।९४।।

अन्वय :- देह-**संहति-संस्थान-गति-जाति-पुरोगमा: सर्वे विकारा: कर्मजा: चैतन्येन विवर्जिता:।**

सरलार्थ :- संसारी जीव के संयोग में पाये जानेवाले शरीर, संहनन, संस्थान, गति, जाति आदिरूप (पुरोगमा शब्द का अर्थ इत्यादि होता है) जितने भी विकार अर्थात् विभाव हैं, वे सर्व नामकर्म के निमित्त से उत्पन्न हुए हैं एवं चेतना रहित हैं।

भावार्थ :- इस श्लोक में नामकर्मोदय जनित कार्य को अचेतन कहा है। इसमें मर्म की बात यह है कि नामकर्मोदयजन्य ९३ प्रकृतियाँ हैं, उनमें ६२ प्रकृतियाँ पुद्गलविपाकी, चार प्रकृतियाँ क्षेत्रविपाकी और २७ प्रकृतियाँ जीवविपाकी हैं; उन सबको चेतन रहित कहा है। जीवविपाकी कर्म का फल जीव के परिणामों में होता है, उनमें तीर्थंकर प्रकृति आदि भी हैं। उनको भी चेतनतारहित कहा है और कर्मज बताया है। जिन पर्यायों को आगम जीव कहता है, उन्हीं पर्यायों को अध्यात्म चेतनतारहित – जड भी कहता है।

यही विषय पंचास्तिकायसंग्रह गाथा १२६ तथा उसकी टीका में भी आया है।

गुणस्थान पुद्गल-निर्मित है –

मिथ्यादृक् सासनो मिश्रोऽसंयतो देशसंयत:।
प्रमत्त इतरोऽपूर्वस्तत्त्वज्ञैरनिवृत्तक:।।९५।।
सूक्ष्म: शान्त: पर: क्षीणो योगी चेति त्रयोदश।
गुणा: पौद्गलिका: प्रोक्ता: कर्मप्रकृतिनिर्मिता:।।९६।।

अन्वय :- तत्त्वज्ञै: मिथ्यादृक्, सासन:, मिश्र:, असंयत:, देशसंयत:, प्रमत्त:, इतर:, अपूर्व:, अनिवृत्तक:, सूक्ष्म:, शान्त:, पर:क्षीण:, योगी च इति त्रयोदश: गुणा: पौद्गलिका: कर्मप्रकृतिनिर्मिता: प्रोक्ता:।

सरलार्थ :- तत्त्वज्ञानियों ने मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र, असंयतसम्यक्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली – इन तेरह गुणस्थानों को कर्मप्रकृतियों से निर्मित पौद्गलिक कहा है।

भावार्थ :- गुणस्थानों की पुद्गलमयता को आचार्य कुंदकुंद ने समयसार गाथा ६८ में, आचार्य अमृतचन्द्र ने उक्त गाथा की संस्कृत टीका में तथा पंडित श्री जयचन्दजी छाबडा ने भावार्थ में खुलासे के साथ स्पष्ट किया है, जो इसप्रकार है –

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अब कहते हैं कि (जैसे वर्णादि भाव जीव नहीं हैं यह सिद्ध हुआ उसीप्रकार) यह भी सिद्ध हुआ कि रागादि भाव भी जीव नहीं हैं :–

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता॥

गाथार्थ :– जो यह गुणस्थान हैं वे मोहकर्म के उदय से होते हैं ऐसा (सर्वज्ञ के आगम में) वर्णन किया गया है; वे जीव कैसे हो सकते हैं कि जो सदा अचेतन कहे गये हैं?

टीका :– ये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान पौद्‌गलिक मोहकर्म की प्रकृति के उदयपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से, कारण जैसा ही कार्य होता है ऐसा समझकर (निश्चय कर) जौ पूर्वक होनेवाले जो जौ, वे जौ ही होते हैं इसी न्याय से, वे पुद्‌गल ही हैं – जीव नहीं। और गुणस्थानों का सदा ही अचेतनत्व आगम से सिद्ध होता है तथा चैतन्यस्वभाव से व्याप्त जो आत्मा उससे भिन्नपने से वे गुणस्थान भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान हैं इसलिये भी उनका सदा ही अचेतनत्व सिद्ध होता है।

इसीप्रकार राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबन्धस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान और संयमलब्धिस्थान भी पुद्‌गलकर्मपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से, पुद्‌गल ही हैं – जीव नहीं ऐसा स्वतः सिद्ध हो गया। इससे यह सिद्ध हुआ कि रागादिभाव जीव नहीं हैं।

भावार्थ :– शुद्धद्रव्यार्थिक नय की दृष्टि में चैतन्य अभेद है और उसके परिणाम भी स्वाभाविक शुद्ध ज्ञानदर्शन हैं। परनिमित्त से होनेवाले चैतन्य के विकार, यद्यपि चैतन्य जैसे दिखाई देते हैं तथापि, चैतन्य की सर्व अवस्थाओं में व्यापक न होने से चैतन्यशून्य हैं – जड़ हैं। और आगम में भी उन्हें अचेतन कहा है। भेदज्ञानी भी उन्हें चैतन्य से भिन्नरूप अनुभव करते हैं इसलिये भी वे अचेतन हैं, चेतन नहीं।

प्रश्न :– यदि वे चेतन नहीं हैं तो क्या हैं? वे पुद्‌गल हैं या कुछ और?

उत्तर :– वे पुद्‌गलकर्मपूर्वक होते हैं इसलिये वे निश्चय से पुद्‌गल ही हैं क्योंकि कारण जैसा ही कार्य होता है।

इसप्रकार यह सिद्ध किया कि पुद्‌गलकर्म के उदय के निमित्त से होनेवाले चैतन्य के विकार भी जीव नहीं, पुद्‌गल हैं।

गुणस्थान संबंधी विभिन्न मान्यता –

देहचेतनयोरैक्यं मन्यमानैर्विमोहितैः।
एते जीवा निगद्यन्ते न विवेक-विशारदैः॥९७॥

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्वय :– देहचेतनयोः ऐक्यं मन्यमानैः विमोहितैः एते (त्रयोदश-गुणाः) जीवाः निगद्यन्ते; न विवेक-विशारदैः।

सरलार्थ :– शरीर और आत्मा इन दोनों को एक माननेवाले मोहीजन गुणस्थानों को जीव कहते हैं अर्थात् मानते हैं; परन्तु भेदविज्ञान में निपुण विवेकी जन गुणस्थानों को पुद्गलरूप अजीव बतलाते हैं।

भावार्थ :– गुणस्थानों को जिन आचार्यों ने जीव अथवा जीव की अवस्थायें कहा हैं, वह कथन अशुद्ध निश्चयनय अर्थात् व्यवहारनय की मुख्यता से है। यदि व्यवहारनय से किये गये कथन को हम सर्वथा सत्य ही स्वीकार कर लेते हैं/मान लेते हैं तो मिथ्यात्वरूप पाप का महादोष उत्पन्न होता है, इसका अर्थ यह हुआ कि व्यवहारनय से किया गया कथन मात्र तात्कालिक प्रयोजन की अपेक्षा से ही सत्य है, वह त्रैकालिक सत्य नहीं हो सकता।

आत्मा के त्रैकालिक सत्य-स्वरूप का कथन तो अध्यात्म में आता है, जिसके श्रद्धान, ज्ञान और ध्यान से निश्चयधर्म प्रगट होता है और क्रम से शाश्वत अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति होती है।

इस विषय के सन्दर्भ में हमें समयसार गाथा २७ को टीकासहित देखना चाहिए, जो निम्नप्रकार है –

"ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को।
ण दु णिच्छयस्य जीवो देहो य कदा वि एक्कट्ठो॥

गाथार्थ :– व्यवहारनय तो यह कहता है कि जीव और देह एक ही है; किन्तु निश्चयनय के अभिप्राय से जीव और देह कभी भी एक पदार्थ नहीं हैं।

टीका :– जैसे इस लोक में सोने और चांदी को गलाकर एक कर देने से एक पिण्ड का व्यवहार होता है, उसीप्रकार आत्मा और शरीर की परस्पर एक क्षेत्र में रहने की अवस्था होने से एकपने का व्यवहार होता है। यों व्यवहारमात्र से ही आत्मा और शरीर का एकपना है, परन्तु निश्चय से एकपना नहीं है; क्योंकि निश्चय से देखा जाये तो, जैसे पीलापन आदि और सफेदी आदि जिनका स्वभाव है, ऐसे सोने और चांदी में अत्यन्त भिन्नता होने से उनमें एकपदार्थपने की असिद्धि है; इसलिए अनेकत्व ही है। इसीप्रकार उपयोग और अनुपयोग जिनका स्वभाव है, ऐसे आत्मा और शरीर में अत्यन्त भिन्नता होने से एकपदार्थपने की असिद्धि है; इसलिये अनेकत्व ही है – ऐसा यह प्रगट नयविभाग है।"

प्रमत्तादि गुणस्थानों की वंदना से चेतन मुनि वन्दित नहीं –

प्रमत्तादिगुणस्थानवन्दना या विधीयते।
न तया वन्दिता सन्ति मुनयश्चेतनात्मकाः ॥९८॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्वय :– या प्रमत्तादि-गुणस्थान-वन्दना विधीयते तया चेतनात्मकाः मुनयः न वन्दिताः सन्ति।

सरलार्थ :– प्रमत्त-अप्रमत्तादि गुणस्थानों से लेकर अयोग केवली पर्यंत गुणस्थानों में विराजमान गुरु तथा परमगुरुओं की स्तुति गुणस्थान द्वारा करने पर भी चेतनात्मक महामुनीश्वरों की वास्तविक स्तुति नहीं होती (केवल जड़ की ही स्तुति होती है।)

भावार्थ :– इस श्लोक में प्रमत्तादि गुणस्थानों की वंदना का अर्थ भावलिंगी मुनिराज तथा परमात्मा की वन्दना या स्तुति ही समझना चाहिए। इस स्तुति को अर्थात् अरहंत तथा साधुओं के प्रमत्तादि गुणस्थानमूलक गुणों की स्तुति को मात्र देह की/अचेतन की स्तुति कहा है। इसे ही व्यवहारनय से की गई स्तुति कहा है। अरहंतादि के गुणों की स्तुति होने पर भी इसे व्यवहार इसलिए कहा है क्योंकि वह स्तुति पर की अर्थात् पराश्रित व भेदमूलक है।

इस विषय को विस्तार से समझने के लिये समयसार गाथा २६ से ३० पर्यंत के प्रकरण को टीका व भावार्थ सहित सूक्ष्मता से पढ़ना चाहिए।

प्रमत्तादि गुणस्थानों की वंदना मात्र पुण्यबंध का कारण –

परं शुभोपयोगाय जायमाना शरीरिणाम्।
ददाति विविधं पुण्यं संसारसुखकारणम्।।९१।।

अन्वय :– परं शुभोपयोगाय जायमाना (प्रमत्तादि-गुणस्थान-वन्दना) शरीरिणां संसारसुखकारणं विविधं पुण्यं ददाति।

सरलार्थ :– परन्तु वह प्रमत्तादि गुणस्थानों की, की गई वंदना उत्कृष्ट शुभोपयोग के लिये निमित्तरूप होती हुई संसारस्थित जीवों को अनेक प्रकार का सर्वोत्तम पुण्य प्रदान करती है, जो उत्कृष्ट संसार सुखों का कारण होती है।

भावार्थ :– निज ज्ञायक आत्मा में मग्नतारूप अवस्था न होने के कारण प्रमत्तादि महापुरुषों के गुणानुराग से की गई स्तुति-वंदना वह शुभोपयोगरूप होने के कारण विशिष्ट पुण्यबन्ध का ही कारण है, धर्म का कारण नहीं है।

व्यवहारस्तुति वीतरागधर्ममय नहीं होने से संवर-निर्जरा का कारण नहीं है; प्रत्युत कर्मबन्ध का कारण है। बंध पाप का होवे या पुण्य का, इनमें बन्ध की अपेक्षा अंतर मानना ही मिथ्यात्व है। आचार्य कुंदकुंद ने समयसार में गाथा १४६ में पुण्य के बन्ध को सोने की बेडी कहा है, जो लोहे की बेडी के समान ही दुःखदायक एवं बन्धन का काम करती है। अतः शुभोपयोग को धर्मस्वरूप नहीं मानना चाहिए।

पुण्य-पाप के यथार्थ स्वरूप-बोध के लिये समयसार के पुण्यपाप अधिकार का अध्ययन अवश्य करें।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

देह की स्तुति से आत्मा की स्तुति नहीं होती –

नाचेतने स्तुते देहे स्तुतोऽस्ति ज्ञानलक्षण:।
न कोशे वर्णिते नूनं सायकस्यास्ति वर्णना॥१००॥

अन्वय :– अचेतने देहे स्तुते ज्ञानलक्षण: (जीव:) स्तुत: न अस्ति यथा कोशे वर्णिते नूनं सायकस्य वर्णना न अस्ति।

सरलार्थ :– अचेतन देह की स्तुति करने पर जीव की स्तुति नहीं होती; क्योंकि म्यान के सौंदर्य का वर्णन करने से म्यान के भीतर रहनेवाली तलवार का वर्णन नहीं होता।

भावार्थ :– इसीप्रकार का भाव समयसार गाथा-३० में भी आया है। अन्तर मात्र इतना है कि यहाँ म्यान व तलवार का उदाहरण दिया गया है और वहाँ नगर व राजा का। उस मूल गाथा का अर्थ इसप्रकार है – "जैसे नगर का वर्णन करने पर भी राजा का वर्णन नहीं किया जाता, उसीप्रकार शरीर के गुण का स्तवन करने पर केवली के गुणों का स्तवन नहीं होता।"

लक्षण ही भेदज्ञान का सच्चा साधन –

यत्र प्रतीयमानेऽपि न यो जातु प्रतीयते।
स तत: सर्वथा भिन्नो रसाद् रूपमिव स्फुटम्॥१०१॥
काये प्रतीयमानेऽपि चेतनो न प्रतीयते।
यतस्ततस्ततो भिन्नो न भिन्नो ज्ञानलक्षणात्॥१०२॥

अन्वय :– य: यत्र प्रतीयमानेअपि न जातु प्रतीयते स: तत: स्फुटं सर्वथा भिन्न: (भवति) रसात् रूपम् इव।

यत: काये प्रतीयमाने अपि चेतन: न प्रतीयते तत: (चेतन:) तत: (कायात्) भिन्न: (अस्ति)। (चेतन:) ज्ञान-लक्षणात् भिन्न: न (अस्ति)।

सरलार्थ :– जो जिसमें प्रतीयमान होनेपर भी उसमें वह स्पष्ट प्रतीत नहीं होता, वह जिसमें प्रतीयमान हो रहा है, उससे सर्वथा भिन्न होता है; जैसे रस से रूप भिन्न होता है।

चूँकि देह में चेतन प्रतीयमान होनेपर भी चेतन कभी देह में स्पष्ट प्रतीत नहीं होता, इसलिए वह चेतन देह से भिन्न है; परंतु अपने ज्ञान-लक्षण से कभी भी भिन्न नहीं होता।

भावार्थ :– जिसप्रकार स्कन्धरूप पुद्गल के रस में रूप प्रतीयमान (प्रतिभासमान) होते हुए भी वहाँ कभी स्पष्ट प्रतीत (प्रतिभासित) नहीं होता और इसलिए रस से रूप भिन्न है – रस, रसना इन्द्रिय का विषय है और रूप, चक्षु इन्द्रिय का विषय है।

उसीप्रकार शरीर में जीवात्मा के प्रतीयमान होने पर भी जीवात्मा वहाँ कभी स्पष्ट रूपसे प्रतीत नहीं होता और इसीलिए पौद्गलिक शरीर से जीवात्मा सर्वथा भिन्न है – शरीर इन्द्रिय गोचर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पौद्‌गलिक है जबकि जीवात्मा अपौद्‌गलिक और स्वसंवेद्य भी है, इन्द्रियगोचर नहीं। शरीर से भिन्न होते हुए भी जीवात्मा अपने **ज्ञानलक्षण से,** जो कि उसका आत्मभूत-लक्षण है, कभी भिन्न नहीं होता।

मुमुक्षु जीवों को भेदविज्ञान के लिये जिनवाणी में कथित प्रत्येक द्रव्य का लक्षण ही उपयोगी होता है। अतः साधक को जिनवाणी में वर्णित द्रव्यों के लक्षणों का ज्ञान करना आवश्यक है। इस श्लोक में जीव का लक्षण चेतना बताया है, जो शरीरादि से अपने को भिन्न जानने के लिये उपयोगी है। प्रत्येक द्रव्य के लक्षण को भी आगमानुसार जानना चाहिए।

इंद्रिय गोचर सब पुद्‌गल हैं –

दृश्यते ज्ञायते किंचिद् यदक्षैरनुभूयते।
तत्सर्वमात्मनो बाह्यं विनश्वरमचेतनम् ॥१०३॥

अन्वय :– अक्षैः यत् किंचित् दृश्यते ज्ञायते अनुभूयते तत् सर्वं आत्मनः बाह्यं विनश्वरं अचेतनं (भवति)।

सरलार्थ :– इन्द्रियों से जो कुछ भी देखा जाता है, जाना जाता है और अनुभव किया जाता है; वह सर्व आत्मा से बाह्य, नाशवान तथा अचेतन है।

भावार्थ :– इस श्लोक में इन्द्रियों द्वारा दृष्ट, ज्ञात तथा अनुभूत पदार्थों के विषय में एक अटल नियम का निर्देश किया गया है, कि ऐसे सब पदार्थ एक तो आत्मबाह्य होते हैं – शुद्ध आत्मा के किसी भी गुण या पर्यायरूप नहीं होते, दूसरे विनश्वर/सदा स्थिर न रहनेवाले होते हैं, तीसरे अचेतन होते हैं। इन्द्रियों का जो कुछ भी विषय है वह सब पौद्‌गलिक अर्थात् अनन्तानन्त पुद्‌गलनिष्पन्न हैं।

पुद्‌गल आत्मा से बाह्य वस्तु है, अचेतन है और पूरण-गलन-स्वभाव के कारण सदा एक अवस्था में स्थिर रहनेवाला नहीं है। परमाणु-रूप में पुद्‌गल इन्द्रियों का विषय ही नहीं और स्कन्धरूप में पुद्‌गल सदा मिलते और बिछड़ते रहते हैं। अतः उक्त नियम एक मात्र पौद्‌गलिक-द्रव्यों से सम्बन्ध रखता है – दूसरे कोई भी द्रव्य इन्द्रियों के विषय नहीं हैं।

रूप का पौद्‌गलिक स्वरूप –

न निर्वृतिं गतस्यास्ति तद्रूपं किंचिदात्मनः।
अचेतनमिदं प्रोक्तं सर्वं पौद्‌गलिकं जिनैः ॥१०४॥

अन्वय :– (अक्षैः यत् दृश्यते ज्ञायते अनुभूयते) तत् किंचित् (अपि) रूपं निर्वृतिं गतस्य आत्मनः न अस्ति। जिनैः इदं सर्वं (रूपं) अचेतनं पौद्‌गलिक प्रोक्तं।

सरलार्थ :– जो इंद्रियों से देखा जाता है, जाना जाता है, और अनुभव में लिया जाता है वह सभी रूप अर्थात् मूर्तिकपना मोक्ष-प्राप्त आत्मा में नहीं है; क्योंकि रूप को जिनेन्द्रदेव ने पुद्‌गलात्मक एवं अचेतन कहा है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– पुद्गल परमाणु अथवा स्कन्ध में स्पर्शादि गुण होने से पुद्गल को रूपी अर्थात् मूर्तिक कहते हैं। संसारी जीव शरीर सहित हैं, अतः उसे भी व्यवहार से रूपी अर्थात् मूर्तिक कहने का व्यवहार रूढ़ है। यहाँ मोक्ष प्राप्त जीव को मूर्त अथवा रूपी कहने का व्यवहार नहीं बन सकता; क्योंकि मुक्त जीव शरीर रहित है।

रागादि भाव कर्मजनित हैं –

विकाराः सन्ति ये केचिद्राग-द्वेष-मदादयः।
कर्मजास्तेऽखिला ज्ञेयास्तिग्मांशोरिव मेघजाः ॥१०५॥

अन्वय :– मेघजाः तिग्म-अंशोः इव (जीवस्य) केचित् राग-द्वेष-मोहादयः विकाराः सन्ति; ते अखिलाः कर्मजाः ज्ञेयाः।

सरलार्थ :– मेघ के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले सूर्य के विकार के समान जीव के राग, द्वेष, मद आदि जो कुछ भी विकार अर्थात् विभाव भाव हैं, वे सब कर्मजनित हैं; ऐसा जानना चाहिए।

भावार्थ :– जिसप्रकार मेघों के उदयादि का निमित्त पाकर सूर्य में विकार उत्पन्न होता है, उसीप्रकार कर्मों के उदय का निमित्त पाकर जीव में राग-द्वेषादि विकार होते हैं, अतः उन्हें कर्मज कहा है।

इस अजीवाधिकार के ही ३५वें श्लोक में देहादि विकारों की बात कही है, वे सब भाव नामकर्मोदयजन्य हैं और इस श्लोक में जिन परिणामों/भावों की चर्चा है, वे सब मोहनीयकर्म के निमित्त से उत्पन्न विभाव भाव हैं। इन दोनों को कर्मज भाव ही कहा है।

प्रश्न :– गोम्मटसार, धवलादि आगम ग्रन्थों में मोह-राग-द्वेषादि भावों को जीव का कहा और यहाँ इस अध्यात्मशास्त्र में उन्हें ही कर्मज अर्थात् पौद्गलिक कहा, इन विभिन्न कथनों का क्या अभिप्राय है?

उत्तर :– आपको प्रश्न उपस्थित होना स्वाभाविक है। आगम ग्रंथों में मोह-राग-द्वेषादि भावों को जीव का बताकर जीव को अपने अपराध का बोध कराया है। मोहादि भाव का कर्ता अशुद्ध निश्चयनय से जीव ही है, यह समझाया है। अपराध का बोध कराना, यह प्राथमिक कार्य आगम का है, जो महत्वपूर्ण है।

जब जीव को अपराध का बोध हो जाता है और जीव अपराध छोड़ने को तैयार हो जाता है, तब अपराध छोड़ने का उपाय निज शुद्धात्मा का ध्यान ही है, इसका आचार्य ज्ञान कराना चाहते हैं। अतः प्रत्येक जीव स्वभाव से अनादि-अनंत-मोहादि भावों से रहित ही है, यह समझाना चाहते हैं। उस समय मोहादि भाव किसके हैं? ऐसा प्रश्न उपस्थित होना स्वाभाविक है। इसके उत्तर में ये मोहादि विभाव भाव जीव के नहीं है, कर्म निमित्तक औपाधिक भाव हैं, इस अपेक्षा को मुख्य करके कारण में कार्य का उपचार करके पुद्गल के कहे जाते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मा का स्वभाव ही अनादि से शुद्ध है। आजतक जो जीव शुद्ध/मुक्त हो गये हैं, वे सर्व जीव निजशुद्धात्मा के ध्यान से ही सिद्ध हुए हैं। इस विषय का ज्ञान कराना ही अध्यात्म शास्त्रों का मूल प्रयोजन है। अतः इस अध्यात्म-शास्त्र में मोहादि भावों को कर्मजन्य कहा है।

जीव, जीवरूप ही रहता है –

अनादावपि सम्बन्धे जीवस्य सह कर्मणा।
न जीवो याति कर्मत्वं जीवत्वं कर्म वा स्फुटम् ॥१०६॥

अन्वय :– कर्मणा सह जीवस्य अनादौ सम्बन्धे अपि न जीवः कर्मत्वं याति न वा कर्म जीवत्वं (याति एतत्) स्फुटम् (अस्ति)।

सरलार्थ :– कर्म के साथ जीव का अनादिकालीन सम्बन्ध होनेपर भी न तो कभी जीव कर्मपने को प्राप्त होता है न कर्म भी कभी जीवपने को प्राप्त होता है अर्थात् जीव कभी कर्मरूप परिणमित नहीं होता और कर्म भी कभी जीवरूप परिणमित नहीं होता है; यह स्पष्ट ही है।

भावार्थ :– संसारी जीव और ज्ञानावरणादि आठ कर्म – दोनों अनादिकाल से साथ-साथ रह रहे हैं; तथापि दोनों कभी अपना स्वरूप छोड़कर अन्य द्रव्यरूप नहीं हुए हैं। इस अनादिकालीन परमसत्य को आचार्य यहाँ बता रहे हैं।

इस विश्व में जीव अनंत, पुद्गल अनंतानंत, धर्म-अधर्म-आकाश द्रव्य मात्र एक-एक और कालद्रव्य असंख्यात हैं। वे सर्व द्रव्य आपस में घुल-मिलकर अनादिकाल से रहते आये हैं; लेकिन उनका परस्पर में परिवर्तन कभी हुआ ही नहीं, भविष्य में होगा भी नहीं और वर्तमानकाल में भी नहीं हो रहा है। इस परम सत्य का ज्ञान आचार्य ने इस श्लोक में कराया है।

प्रश्न :– श्लोक में मात्र जीव और कर्म ही आपस में बदलते नहीं, यह विषय बताया है; आप सर्व द्रव्यों पर क्यों घटित कर रहे हैं ?

उत्तर :– जीव और कर्म का अनादिकाल से परस्पर निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने पर भी वे परस्पर में बदलते नहीं; यह विषय तो मात्र उपलक्षणरूप में बता दिया है। एक द्रव्य अन्य द्रव्यरूप नहीं होता, यह विषय तो अनंत जिनेंद्र भगवन्तों ने अनादिकाल से अनंत बार बताया है और भविष्य में भी अनंत जिनेंद्र नियम से बतायेंगे ही। प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने लक्षण से स्वयं स्वतःसिद्ध और स्वतंत्र हैं और भविष्य में स्वतंत्र ही रहेंगे, यह जिनधर्म का मूल प्राण है। जो इस विषय को स्पष्ट और निर्णयात्मक नहीं जानता, वह सर्वज्ञ भगवान का भी श्रद्धालु नहीं है, ऐसा समझना चाहिए।

आत्मा को द्रव्यकर्म का कर्ता मानने पर दोषापत्ति –

आत्मना कुरुते कर्म यद्यात्मा निश्चितं तदा।
कथं तस्य फलं भुङ्क्ते स दत्ते कर्म वा कथम् ॥१०७॥

अन्वय :– यदि निश्चितं आत्मा आत्मना कर्म कुरुते तदा सः तस्य (कर्मणः) फलं कथं भुङ्क्ते वा कर्म कथं (फलं) दत्ते ?

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :– यदि यह निश्चितरूप से माना जाय कि आत्मा आत्मा के द्वारा अर्थात् अपने ही उपादान से कर्म को करता है तो फिर वह उस कर्म के फल को कैसे भोगता है? और वह कर्म आत्मा को फल कैसे देता है?

भावार्थ :– पंचास्तिकाय संग्रह गाथा ६३ में उक्त विषय को बताया है। यदि पूर्व श्लोक वर्णित सिद्धान्त के विरुद्ध निश्चित रूप से यह माना जाय कि आत्मा अपने उपादान से द्रव्यकर्म का कर्ता है अर्थात् स्वयं ही ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मरूप परिणत होता है तो फिर यह प्रश्न पैदा होता है कि वह आत्मा उस कर्मफल को कैसे भोगता है और वह कर्म उस आत्मा को फल कैसे देता है? दोनों के एक ही होने पर फलदान और फलभोग की बात नहीं बन सकती।

कर्म-निमित्तक औदयिकादि सब भाव अचेतन –

(रथोद्धता)

कर्मणामुदयसंभवा गुणाः शामिकाः क्षयशमोद्भवाश्च ये।
चित्रशास्त्रनिवहेन वर्णितास्ते भवन्ति निखिला विचेतनाः ॥१०८॥

अन्वय :– ये गुणाः (भावाः) कर्मणां-उदय-संभवाः, शामिकाः, च क्षयशमः-उद्भवाः (सन्ति) ते अखिलाः चित्र-शास्त्र-निवहेन विचेतनाः वर्णिताः भवन्ति।

सरलार्थ :– जो गुण अर्थात् भाव, कर्मों के उदय से उत्पन्न होने के कारण औदयिक हैं, कर्मों के उपशमजन्य होने से औपशमिक हैं तथा कर्मों के क्षयोपशम से प्रादुर्भूत होने के कारण क्षायोपशमिक हैं, वे सब भाव विविध शास्त्र-समूह द्वारा चेतना विरहित/अचेतन वर्णित हैं। अर्थात् अनेक शास्त्रों में उन्हें अचेतन कहा है।

भावार्थ :– कर्मों के उदय से औदयिक, उपशम से औपशमिक, क्षयोपशम से उत्पन्न होनेवाले भावों को क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। ये सब भाव कर्म सापेक्ष होने से जीव के स्वभावरूप नहीं हैं; अतः इन्हें अचेतन बताया गया है। एक मात्र अनादि-अनंत पारिणामिक भाव को जीव का कहने की यहाँ विवक्षा है; क्योंकि वही एक भाव ध्यान का ध्येय है, अध्यात्म का प्राणभूत विषय है।

द्रव्यकर्म के उदयादि-निमित्त को पाकर उत्पन्न होनेवाले ये आत्मा के विभाव भाव हैं – स्वभाव-भाव तो एक मात्र पारिणामिक भाव है, जो अनादि-निधन स्वतःसिद्ध तथा निरुपाधि होता है। क्षायिकभाव स्वभाव की व्यक्तिरूप होने से अविनाशी होते हुए भी सादि है; क्योंकि कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है और इसी से उसे भी कर्मकृत कहा जाता है।

नियमसार गाथा-४१ की टीका का उपसंहार करते हुए टीकाकार मुनि पद्मप्रभमलधारी देव लिखते हैं कि – ''पूर्वोक्त चार भाव आवरण संयुक्त होने से मुक्ति का कारण नहीं है। त्रिकाल-निरुपाधि जिसका स्वरूप है ऐसे निरंजन निज परम पंचम भाव (पारिणामिक भाव) की भावना से मुमुक्षु पंचमगति में (वर्तमान काल में) जाते हैं, (भविष्यकाल में) जायेंगे और (भूतकाल में) जाते थे।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अजीव तत्त्व जानने की अनिवार्यता –

(उपजाति)

अजीवतत्त्वं न विदन्ति सम्यक् ये जीवतत्त्वाद्विधिना विभक्तम्।
चारित्रवन्तोऽपि न ते लभन्ते विविक्तमात्मानमपास्तदोषम्।।१०९।।

अन्वय :– ये अजीवतत्त्वं जीवतत्त्वात् विधिना विभक्तं सम्यक् न विदन्ति ते चारित्रवन्तः अपि अपास्त-दोषं विविक्तं आत्मानं न लभन्ते।

सरलार्थ :– जो लोग जीवतत्त्व से भिन्नरूप अजीवतत्त्व को शास्त्रोक्त रीति से/यथार्थरूप से नहीं जानते, वे जिनेंद्र-कथित व्यवहारचारित्र के पालन से चारित्रवन्त होते हुए भी विविक्त अर्थात् अनादि से पवित्र और सर्वथा निर्दोष निज जीवतत्त्व को प्राप्त नहीं होते।

भावार्थ :– इस पद्य में अजीवाधिकार का उपसंहार करते हुए अजीव-तत्त्व के यथार्थ परिज्ञान का महत्त्व ख्यापित किया गया है। जबतक इस अजीवतत्त्व का यथार्थ परिज्ञान नहीं होता है, तबतक आत्मा को अपने शुद्धरूप की उपलब्धि नहीं होती, चाहे वह कितना भी तपश्चरण क्यों न करें।

यहाँ अजीव-तत्त्व का **जीवतत्त्वाद्विधिना विभक्तं** यह विशेषण अपना खास महत्त्व रखता है और इस बात को सूचित करता है कि अजीव-तत्त्व, जीव-तत्त्व के मात्र अभावरूप नहीं है, किन्तु अपने अस्तित्व को लिये हुए एक पृथक् तत्त्व है और वह मुख्यतः वह तत्त्व है जो जीव के साथ एकक्षेत्र-अवगाहरूप होते हुए भी उससे सदा पृथक् रहता है और जीव के विभाव-परिणमन में निमित्तकारण पड़ता है।

वह पुद्गलद्रव्य है जो कर्म के रूप में जीव के साथ अनादि-सम्बन्ध को लिये हुए हैं और वर्तमान में शरीर के रूप में अनेक स्वजनादि के सम्बन्ध को लिये हुए हैं। उसको ठीक न समझने से ही आत्मा के स्वरूप में भ्रान्ति बनी रहती है और इसी से उसकी उपलब्धि नहीं हो पाती। विविक्तात्मा के रूप में स्वरूप की उपलब्धि ही इस ग्रन्थ का मुख्य ध्येय है, जिसे ग्रन्थ के मंगलाचरण में 'स्वस्वभावोपलब्धये' पद के द्वारा व्यक्त किया गया है।

इसप्रकार श्लोक क्रमांक ६० से १०९ पर्यन्त ५० श्लोकों में यह दूसरा 'अजीव-अधिकार' पूर्ण हुआ।

●●●

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

३

आस्रव-अधिकार

आस्रव का सामान्य कारण –

शुभाशुभोपयोगेन वासिता योग-वृत्तयः।
सामान्येन प्रजायन्ते दुरितास्रव-हेतवः॥११०॥

अन्वय :– शुभ-अशुभ-उपयोगेन वासिताः योग-वृत्तयः सामान्येन दुरितास्रव-हेतवः प्रजायन्ते।

सरलार्थ :– शुभ तथा अशुभ उपयोग से रंजित अर्थात् शुभाशुभभावों में लगे हुए ज्ञान-दर्शन परिणाम से रंजित जो मन-वचन-कायरूप योगों की प्रवृत्तियाँ हैं, वे सामान्य से पापरूप (पुण्य-पाप) कर्मों के आस्रव का कारण होती हैं।

भावार्थ :– यह योगसार प्राभृत अध्यात्म शास्त्र है। अतः इसमें शुभाशुभ उपयोग से संस्कारित योगों को पाप का कारण कहा है। यहाँ पुण्य और पाप – दोनों को पाप ही कहा है। वास्तव में देखा जाय तो संसार के कारणरूप कर्मों को पुण्यरूप कहा ही नहीं जा सकता। इस कारण समयसार में पुण्य-पाप अधिकार की प्रथम गाथा में भी आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रश्न पूछा कि **"कह तं होदि सुशीलं जं संसारं पवेसेदि ?"** वह कर्म सुशील कैसे हो सकता है, जो जीव को संसार में प्रवेश कराता है?

आचार्य समंतभद्र जो आद्य श्रावकाचार के प्रणेता हैं, उन्होंने भगवान की स्तुति करते समय स्वयम्भूस्तोत्र में भी कहा है – "**दुरितमलकलङ्कमष्टकं निरूपम-योगबलेन निर्दहन्।** – आपने पापरूप ज्ञानावरणादि आठ कर्मों को अपने अनुपम शुक्लध्यान के बल से नष्ट कर दिया है।"

आचार्य उमास्वामी ने व्रत के कारण होनेवाले पुण्यास्रव को तत्त्वार्थसूत्र के आस्रव अधिकार में स्थान दिया है। अतः पुण्य को मोक्ष का कारण माननेरूप भ्रम का निराकरण प्रत्येक साधक को होना ही चाहिए। मात्र योग से होनेवाले ईर्यापथास्रव को यहाँ गौण किया गया है।

आस्रव के विशेष कारण –

मिथ्यादृक्त्वमचारित्रं कषायो योग इत्यमी।
चत्वारः प्रत्ययाः सन्ति विशेषेणाघसंग्रहे॥१११॥

अन्वय :– मिथ्यादृक्त्वं, अचारित्रं, कषायः (च) योगः इति अमी चत्वारः विशेषेण अघसंग्रहे प्रत्ययाः सन्ति।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :– मिथ्यादर्शन, असंयम, कषाय और योग – ये चार परिणाम पाप के आस्रव में विशेषरूप से कारण हैं।

भावार्थ :– कर्म के आस्रव और बन्ध के कारण सामान्यतः एक ही प्रकार से यहाँ कहे गये हैं। समयसार गाथा १०९ और गोम्मटसार कर्मकाण्ड की गाथा ७८६ में भी ये ही कारण कहे गये हैं, जिन्हें हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं।

समयसार की १०९वीं गाथा इसप्रकार है :–

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा॥

गाथार्थ :– निश्चय से चार सामान्य प्रत्यय बन्ध के कर्ता कहे जाते हैं; वे मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग जानना।

और गोम्मटसार कर्मकाण्ड की ७८६वीं गाथा का पूर्वार्द्ध निम्नप्रकार है –

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य आसवा होंति।

गाथार्थ :– मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग – ये चार मूल आस्रव हैं।

तत्त्वार्थ सूत्र (अध्याय ८, सूत्र १) में भी इन्हीं के साथ प्रमाद को पृथक् करते हुए बंध के पाँच हेतु कहे गये हैं – '**मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः।**' अन्यत्र प्रमाद को कषाय में गर्भित किया जाता है।

इनमें से मिथ्यात्वादि चारों परिणामों को मोह अथवा मोह-राग-द्वेष अथवा कषाय भी कहा जाता है।

इन सब कारणों में मिथ्यात्व अर्थात् दर्शन मोह परिणाम ही प्रधान है। चारित्रमोह के परिणाम को ही असंयम (अविरमण), प्रमाद और कषाय के रूप में कहा गया है।

विपरीत मान्यता अर्थात् वस्तुस्वरूप के विरुद्ध मान्यता को मिथ्यात्व कहते हैं। निजात्मस्वरूप के अज्ञान से पर में अहंकार-ममकार ही मिथ्यात्व है। जीवादि सात तत्त्वों के अन्यथा श्रद्धान को मिथ्यात्व कहते हैं। यथार्थ देव-शास्त्र-गुरु को न मानकर रागी-द्वेषी देवी-देवताओं को मानना भी गृहीत मिथ्यात्व कहलाता है। मिथ्यात्व के स्वरूप को विशेष जानने के लिए पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट से प्रकाशित, 'गुणस्थान-विवेचन' पुस्तक के मिथ्यात्व गुणस्थानवाले प्रकरण को देखना लाभदायक होगा।

पाँच इंद्रिय व मन के विषयों से तथा षट्कायिक जीवों के घात से विरत न होना ही अविरति है। पाँच इन्द्रिय, चार विकथा, चार कषाय, निद्रा व स्नेह – इन पंद्रह भेदों को प्रमाद कहा जाता है। अनन्तानुबन्धी आदि के भेद से क्रोधादि के सोलह भेद व हास्यादि नौ-नोकषायों को ही कषाय कहते हैं। मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को योग कहते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मिथ्यात्व वृद्धि का कारण –

सचित्ताचित्तयोर्यावद्द्रव्ययो: परयोरयम्।
आत्मीयत्व-मतिं धत्ते तावन्मोहो विवर्धते॥११२॥

अन्वय :– यावत् अयं (जीव:) सचित्त-अचित्तयो: परयो: द्रव्ययो: आत्मीयत्व-मतिं धत्ते तावत् मोह: विवर्धते।

सरलार्थ :– जब तक यह जीव चेतन-अचेतनरूप पर-पदार्थों में निजत्वबुद्धि/अपनेपन की बुद्धि रखता है अर्थात् पर पदार्थों को अपना समझता है, तब तक इस जीव का मोह अर्थात् मिथ्यात्व बढ़ता रहता है।

भावार्थ :– अज्ञानी को अपने आत्म-स्वरूप का यथार्थ श्रद्धान तथा ज्ञान न होने से वह पर में अहंबुद्धि करता है, यह अहंबुद्धि ही मिथ्यात्व को बढ़ाती रहती है। ऐसा ही भाव आचार्य कुंदकुंद ने समयसार शास्त्र की गाथा २० में निम्नानुसार बताया है –

अहमेदं एदमहं अहमेदस्स म्हि अत्थि मम एदं।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा॥

गाथार्थ :– जो पुरुष अपने से अन्य जो परद्रव्य सचित्त स्त्री पुत्रादिक, अचित्त धनधान्यादिक अथवा मिश्र ग्रामनगरादिक हैं – उन्हें यह समझता है कि मैं यह हूँ, यह द्रव्य मुझ स्वरूप है। (ऐसा झूठा आत्मविकल्प करनेवाला मोही है, मूढ़ है, अज्ञानी है।)

सात व्यसन एवं अति तीव्र हिंसादि पापों से नरक में गमन होता है और विपरीत मान्यतारूप श्रद्धान अर्थात् मिथ्यात्व, जो सातों व्यसनों से भी बड़ा पाप है – उससे जीव का गमन निगोद अवस्था में होता है। इतना ही नहीं अनंत संसार का कारण दर्शनमोह/मिथ्यात्व कर्म समय-समय बढ़ता ही रहता है।

मिथ्यात्वरूप पाप का फल –

तेषु प्रवर्तमानस्य कर्मणामास्रव: पर:।
कर्मास्रव-निमग्नस्य नोत्तारो जायते तत:॥११३॥

अन्वय :– तेषु (सचित्त-अचित्त-परद्रव्येषु) प्रवर्तमानस्य (जीवस्य) कर्मणाम् पर: आस्रव: (जायते)। तत: कर्मास्रव-निमग्नस्य (जीवस्य) उत्तार: न जायते।

सरलार्थ :– चेतन-अचेतनरूप पर-पदार्थों में अपनेपन की बुद्धि से प्रवृत्ति को प्राप्त जीव को कर्मों का महा आस्रव होता है। इसलिए जो कर्मों के महा आस्रवों में डूबा रहता है, उस जीव का संसार से उद्धार नहीं हो सकता।

भावार्थ :– चारित्रमोहनीय कर्मोदय के निमित्त से होनेवाले क्रोधादिरूप परिणामों के कारण जीव को अधिक से अधिक मात्र ४० कोडाकोडी सागर का ही स्थितिबन्ध होता है। दर्शनमोहनीय

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थात् मिथ्यात्व परिणाम के कारण जीव प्रतिसमय ७० कोडाकोडी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबंध करता है।

संक्षेप में बताना हो तो मात्र अचारित्ररूप क्रोधादि परिणामों से जीव संसार में मात्र अटकता है, उसका संसार से निकलना देरी से सही लेकिन निश्चित है। श्रद्धा की विपरीतता अर्थात् मिथ्यात्व के कारण ही जीव अनादिकाल से भटक रहा है और जबतक श्रद्धा यथार्थ नहीं होगी, तबतक भविष्य में भी अनन्तकाल पर्यन्त भटकता ही रहेगा। सम्यक्त्व की प्राप्ति से ही भटकना बंद होगा, अतः जीव का प्रमुख कर्त्तव्य सम्यक्त्व प्राप्त करना ही है। श्रद्धा में सुधार अर्थात् समीचीनपना ही संसार से उद्धार का प्रारम्भ है।

मिथ्यात्व-रक्षक परिणाम –

मयीदं कार्मणं द्रव्यं कारणेऽत्र भवाम्यहम्।
यावदेषा मतिस्तावन्मिथ्यात्वं न निवर्तते॥११४॥

अन्वय :– इदं कार्मणं द्रव्यं मयि (अस्ति)। अत्र कारणे अहं (निमित्तः) भवामि। (इत्थं) यावत् (जीवस्य) एषा मतिः (भवति) तावत् मिथ्यात्वं न निवर्तते।

सरलार्थ :– कर्मजनित ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, मोह-राग-द्वेषादि भावकर्म और शरीरादि नोकर्मरूप पदार्थसमूह मुझ में है, इन द्रव्यकर्मादिक का कारण मैं हूँ; यह बुद्धि जबतक जीव की बनी रहती है, तबतक मिथ्यात्व नहीं छूटता।

भावार्थ :– आत्मा मात्र ज्ञाता ही है; यह स्वीकृति ही मिथ्यात्व को भगाने का मूलभूत उपाय है। ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, मोहादि भावकर्म और शरीरादि नोकर्मों का मैं ज्ञाता ही हूँ। इनका आत्मा कर्ता-हर्ता अथवा कारण नहीं है, ऐसा निर्णय आवश्यक है। इस विषय का खुलासा समयसार गाथा १९ एवं उसकी टीका तथा भावार्थ में आया है, वहाँ से अवश्य देखें।

आचार्य अमृतचन्द्र भी पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक १४ में लिखते हैं –

"एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम्॥

श्लोकार्थ :– इसप्रकार यह आत्मा कर्मकृत रागादि अथवा शरीरादि भावों से संयुक्त न होने पर भी अज्ञानी जीवों को संयुक्त जैसा प्रतिभासित होता है और वह प्रतिभास ही निश्चय से संसार का बीज है।"

मिथ्यात्व-पोषक परिणाम –

आसमस्मि भविष्यामि स्वामी देहादि-वस्तुनः।
मिथ्या-दृष्टेरियं बुद्धिः कर्मागमन-कारिणी॥११५॥

अन्वय :– (अहं) देहादि-वस्तुनः स्वामी आसम्, अस्मि, भविष्यामि – मिथ्यादृष्टेः इयं बुद्धिः कर्मागमन-कारिणी (भवति)।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :– 'ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, मोह-राग-द्वेषादि भावकर्म एवं शरीरादि नोकर्मरूप वस्तुओं का पहले अर्थात् भूतकाल में मैं स्वामी था, इन वस्तुओं का वर्तमानकाल में मैं स्वामी हूँ और आगे भविष्यकाल में मैं स्वामी होऊँगा'; मिथ्यादृष्टि की यह बुद्धि कर्मों का आस्रव करानेवाली है।

भावार्थ :– इस श्लोक के भाव को स्पष्ट जानने के लिए समयसार गाथा २१ एवं २२ तथा इनकी हिन्दी टीका अत्यन्त उपयोगी है, उसे अवश्य देखें। इन गाथाओं का मात्र अर्थ यहाँ दे रहे हैं –

"(जो पुरुष अपने से अन्य परद्रव्यों में) यह मेरा पहले था, इसका मैं भी पहले था, यह मेरा भविष्य में होगा, मैं भी इसका भविष्य में होऊँगा – ऐसा झूठा आत्मविकल्प करता है, वह मूढ़ है – मोही है – अज्ञानी है और जो पुरुष परमार्थ वस्तुस्वरूप को जानता हुआ ऐसा झूठा विकल्प नहीं करता वह मूढ़ नहीं ज्ञानी है।"

भूतकाल के विपरीत परिणामों से जिसे मिथ्यात्व कर्म का बन्ध हो गया है और वर्तमानकाल में व भविष्यकाल के लिये भी जो बाधक सिद्ध हो रहा है; उस मिथ्यात्व का क्षय करने हेतु निज शुद्धात्मा का आश्रयरूप पुरुषार्थ करना ही एकमात्र उपाय है, अन्य कोई नहीं।

मिथ्यात्व ही आस्रव का प्रमुख कारण –

चेतनेऽचेतने द्रव्ये यावदन्यत्र वर्तते।
स्वकीयबुद्धितस्तावत्कर्मागच्छन् न वार्यते ॥११६॥

अन्वय :– यावत् (अज्ञानी जीवः) चेतने अचेतने द्रव्ये स्वकीयबुद्धितः वर्तते तावत् कर्म-आगच्छन् न वार्यते।

सरलार्थ :– जब तक अज्ञानी अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव, चेतन अथवा अचेतन किसी भी परद्रव्य में अपनेपन की बुद्धि से प्रवृत्ति करता है अर्थात् पर में अपनत्व की मान्यता रखता है तबतक अष्ट कर्मों के आस्रव को रोका नहीं जा सकता।

भावार्थ :– पर में अपनत्व रखते हुए अज्ञानी जीव २८ मूलगुणों का पालन करे, कठिन से कठिन तपश्चरण करे, अन्य कोई महादुर्लभ पुण्य-परिणाम करे, परोपकार करता रहे; तथापि पर में अपनत्वरूप/विपरीत मान्यतारूप मिथ्यात्व से अनंत संसार के कारण ऐसे कर्म का आस्रव रोकना असम्भव ही है। मिथ्यात्व के अभावपूर्वक यथार्थ श्रद्धारूप सम्यक्त्व की प्राप्ति से धर्म का प्रारंभ होता है।

नय-सापेक्ष आत्मा का कर्तापना –

शुभाशुभस्य भावस्य कर्तात्मीयस्य वस्तुतः।
कर्तात्मा पुनरन्यस्य भावस्य व्यवहारतः ॥११७॥

अन्वय :– आत्मा वस्तुतः आत्मीयस्य शुभ-अशुभस्य भावस्य कर्ता (अस्ति)। पुनः व्यवहारतः अन्यस्य भावस्य कर्ता (अस्ति)।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :– आत्मा निश्चय से अपने शुभ तथा अशुभ भाव/परिणाम का कर्ता है और व्यवहार से पर द्रव्य के भाव का कर्ता है।

भावार्थ :– यहाँ शुभाशुभभाव का कर्ता आत्मा को कहना, यह अशुद्धनिश्चयनय अथवा उपचरित सद्भूत व्यवहारनय का कथन समझना और आत्मा को परद्रव्य का कर्ता कहना उपचरित असद्भूत व्यवहारनय का कथन समझना चाहिए।

कर्ता-कर्म के सम्बन्ध में जिनवाणी में विभिन्न अपेक्षाओं से अनेक प्रकार के कथन मिलते हैं, जैसे,– १. प्रत्येक द्रव्य अपने में उत्पन्न होनेवाली पर्याय का कर्ता है। २. प्रत्येक गुण अपने में होनेवाले परिणमन का कर्ता है। ३. आत्मा अपने में उत्पन्न होनेवाले रागादि विकारी भावों का कर्ता है। ४. ज्ञानी आत्मा अपने वीतरागी परिणमन का कर्ता है। ५. वीतराग परिणाम अपने काल में स्वतंत्र उत्पन्न होता है। ६. पर्याय न द्रव्य से होती है न गुण में से उत्पन्न होती है, परंतु पर्याय अपने ही षट्कारक के कारण अपने काल में स्वतंत्र होती है। ७. व्यवहारनय की अपेक्षा से आत्मा परद्रव्य के परिणमन का भी कर्ता कहलाता है।

इन सब अपेक्षाओं को यथास्थान-यथायोग्य समझकर अपने में ज्ञाताभाव/वीतरागभाव प्रगट करने का प्रयास करना चाहिए।

जीव-परिणाम व कर्मोदय में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध –

श्रित्वा जीव-परीणामं कर्मास्रवति दारुणम्।
श्रित्वोदेति परीणामो दारुणः कर्म दारुणम्॥११८॥

अन्वय :– जीव-परीणामं श्रित्वा दारुणं कर्म आस्रवति, (च) दारुणं कर्म श्रित्वा दारुणः परीणामः उदेति।

सरलार्थ :– जीव के परिणामों का आश्रय करके अत्यंत भयंकर अर्थात् अतिदुःखद कर्म आस्रव को प्राप्त होते हैं और अत्यंत भयंकर दुःखद कर्मों के उदय का आश्रय करके जीव के भी अत्यंत दुःखद परिणाम उदित होते हैं।

भावार्थ :– यहाँ आश्रय शब्द का अर्थ निमित्त है। जीव के परिणाम व कर्मों का परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को ही इस श्लोक में स्पष्ट किया है।

जीव के मोह-राग-द्वेषादि विभाव परिणामों का निमित्त पाकर दुःखद कर्मों का आस्रव होता है और दुःखद कर्मों के उदय के निमित्त से जीव के दुःखद परिणामों का उदय होता है।

जो पदार्थ स्वयं कार्यरूप तो न परिणमे, परन्तु कार्य की उत्पत्ति में अनुकूल होने का आरोप जिस पर आ सके, उस पदार्थ को निमित्त कारण कहते हैं। जैसे घट की उत्पत्ति में कुम्भकार, दण्ड, चक्र आदि।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जब उपादान स्वतः कार्यरूप परिणमता है, तब भावरूप या अभावरूप किस उचित (योग्य) निमित्त कारण का उसके साथ सम्बन्ध है - यह बताने के लिये उस कार्य को नैमित्तिक कहते हैं। इस तरह से भिन्न पदार्थों के इस स्वतंत्र सम्बन्ध को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कहते हैं।

निमित्त-नैमित्तिक संबंध परतन्त्रता का सूचक नहीं है, किन्तु नैमित्तिक के साथ कौन निमित्तरूप पदार्थ है; उसका ज्ञान कराता है। जिस कार्य को निमित्त की अपेक्षा नैमित्तिक कहा है, उसी को उपादान की अपेक्षा उपादेय भी कहते हैं।

वास्तव में सोचा जाय तो ब्रह्मद्वैतवाद नाम का एक मत अर्थात् दुनिया में एक मात्र ब्रह्म ही है, अन्य जो कुछ देखने-जानने में आनेवाले पदार्थ हैं, वे हैं ही नहीं; भ्रम से अज्ञान सें ब्रह्म (आत्मा) को छोड़कर कुछ है – ऐसा लगता है। इस मत के निराकरण के लिए पुद्गलादि पदार्थों के साथ जीव का निमित्त-नैमित्तिक संबंध का ज्ञान कृपाशील आचार्यों ने कराया है। मूल अभिप्राय गायब हो गया और निमित्तभूत वस्तु को कर्ता समझने की विपरीतता बुद्धि में स्वीकृत हो गयी।

निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध मात्र दो पर्यायों में होता है –

कार्य-कारण-भावोऽयं परिणामस्य कर्मणा।
कर्म-चेतनयोरेष विद्यते न कदाचन॥११९॥

अन्वय :– (पूर्वोक्तम्) अयं परिणामस्य कार्य-कारण-भावः (जीवस्य) कर्मणा (सह विद्यते)। एषः (कार्य-कारण-भावः) कर्म-चेतनयोः कदाचन न विद्यते।

सरलार्थ :– संसारी जीव के मोह-राग-द्वेषादि परिणामों के साथ ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध विद्यमान है; परंतु कार्माणवर्गणारूप पुद्गलद्रव्य का अनादि-निधन/त्रिकाली चेतन स्वभाव के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है।

भावार्थ :– इस श्लोक में आचार्य निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध दो द्रव्यों के मात्र वर्तमानकालीन दो पर्यायों में घटित होता है, यह महत्त्वपूर्ण नियम बता रहे हैं। उदाहरण में कार्माण-वर्गणा को द्रव्यस्वरूप लिया और साथ में जीव द्रव्य को लिया है; जिनमें निमित्त-नैमित्तिकपन घटित नहीं होता, यह विषय स्पष्ट किया है।

इसी तरह जहाँ धर्मादि चारों द्रव्यों को जो गमनादि कार्यों में निमित्त बताया है, वहाँ भी विशिष्ट पर्याय परिणत धर्मादि द्रव्य को और गमनादि क्रियारूप परिणत जीव-पुद्गल को ही लेना आवश्यक है।

अध्यापक विद्यार्थी के ज्ञान के विकास में निमित्त है इसका अर्थ भी पढ़ानेरूप पर्याय से परिणत अध्यापक और पढ़ने के परिणाम से परिणत विद्यार्थी को ही ग्रहण करना चाहिए; मात्र दोनों जीव द्रव्यों को लेकर निमित्त-नैमित्तिकपना घटित नहीं करना चाहिए – क्योंकि दो द्रव्यों में निमित्त नैमित्तिकपना घटित होता ही नहीं, मात्र वर्तमानकालीन पर्यायों में ही घटित होता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कर्म को जीव का कर्ता मानने पर आपत्ति –

आत्मानं कुरुते कर्म यदि कर्म तदा कथम्।
चेतनाय फलं दत्ते भुङ्क्ते वा चेतनः कथम्॥१२०॥

अन्वय :– **यदि कर्म आत्मानं कुरुते तदा कर्म चेतनाय फलं कथं दत्ते ? वा चेतनः (कर्म-फलं) कथं भुङ्क्ते ?**

सरलार्थ :– यदि कर्म (अपने उपादान से) स्वयं को करता है तो फिर कर्म, चेतन-आत्माको फल कैसे देता है? और चेतनात्मा उस फलको कैसे भोगता है? - ये दोनों बातें फिर बनती ही नहीं।

भावार्थ :– पिछले श्लोक में यह बतलाया गया है कि सचेतन जीव और अचेतन द्रव्य कर्म में परस्पर कार्य-कारण भाव नहीं है। यदि दोनों में कार्य-कारण भाव माना जाय – जीव को अपने उपादान से कर्म का और कर्म को अपने उपादान से जीव का कर्ता माना जाय तो इन दोनों ही विकल्पों में यह प्रश्न पैदा होता है कि कर्म जीव को फल कैसे देता है और जीव उसके फल को कैसे भोग सकता है? उपादान की दृष्टि से दोनों के एक होने पर फलदाता और फलभोक्ता की बात नहीं बनती। इनमें-से एक विकल्प का उल्लेख करके यहाँ जो आपत्ति की गयी है वही दूसरे विकल्प का उल्लेख करके ग्रन्थ के द्वितीय अधिकार में श्लोक नं. ४८ के द्वारा की गयी है।

एक के किये हुए कर्म के फल को दूसरे के द्वारा भोगने पर आपत्ति –

परेण विहितं कर्म परेण यदि भुज्यते।
न कोऽपि सुख-दुःखेभ्यस्तदानीं मुच्यते कथम्॥१२१॥

अन्वय :– **परेण (जीवेन) विहितं कर्म यदि परेण (जीवेन) भुज्यते, तदानीं कोऽपि (जीवः) सुख-दुःखेभ्यः कथं मुच्यते ? (न मुच्यते)।**

सरलार्थ :– परजीव के किये हुए कर्म को अर्थात् कर्म के फल को यदि दूसरा जीव भोगता है तो फिर कोई भी जीव सुख-दुःख से अर्थात् संसार से कैसे मुक्त हो सकता है? अर्थात् कोई भी जीव संसार से मुक्त नहीं हो सकता। अतः प्रत्येक जीव अपने किये हुए कर्म-फल का ही भोक्ता है; यह परम सत्य है।

भावार्थ :– यहाँ 'करे कोई और भरे कोई' के सिद्धान्त का उल्लेख करके उसे दूषित ठहराया गया है – लिखा है कि यदि एक के किये हुए कर्म का फल दूसरा भोगता है तो कोई भी जीव सांसारिक सुख-दुःख से कभी मुक्त नहीं हो सकता; क्योंकि हम अपने सुख-दुःखदाता पूर्वबद्ध कर्म का निरोध तो कर सकते हैं; परन्तु दूसरे करें उन्हें हम कैसे रोक सकते हैं? जब उन दूसरों के किये कर्म का फल भी हमें भोगना पड़े तो हमारा सांसारिक सुख-दुःख से कभी भी छुटकारा नहीं हो सकता। अतः हमें कभी भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए 'करे कोई और भरे कोई' – यह कर्म-फल का सिद्धान्त अज्ञान-मूलक और वस्तु-तत्त्व के विरुद्ध है। आचार्य अमितगति ने ही भावना बत्तीसी में इसी भाव को निम्न श्लोक में बताया है –

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्वयंकृतं कर्म यदात्मनापुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयंकृतं कर्म निरर्थकं तदा॥

श्लोकार्थ :– पहले स्वयं किये हुए शुभाशुभ कर्म के फल को जीव स्वयं भोगता है। यदि एकजीव को दूसरे जीव के दिये हुए शुभाशुभ कर्म का फल भोगना पड़े तो स्वयं किये हुए कर्म निरर्थक हो जायेंगे।

इसी विषय के विशद ज्ञान हेतु जिज्ञासु समयसार गाथा २५३ से २५६ तथा इन गाथाओं की टीका एवं समयसार कलश १६८, १६९ जरूर देखें।

कर्म में जीव के स्वभाव का आच्छादन करने का उदाहरण –

जीवस्याच्छादकं कर्म निर्मलस्य मलीमसम्।
जायते भास्करस्येव शुद्धस्य घन-मण्डलम्॥१२२॥

अन्वय :– शुद्धस्य भास्करस्य घन-मण्डलं इव मलीमसं कर्म निर्मलस्य जीवस्य आच्छादकं जायते।

सरलार्थ :– जिसप्रकार घनमण्डल अर्थात् बादलों का समूह निर्मल सूर्य का आच्छादक हो जाता है, उसीप्रकार से निर्मल जीव के स्वभाव का, स्वभाव से मलीन कर्म आच्छादक होता है।

भावार्थ :– जीव स्वभाव से निर्मल है, सब प्रकार के मल से रहित शुद्ध है। उसको मलिन करनेवाला एक मात्र कर्ममल है और वह द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म (शरीरादि) के भेद से तीन प्रकार का है, जो उसे सब ओर से उसीप्रकार आच्छादित किये हुए है, जिसप्रकार कि घनघोर-घटा निर्मल सूर्य को आच्छादित करती है।

अनादिकाल से प्रत्येक जीव अपनी गलती/पुरूषार्थ-हीनता से एवं पर्यायगत पात्रता के अनुसार पूर्ण विकास अथवा अत्यधिक विकास अथवा धर्म का प्रारम्भ नहीं कर पाता, उस समय अलग-अलग कर्म जीव के साथ निमित्तरूप से नियम से उदयरूप रहते हैं, उनका यहाँ ज्ञान कराया है। इस कथन से कर्म बलवान है, कर्म, जीव के विकास को रोक देता है अथवा विकास करने में बाधक हो जाता है; ऐसा नहीं समझना चाहिए।

मिथ्यात्वादि कषाय ही आस्रव-बन्ध का कारण –

कषायस्रोतसागत्य जीवे कर्मावतिष्ठते।
आगमेनेव पानीयं जाड्य-कारं सरोवरे॥१२३॥

अन्वय :– सरोवरे (स्रोतसा) जाड्यकारं पानीयं आगमेन इव कषाय-स्रोतसा (जाड्यकारं) कर्म आगत्य जीवे अवतिष्ठते।

सरलार्थ :– जिसप्रकार सरोवर में स्रोतरूप नाली के द्वारा आकर शीतकारक जल ठहरता/रुकता है, उसीप्रकार जीव में कषाय स्रोत से आकर जडताकारक कर्म ठहरता/रुकता है अर्थात् बन्ध को प्राप्त होता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– यहाँ 'अवतिष्ठते' पद के द्वारा जीव में कर्मास्रव के साथ में उसके उत्तरवर्ती कार्य का उल्लेख है, जिसे 'बन्ध' कहते हैं और वह तभी होता है जब कर्म कषाय के स्रोत से आता है और इसलिए इस श्लोक में साम्परायिक आस्रव का उल्लेख है। जो कर्म, कषाय के स्रोत से साम्परायिक आस्रव के द्वारा नहीं आता वह बन्ध को प्राप्त नहीं होता और साम्परायिक आस्रव उसी जीव के होता है जो कषाय-सहित होता है – कषाय रहित के नहीं। कषाय रहित जीव के योगद्वार से जो स्थिति-अनुभाग विहीन सामान्य आस्रव होता है, उसको ईर्यापथ आस्रव कहते हैं। स्थिति एवं अनुभाग बन्ध का कारण कषाय है, कहा भी है – **'ठिदि अणुभागा कसायदो होंति'**– स्थिति तथा अनुभाग बन्ध कषाय से होते हैं।

कषाय रहित जीव के साम्परायिक आस्रव मानने पर आपत्ति –

जीवस्य निष्कषायस्य यद्यागच्छति कल्मषम्।
तदा संपद्यते मुक्तिर्न कस्यापि कदाचन॥१२४॥

अन्वय :– यदि निष्कषायस्य जीवस्य कल्मषं आगच्छति तदा कस्य अपि (जीवस्य) कदाचन मुक्तिः न संपद्यते।

सरलार्थ :– यदि कषायरहित जीव के भी मोहरूप पाप कर्मों का आस्रव होता है, यह बात मान ली जाय तो फिर किसी भी जीव को कभी मोक्ष हो ही नहीं सकता।

भावार्थ :– पिछले श्लोक में कषायसहित जीव के साम्परायिक आस्रव की बात कही गयी है – कषाय रहित की नहीं। इस श्लोक में कषाय रहित जीव के भी यदि बन्धकारक साम्परायिक आस्रव माना जाय तो उसमें जो दोषापत्ति होती है, उसे बतलाया है और वह यह है कि तब किसी भी जीव को कभी भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती।

कषाय से भी बन्ध और बिना कषाय से भी बन्ध, तो फिर छुटकारा कैसे मिल सकता है? नहीं मिल सकता और यह बात वास्तविकता के भी विरुद्ध है; क्योंकि जो कारण बन्ध के कहे गये हैं, उनके दूर होने पर मुक्ति होती ही है। बन्ध का प्रधान कारण मिथ्यात्वादि कषाय है; जैसा कि इसी ग्रन्थ के बन्धाधिकार में दिये हुए बन्ध के लक्षण से प्रकट है।

सूक्ष्मता से सोचा जाय तो जब जीव जघन्यभावरूप कषाय से परिणत होता है, तब भी जीव को कषाय/चारित्रमोह का आस्रव एवं बंध नहीं होता है, यह विषय यहाँ समझना आवश्यक है।

प्रश्न :– यह कैसे ?

उत्तर :– दसवें गुणस्थान में सूक्ष्मसाम्पराय चारित्रधारक मुनिराज सूक्ष्म लोभरूप परिणाम से परिणत हो रहे हैं। उनको ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तराय – इन तीनों घाति कर्मों का तथा सातादि अघाति कर्मों का आस्रव-बन्ध तो हो रहा है; तथापि उन्हें सूक्ष्मलोभ अथवा अन्य किसी भी मोहरूप पापकर्म का न आस्रव है न बन्ध है। इसी कारण से तो वे मुनिराज मोहमुक्त हो पाते हैं। इस

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विषय के स्पष्टीकरण के लिये पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट से प्रकाशित पंचास्तिकाय संग्रह गाथा १०३ व इस गाथा की टीका एवं तलटीप/फुटनोट भी सूक्ष्मता से देखें।

प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतंत्र –

नान्यद्रव्य- परीणाममन्य- द्रव्यं प्रपद्यते।
स्वान्य-द्रव्य-व्यवस्थेयं परस्य घटते कथम्॥१२५॥

अन्वय :– अन्य-द्रव्य-परीणामं अन्य-द्रव्यं न प्रपद्यते, (अन्यथा) इयं स्व-अन्य-द्रव्य-व्यवस्था परस्य (था) कथं घटते ? (अर्थात् नैव घटते)।

सरलार्थ :– अन्य द्रव्य का परिणाम अन्य द्रव्य को प्राप्त नहीं होता अर्थात् एक द्रव्य का परिणमन दूसरे द्रव्य के परिणमनरूप कभी नहीं होता, यदि ऐसा न माना जाय तो यह स्वद्रव्य-परद्रव्य की व्यवस्था कैसे बन सकती है ?अर्थात् नहीं बन सकती।

भावार्थ :– प्रत्येक द्रव्य का परिणमन अपने-अपने उपादान के अनुरूप होता है, दूसरे द्रव्य के उपादान के अनुरूप नहीं। यदि एक द्रव्य का परिणमन दूसरे द्रव्य के उपादानरूप होने लगे तो दोनों द्रव्यों में कोई भेद नहीं रहेगा। दोनों द्रव्य एक हो जायेंगे।

उदाहरण के तौर पर सन्तरे के बीज से अमरूद और अमरूद के बीज से सन्तरा भी उत्पन्न होने लगे तो यह सन्तरे का बीज और यह अमरूद का बीज है, ऐसा भेद नहीं किया जा सकता और न यह आशा ही की जा सकती है कि सन्तरे का बीज बोनें से सन्तरे का वृक्ष उगेगा और उस पर सन्तरे लगेंगे। अन्यथा परिणमन होने की हालत में उस सन्तरे के बीज से कोई दूसरा वृक्ष भी उग सकता है और दूसरे प्रकार के फल भी लग सकते हैं, परन्तु ऐसा नहीं होता, इसी से एक द्रव्य में दूसरे सब द्रव्यों का अभाव माना गया है, तभी वस्तु की व्यवस्था ठीक बैठती है, अन्यथा कोई भी वस्तु अपने स्वरूप को प्रतिष्ठित नहीं कर सकती, तब हम सन्तरे को सन्तरा और अमरूद को अमरूद भी नहीं कह सकते।

पर से सुख-दुःख की मान्यता से निरन्तर आस्रव –

परेभ्यः सुख-दुःखानि द्रव्येभ्यो यावदिच्छति।
तावदास्रव-विच्छेदो न मनागपि जायते॥१२६॥

अन्वय :– यावत् (जीवः) परेभ्यः द्रव्येभ्यः सुख-दुःखानि इच्छति, तावत् मनाक् अपि आस्रव-विच्छेदः न जायते।

सरलार्थ :– जबतक यह जीव परद्रव्यों से सुख-दुःख की इच्छा करता है अर्थात् परद्रव्यों से सुख-दुःख की प्राप्ति की मान्यता रखता है, तबतक आस्रव का किंचित्/अल्प भी विच्छेद अर्थात् नाश नहीं हो सकता अर्थात् आस्रव निरन्तर होता ही रहता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– विपरीत मान्यता अर्थात् मिथ्यात्व ही अधर्म/संसार का मूल है। किसी भी पर से सुख या दुःख प्राप्ति की मान्यता तो स्पष्ट ही मिथ्यात्व है। जबतक जीव सात व्यसनों से भी अधिक हानिकारक इस मिथ्यात्वरूप पाप परिणाम को करेगा, तबतक उसे दुःखदायक कर्म का आस्रव होता ही रहेगा, यह प्राकृतिक नियम है।

आस्रव का विच्छेद नहीं होता इसका अर्थ यह है कि वह निरन्तर मोह-राग-द्वेषमय परिणाम करता रहता है, जिससे उसे प्रति समय वचनातीत अनन्त दुःख होता है। स्थूल बुद्धिवालों को अर्थात् जिन्हें सर्वज्ञ भगवान के वचनों पर विश्वास नहीं है, उन्हें मात्र बाह्य प्रतिकूलता में ही दुःख लगता है, जो सर्वथा असत्य है।

मिथ्यात्व से देह संबंधी विपरीतता –

अचेतनत्वमज्ञात्वा स्वदेह-परदेहयोः।
स्वकीय-परकीयात्मबुद्धितस्तत्र वर्तते॥१२७॥

अन्वय :– (मिथ्यादृष्टिः) स्वदेह-परदेहयोः अचेतनत्वं अज्ञात्वा तत्र स्वकीय-परकीय आत्मबुद्धितः वर्तते।

सरलार्थ :– अज्ञानी/मिथ्यादृष्टि जीव स्वदेह और परदेह के अचेतनपने को न जानकर स्वदेह में आत्मबुद्धि से और परदेह में परकीय आत्मबुद्धि से प्रवृत्त होता है अर्थात् अपने शरीर को अपना आत्मा और पर के शरीर को पर का आत्मा समझकर व्यवहार करता है।

भावार्थ :– स्थूल शरीर को औदारिक शरीर कहते हैं। यह मनुष्य और तिर्यंचों को होता है। औदारिक शरीर आहारवर्गणाओं से बनता है। आहारवर्गणा पुद्गलमय है। पुद्गलद्रव्य अचेतनरूप है। जो जैसा है, उसे वैसा ही जानना चाहिए। मूढ़ जीव शरीर के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता। जीवादि सात तत्त्वों में शरीर अजीव तत्त्व है। जो किसी एक तत्त्व को अन्यथा जानता है, वह अन्य सर्व तत्त्वों को भी नियम से अन्यथा ही जानता है; ऐसा समझना चाहिए।

समाधिशतक श्लोक १० में आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने भी इसी अर्थ को निम्न शब्दों में स्पष्ट किया है :–

स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा परदेहमचेतनम्।
परात्माधिष्ठितं मूढः परत्वेनाध्यवस्यति॥

अर्थ :- अज्ञानी बहिरात्मा, अन्य आत्मा के साथ रहनेवाले, दूसरे के अचेतन शरीर को, अपने अचेतन शरीर समान देखकर अन्य के आत्मारूप से मानता है।

मिथ्यात्व से पुत्रादिक में आत्मीय बुद्धि –

यदात्मीयमनात्मीयं विनश्वरमनश्वरम्।
सुखदं दुखदं वेत्ति न चेतनमचेतनम्॥१२८॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पुत्र-दारादिके द्रव्ये तदात्मीयत्व-शेमुषीम्।
कर्मास्रवमजानानो विधत्ते मूढ़मानसः॥१२९॥

अन्वय :- यदा (अयं जीवः) आत्मीयं, अनात्मीयं, विनश्वरं, अनश्वरं, सुखदं, दुःखदं, चेतनं, अचेतनं (वा) न वेत्ति।

तदा कर्म-आस्रवं अजानानः मूढमानसः पुत्र-दारादिके द्रव्ये आत्मीयत्व-शेमुषीं विधत्ते।

सरलार्थ :- जबतक यह जीव आत्मीय-अनात्मीय, विनाशीक-अविनाशीक, सुखदायी-दुःखदायी और चेतन-अचेतनको नहीं जानता है तबतक कर्मके आस्रवको न जानता हुआ यह मूढ प्राणी, पुत्र-स्त्री आदि पदार्थों में आत्मीयत्व की बुद्धि रखता है – उन्हें अपना समझता है।

भावार्थ :- किसी न किसी पदार्थ में अहंबुद्धि, ममबुद्धि, कर्ताबुद्धि एवं भोक्ताबुद्धि करना/रखना यह संसारी जीव के स्वभाव में ही गर्भित है। यदि अपना त्रिकाली निज भगवान आत्मा ही अहंबुद्धि आदि के लिए मिलता है तो वह उसी में अहंबुद्धि आदि करते हुए मोक्षमार्गी होकर मोक्ष ही प्राप्त करता है। किन्तु यदि उसे अपना निज स्वरूप श्रद्धा-ज्ञान के लिये प्राप्त नहीं होता है, तो वह जीव जो वस्तु नित्य उसके इन्द्रिय ज्ञान का ज्ञेय/विषय बनती रहती है, उसी में अहंबुद्धि आदि करता है।

पुत्रादि का शारीरिक रूप-रंग अपने शरीर के समान जानकर अज्ञानी का मोह और भी अधिक दृढ होता है। इसलिए जिनवाणी के आधार से अपने आत्म-स्वभाव का सम्यग्ज्ञान करना चाहिए।

सब स्वतंत्र एवं स्वाधीन –

कषाया नोपयोगेभ्यो नोपयोगाः कषायतः।
न मूर्तामूर्तयोरस्ति संभवो हि परस्परम्॥१३०॥

अन्वय :- उपयोगेभ्यः कषायाः न (संभवाः)। कषायतः उपयोगाः न (संभवाः)। नहि मूर्त-अमूर्तयोः परस्परं (उत्पादः) संभवः अस्ति।

सरलार्थ :- ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग से क्रोधादि कषाय उत्पन्न नहीं होते और कषायों से ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग उत्पन्न नहीं होते। अमूर्तिक द्रव्य से मूर्तिक द्रव्य उत्पन्न हो और मूर्तिक द्रव्य से अमूर्तिक द्रव्य उत्पन्न हो – ऐसी परस्पर उत्पत्ति संभव ही नहीं है।

भावार्थ :- यह योगसार-प्राभृत अध्यात्म शास्त्र है। अतः इसमें विशिष्ट प्रकार की भेदज्ञान की कला बता रहे हैं। जीव, पुद्गलादि द्रव्यों से भिन्न है, यह विषय बताना मुख्य नहीं है। यह विषय समझना तो सामान्य है। जीव के क्रोधादि विकारों से जीव की चेतना अर्थात् ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग भिन्न है, यह समझना मुख्य है। अतः क्रोध, क्रोध में है और उपयोग, (ज्ञान-दर्शन) उपयोग में है। इसकारण कषायों से ज्ञान-दर्शन और ज्ञान-दर्शन से कषायों के उत्पन्न होने का निषेध किया है।

इस श्लोक में क्रोधादि कषायों को विवक्षावश मूर्तिक एवं ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग को अमूर्तिक कहा है। ये परस्पर एक-दूसरे से उत्पन्न नहीं होते; इस विषय को समझाया है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इस विषय को स्पष्ट समझने के लिए समयसार शास्त्र की १८१ से १८३ पर्यंत तीन गाथाये, इनकी टीका तथा भावार्थ का सूक्ष्मता से अध्ययन करना आवश्यक है। इसमें बताया गया है कि भेदविज्ञान ही संवर प्रगट करने का सच्चा उपाय है।

उपर्युक्त गाथाओं का भावार्थ निम्नानुसार है –

''उपयोग तो चैतन्य का परिणमन होने से ज्ञानस्वरूप है और क्रोधादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा शरीरादि नोकर्म – सभी पुद्गलद्रव्य के परिणाम होने से जड़ हैं, उनमें और ज्ञान में प्रदेशभेद होने से अत्यन्त भेद है। इसलिये उपयोग में क्रोधादिक, कर्म तथा नोकर्म नहीं हैं और क्रोधादिक में, कर्म में तथा नोकर्म में उपयोग नहीं है। इसप्रकार उनमें पारमार्थिक आधाराधेय सम्बन्ध नहीं है; प्रत्येक वस्तु का अपना-अपना आधाराधेयत्व अपने-अपने में ही है। इसलिये उपयोग, उपयोग में ही है और क्रोध, क्रोध में ही है। इसप्रकार भेदविज्ञान भलीभाँति सिद्ध हो गया। (भावकर्म इत्यादि का और उपयोग का भेद जानना, सो भेदविज्ञान है।)

यही भाव समयसार कलश १२६ में बताया है, वह निम्नानुसार है – ''ज्ञान तो चेतनास्वरूप है और रागादिक पुद्गलविकार होने से जड़ हैं; किन्तु ऐसा भासित होता है कि मानों अज्ञान से ज्ञान भी रागादिरूप हो गया हो अर्थात् ज्ञान और रागादिक दोनों एकरूप – जड़रूप भासित होते हैं। जब अन्तरंग में ज्ञान और रागादि का भेद करने का तीव्र अभ्यास करने से भेदज्ञान प्रगट होता है तब यह ज्ञात होता है कि ज्ञान का स्वभाव तो मात्र जानने का ही है, ज्ञान में जो रागादि की कलुषता/आकुलतारूप संकल्प-विकल्प भासित होते हैं वे सब पुद्गलविकार हैं; जड़ हैं। इसप्रकार ज्ञान और रागादि के भेद का स्वाद आता है अर्थात् अनुभव होता है। जब ऐसा भेदज्ञान होता है तब आत्मा आनन्दित होता है; क्योंकि उसे ज्ञात है कि ''स्वयं सदा ज्ञानस्वरूप ही रहा है, रागादिरूप कभी नहीं हुआ'' इसलिये आचार्यदेव ने कहा है कि 'हे सत्पुरुषो! अब मुदित होओ।''

सकषाय जीव के ही कषाय होते हैं, अकषाय जीव के नहीं –

कषाय-परिणामोऽस्ति जीवस्य परिणामिनः।
कषायिणोऽकषायस्य सिद्धस्येव न सर्वथा॥१३१॥
न संसारो न मोक्षोऽस्ति यतोऽस्यापरिणामिनः।
निरस्त-कर्म-सङ्गश्चापरिणामी ततो मतः॥१३२॥

अन्वय :– कषायिणः परिणामिनः जीवस्य कषाय-परिणामः अस्ति। अकषायस्य सर्वथा न अस्ति सिद्धस्य इव।

यतः अस्य अपरिणामिनः अकषायिणः न संसारः न मोक्षः अस्ति। ततः निरस्त-कर्मसङ्गः अपरिणामी मतः।

सरलार्थ :– कषाय सहित परिणमनशील जीव के कषाय-परिणाम होता है और जो जीव

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कषाय रहित परिणमन करता है, उस जीव को कषाय परिणाम नहीं होता; जैसे – सिद्ध पर्याय से परिणत जीव।

क्योंकि कषाय रहित अपरिणामी जीव के न तो संसार है और न मोक्ष। इस कारण जिसके कर्म का अभाव हो गया है, वह जीव अपरिणामी माना गया है।

भावार्थ :– पिछले श्लोक में ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग से कषाय उत्पन्न नहीं होते, ऐसा कहा है; लेकिन जगत में कषाय तो अनुभव में आते हैं तो वे कषाय किसके होते हैं? उत्तर में इस श्लोक द्वारा बताया है कि जो जीव कषाय सहित होकर परिणमनशील हैं, उन्हें कषाय होते हैं।

कषाय रहित जीव को अपरिणामी कहा है, इसका अर्थ इन सिद्ध जीवों में परिणमन होता ही नहीं; ऐसा नहीं है, उत्पाद-व्ययरूप परिणमन प्रत्येक द्रव्य में जो होता है, वह तो सिद्धों में भी होता ही रहता है। शास्त्र में जो कुछ कथन किया जाता है, उसे आगम परंपरा को सुरक्षित रखते हुए ही अर्थ करना शास्त्राभ्यासी का कर्तव्य है।

सारांश यह है कि जबतक जीव को मोहकर्म की सत्ता एवं उदय है तबतक जीव कषायरूप परिणमन करता है और मोहकर्म के नाश होने पर वीतरागी हुआ जीव कषायरूप परिणमन सर्वथा नहीं करता।

जीव तथा कर्म के कर्तृत्वसंबंधी कथन –

नान्योन्य-गुण-कर्तृत्वं विद्यते जीव-कर्मणोः।
अन्योन्यापेक्षयोत्पत्तिः परिणामस्य केवलम्॥१३३॥

अन्वय :– जीव-कर्मणोः अन्योन्य-गुण-कर्तृत्वं न विद्यते। अन्योन्यापेक्षया केवलं परिणामस्य उत्पत्तिः (जायते)।

सरलार्थ :– जीव और आठ प्रकार के कर्म में एक दूसरे के गुणों का कर्तापना विद्यमान नहीं है अर्थात् न जीव में कर्म के गुणों को करने की सामर्थ्य है और न कर्म में जीव के गुणों को उत्पन्न करने की शक्ति है। एक-दूसरे की अपेक्षा से अर्थात् निमित्त से केवल परिणाम की ही उत्पत्ति होती है।

भावार्थ :– विश्व में जाति अपेक्षा छह द्रव्य हैं और संख्या की अपेक्षा से अनंतानंत द्रव्य हैं। प्रत्येक द्रव्य में अनंत गुण हैं, जो अनादिनिधन हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि द्रव्य और गुणों का तो कोई कर्ता नहीं है; क्योंकि जो अनादि-अनंत होते हैं, उनका कोई कर्ता-धर्ता-हर्ता होता ही नहीं। इन द्रव्यों में रहनेवाले गुणों की प्रत्येक समय जो नयी पर्यायें होती हैं उनका वास्तविक कर्ता वही द्रव्य होता है। उस समय उस पर्याय के होने में निमित्तरूप से कोई अन्य द्रव्य की पर्याय अनुकूल रहती है, उसे उस पर्याय का निमित्त कहने का व्यवहार है। पर्याय को ही निमित्त कहते हैं और उपादान में नैमित्तिकरूप से जो नवीन कार्य/अवस्था होती है, उसे नैमित्तिक कहते हैं अर्थात् यह सर्व निमित्त-नैमित्तिक संबंध मात्र पर्याय में होता रहता है, मूल द्रव्य में नहीं – यह मुख्य विषय आचार्य को इस श्लोक में बताना है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जीव तथा कर्म के कर्तासंबंधी ही नयसापेक्ष कथन –

स्वकीय-गुण-कर्तृत्वं तत्त्वतो जीव-कर्मणोः।
क्रियते हि गुणस्ताभ्यां व्यवहारेण गद्यते।।१३४।।

अन्वय :– तत्त्वतः जीव-कर्मणोः स्वकीय-गुण-कर्तृत्वं (विद्यते); ताभ्यां गुणः क्रियते (इति) हि व्यवहारेण गद्यते।

सरलार्थ :– निश्चयनय से जीव और कर्म में अपने-अपने गुणों का कर्तापना विद्यमान है अर्थात् जीव अपने ज्ञानादि गुणों/पर्यायों का और कार्माणवर्गणारूप पुद्‌गल कर्म अपने ज्ञानावरणादि गुणों/पर्यायों का कर्ता है। एक के द्वारा दूसरे के गुणों/पर्यायों का किया जाना जो कहा जाता है, वह सर्व व्यवहारनय की अपेक्षा से कहा जाता है।

भावार्थ :– श्लोक में जो गुणों का कर्ता कहा गया है; वहाँ गुण का अर्थ पर्याय ही करना चाहिए; क्योंकि गुण तो अनादि-अनंत और स्वयम्भू ही होते हैं।

व्यवहारनय से एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य की पर्यायों का कर्ता कहा गया है, वह कथनमात्र ही है, वास्तविक नहीं; ऐसा समझना चाहिए। अज्ञानी जन जैसी मान्यता रखते हैं, उसे ही ज्ञानीजन व्यवहारनय का कथन कहकर स्वीकार करते हैं; परंतु वस्तुस्थिति वैसी नहीं होती।

पुद्‌गल की अपेक्षा से जीव के औदयिक भावों की उत्पत्ति तथा स्थिति –

उत्पद्यन्ते यथा भावाः पुद्‌गलापेक्षयात्मनः।
तथैवौदयिका भावा विद्यन्ते तदपेक्षया।।१३५।।

अन्वय :– यथा पुद्‌गलापेक्षया आत्मनः भावाः उत्पद्यन्ते तथा एव तदपेक्षया औदयिकाः भावाः विद्यन्ते।

सरलार्थ :– जिसप्रकार पुद्‌गलात्मक कर्म के उदयादि की अपेक्षा अर्थात् निमित्त पाकर जीव के औदयिकादि भाव उत्पन्न होते हैं; उसीप्रकार पुद्‌गलरूप कर्म की अपेक्षा अर्थात् उदय के निमित्त से उत्पन्न औदयिक भाव विद्यमान रहते हैं।

भावार्थ :– जीव के जो भाव, कर्म के उदय के निमित्त से उत्पन्न होते हैं; उन्हें औदयिक भाव कहते हैं। जीव में उत्पन्न होनेवाला भाव औदयिक है और उस भाव में कर्म का उदय निमित्त है। जो औदयिक भाव उत्पन्न हुआ वह तत्काल नष्ट नहीं होता; क्योंकि वह भाव जबतक कर्म का उदय बना रहेगा तबतक विद्यमान ही रहेगा, यह विषय समझना महत्वपूर्ण है।

जैसे बैंक में जबतक रकम जमा रहती है, तबतक ब्याज मिलता रहता है, उसीप्रकार जबतक जिस जीव के जिस कर्म का उदय बना रहता है, तबतक जीव के औदयिक भाव भी विद्यमान रहते हैं। इसतरह औदयिक भाव की मर्यादा कर्म के उदयकाल पर्यंत रहती है, यह समझ लेना चाहिए।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मिथ्यात्व का स्वरूप एवं कार्य –

कुर्वाणः परमात्मानं सदात्मानं पुनः परम्।
मिथ्यात्व-मोहित-स्वान्तो रजोग्राही निरन्तरम्॥१३६॥

अन्वय :– मिथ्यात्व-मोहित-स्वान्तः सदा परं आत्मानं, पुनः आत्मानं परं कुर्वाणः निरन्तरं (कर्म) रजोग्राही (भवति)।

सरलार्थ :– जो मिथ्यात्व से मोहितचित्त होता हुआ सदा पर वस्तु को आत्मा मानता है और अपनी आत्मा को परद्रव्यरूप करता है, वह निरंतर कर्मरूपी रज को ग्रहण करता है अर्थात् उसे निरन्तर कर्मास्रव होता है।

भावार्थ :– पर-वस्तु को आत्मारूप मानना और अपनी आत्मा को परद्रव्यरूप मानना ही मिथ्यात्व है। इस विपरीत मान्यतारूप मिथ्यात्व से निरन्तर सात या आठ कर्मों का दुःखदायक आस्रव होता है।

मिथ्यादृष्टि के कार्य का खुलासा –

राग-मत्सर-विद्वेष-लोभ-मोह- मदादिषु।
हृषीक-कर्म-नोकर्म-रूप-स्पर्श-रसादिषु॥१३७॥
एतेऽहमहमेतेषामिति तादात्म्यमात्मनः।
विमूढः कल्पयन्नात्मा स्व-परत्वं न बुध्यते॥१३८॥

अन्वय :– विमूढः आत्मा राग-मत्सर-विद्वेष-लोभ-मोह-मद-आदिषु हृषीक-कर्म-नोकर्म-रूप-स्पर्श-रस-आदिषु एते अहं एतेषां अहं इति आत्मनः तादात्म्यं कल्पयन् स्व-परत्वं न बुध्यते।

सरलार्थ :– मूढ आत्मा अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव राग, द्वेष, ईर्षा, लोभ, मोह, मदादिक में तथा इंद्रिय, कर्म, नोकर्म, रूप, रस, स्पर्शादिक विषयों में – ये मैं हूँ और मैं इनका हूँ, इसप्रकार आत्मा के तादात्म्य/एकत्व की कल्पना करता हुआ स्व-पर-विवेक को अर्थात् अपने और पर के यथार्थ बोध अर्थात् भेदज्ञान को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ :– इस श्लोक के भाव को स्पष्ट समझने के लिये समयसार की १९ से २२ पर्यन्त सब गाथाएँ, इनकी टीका एवं हिन्दी भावार्थ अवश्य देखिए।

अचारित्र का स्वरूप –

हिंसने वितथे स्तेये मैथुने च परिग्रहे।
मनोवृत्तिरचारित्रं कारणं कर्मसंततेः॥१३९॥

अन्वय :– हिंसने वितथे स्तेये मैथुने परिग्रहे च मनोवृत्तिः अचारित्रं कर्मसंततेः कारणं।

सरलार्थ :– हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापों में मन की जो प्रवृत्ति होती

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है; उसे अचारित्र अर्थात् मिथ्याचारित्र कहते हैं, यह प्रवृत्ति, कर्म-संतति अर्थात् कर्म की उत्पत्ति, स्थिति तथा परंपरा का कारण है।

भावार्थ :– यहाँ अचारित्र का अर्थ मिथ्याचारित्र समझना, क्योंकि उसे कर्मसंतति का कारण कहा गया है। सम्यग्दृष्टि को असंयम होने पर भी वह कर्म की परम्परा का कारण नहीं बन सकता। यही भाव आगामी श्लोकों के अर्थ में भी ध्यान रखें। **इस आस्रव अधिकार में ४० श्लोकों में से ३० श्लोकों में मिथ्यात्व के कारण से होनेवाले परिणामों का और आस्रव का कथन किया है।** अब इस श्लोक में आस्रव के लिये जो दूसरा कारण अविरति है, उसका वर्णन प्रारंभ करते हैं। इन श्लोकों के अनुपात से भी पाठकों को समझ में आना चाहिए कि आस्रव में मुख्य कारण एक मिथ्यात्व ही है।

मिथ्याचारित्र का स्वरूप –

रागतो द्वेषतो भावं परद्रव्ये शुभाशुभम्।
आत्मा कुर्वन्नचारित्रं स्व-चारित्र-पराङ्मुखः ।।१४०।।

अन्वय :– **परद्रव्ये रागतः द्वेषतः शुभाशुभं भावं कुर्वन् स्व-चारित्र-पराङ्मुखः आत्मा अचारित्रं।**

सरलार्थ :– परद्रव्य में रागरूप परिणाम के कारण अथवा द्वेषरूप परिणाम के कारण शुभ अथवा अशुभरूप भाव को करता हुआ आत्मा मिथ्याचारित्री होता है; क्योंकि वह उस समय अपने चारित्र से अर्थात् स्वरूपाचरण चारित्र से विमुख रहता है।

भावार्थ :– इस श्लोक का अर्थ स्पष्ट समझने के लिये २९वें श्लोक में आया हुआ विमूढः शब्द को यहाँ कर्तारूप से लेना चाहिए। जब अज्ञानी जीव परद्रव्य में प्रशस्त राग करता है तो शुभ अर्थात् पुण्यभाव होता है और जब द्वेष के कारण अशुभभाव करता है तो पापभाव होता है।

जब ज्ञानी जीव अपनी भूमिका के अनुसार परद्रव्य में शुभाशुभ भाव करता है, तब उसे मिथ्याचारित्री नहीं कहते, उस परिणाम को भी ज्ञानभाव ही कहते हैं और उसे ज्ञानी की कमजोरी/अचारित्र मानी जाती है। इस कमजोरीरूप पुण्य-पाप के कारण ज्ञानी को आस्रव-बंध तो होता है; लेकिन वह अनंत संसार का कारण नहीं होता। ज्ञानी जीव पुण्य-पाप परिणाम के समय भी अनन्तानुबंधी आदि कषायों के अभाव से शुद्धपरिणति रूप सतत रहने से स्वचारित्र से विमुख नहीं होता।

मिथ्याचारित्र का स्वरूप और स्पष्ट करते हैं –

यतः संपद्यते पुण्यं पापं वा परिणामतः।
वर्तमानो ततस्तत्र भ्रष्टोऽस्ति स्वचरित्रतः ।।१४१।।

अन्वय :– **यतः (शुभ-अशुभ) परिणामतः पुण्यं वा पापं संपद्यते। ततः तत्र वर्तमानः स्वचारित्रतः भ्रष्टः अस्ति।**

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :– क्योंकि शुभ और अशुभ परिणाम से पुण्य तथा पाप कर्म की उत्पत्ति होती है, इसलिए इन परिणामों में (उपादेय बुद्धि से) प्रवर्तमान आत्मा अपने चारित्र से भ्रष्ट होता है।

भावार्थ :– मात्र पुण्य-पाप परिणामों से पुण्य-पापरूप कर्म की उत्पत्ति होना और पुण्य-पाप में प्रवर्तमान होने से ही स्वचारित्र से भ्रष्ट होना माना जाय तो साक्षात् अरहंत भगवान होने के लिये क्षपक श्रेणी के दसवें गुणस्थान में विराजमान महापुरुषार्थी भावलिंगी मुनिराज को भी स्वचारित्र से भ्रष्ट मानना अनिवार्य हो जायगा; क्योंकि सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवर्ती मुनिराज के परिणाम भी मिश्रभावरूप रहते हैं। (दसवें गुणस्थान में मुनिराज को वीतरागता के साथ सूक्ष्म लोभकषाय के उदय से अबुद्धिपूर्वक सूक्ष्मलोभरूप राग-परिणाम होता है) इसलिए इस श्लोक के सरलार्थ करते समय ब्रॅकेट में दिये हुए 'उपादेय बुद्धि से' – इन शब्दों को बारीकी से समझना आवश्यक है।

जो कोई जीव पुण्य-पाप परिणामों में उपादेयबुद्धि रखता है, वही स्वचारित्र से भ्रष्ट है, ऐसा समझने से ही अर्थ यथार्थ होता है।

अविरत सम्यक्दृष्टि से लेकर सर्व साधक/मोक्षमार्गी जीव अपने-अपने गुणस्थानानुसार स्वरूपाचरण में प्रवर्तमान हैं, ऐसा ही स्वीकारना चारों अनुयोगों के अनुसार उचित है। यहाँ मिथ्यादृष्टि जीव ही स्वचारित्र से भ्रष्ट है, यह समझाने का ग्रंथकार का अभिप्राय है।

मिथ्याचारित्र का फल –

श्वाभ्र-तिर्यङ्-नर-स्वर्गिगतिं जाताः शरीरिणः।
शारीरं मानसं दुःखं सहन्ते कर्म-संभवम्॥१४२॥

अन्वय :– **(स्व -चारित्रभ्रष्टाः) श्वाभ्र-तिर्यङ्-नर-स्वर्गि-गतिं जाताः शरीरिणः (जीवाः) कर्म-संभवं शारीरं मानसं दुःखं सहन्ते।**

सरलार्थ :– शुभाशुभ भावों में उपादेयबुद्धि रखने के कारण अपने चारित्र से भ्रष्ट होकर पुण्य-पाप कर्म के संचय करनेवाले मिथ्यादृष्टि जीव नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देवगति को प्राप्त करते हुए कर्मजन्य शारीरिक तथा मानसिक दुःख को सहन करते हैं।

भावार्थ :– चारों गतियों में शारीरिक एवं मानसिक दुःख को सहन करनेवाले जीव नियम से मिथ्यादृष्टि ही होते हैं। ज्ञानी जीव प्राप्त सुख-दुःख के मात्र ज्ञाता रहते हैं, वे उसे भोगते नहीं।

देवेन्द्रों का विषय-सुख भी दुःख ही है –

यत्सुखं सुरराजानां जायते विषयोद्भवम्।
ददानं दाहिकां तृष्णां दुःखं तदवबुध्यताम्॥१४३॥

अन्वय :– **सुरराजानां विषय-उद्भवं यत् सुखं जायते तत् दाहिकां तृष्णां ददानं दुःखं (एव अस्ति इति) अवबुध्यताम्।**

सरलार्थ :– (यदि यह पूछा जाय कि देवगति को प्राप्त देवेन्द्रों को तो बहुत सुख होता है फिर देवगति के सभी जीवों को दुःख सहनेवाला क्यों लिखा है? तो इसका समाधान यह है कि)

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

देवेन्द्रों को इन्द्रिय-विषयों से उत्पन्न जो सुख होता है वह दाह उत्पन्न करनेवाली तृष्णा को देनेवाला है; इसलिए उसे (वस्तुतः) दुःख ही समझना चाहिए।'

भावार्थ :– पिछले श्लोक में जिन चतुर्गति-सम्बन्धी शारीरिक तथा मानसिक दुःखों को सहन करने का उल्लेख है, उस पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि पुण्यकर्म से जो देवगति की प्राप्ति होती है, उसमें देवेन्द्र का सुख तो बहुत बढ़ा-चढ़ा होता है; तब स्वर्गगति प्राप्त जीवों के भी दुःख सहने की बात कैसे कहते हो? इसी का उत्तर इस पद्य में देते हुए लिखा है कि – 'देवराज को स्वर्ग में जो इंद्रिय-विषयों से उत्पन्न हुआ सुख प्राप्त होता है, वह दाह उत्पन्न करनेवाली भारी तृष्णा को देनेवाला होता है और इसीलिए उसे भी दुःख समझना चाहिए। जिसप्रकार प्यास के रोगी को जितना पानी पिलायेंगे, उतनी प्यास ही बढ़ती है, तृप्ति नहीं होती; उसीप्रकार स्वर्ग के जीवों को भी हजारों-करोड़ों-सागरों वर्षों तक भी जिस सुख को भोगने से तृप्ति ही न हो, उल्टी तृष्णा बढ़े, उसे सुख कैसे कह सकते हैं? सुख तो तृष्णा के अभाव में होता है।

इंद्रिय-जनित सुख, दुःख ही है –

अनित्यं पीडकं तृष्णा-वर्धकं कर्मकारणम्।
शर्माक्षजं पराधीनमशर्मैव विदुर्जिनाः ।।१४४।।

अन्वय :– अनित्यं, पीडकं, तृष्णा-वर्धकं, कर्मकारणं पराधीनं अक्षजं शर्म जिनाः अशर्म एव विदुः।

सरलार्थ :– जो अनित्य हैं, पीड़ाकारक है, तृष्णावर्धक है, कर्मबंध का कारण है, पराधीन है, उस इंद्रियजन्य सुख को जिनराजों ने असुख अर्थात् दुःख ही कहा है।

भावार्थ :– पिछले श्लोक में जिस इन्द्रियसुख का उल्लेख है उसके कुछ विशेषणों को इस श्लोक में और स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि 'वह एक तो क्षणभंगुर है अर्थात् नित्य रहनेवाला नहीं। पीड़ाकारक है, अर्थात् दुःख को साथ में लिये हुए हैं। मात्र तृष्णा को उत्पन्न ही नहीं करता, किन्तु उसे बढ़ानेवाला है। कर्मों के आस्रव-बन्ध का कारण है और साथ ही स्वाधीन न होकर पराधीन है। इसी से जिनेन्द्र भगवान उसे वस्तुतः दुःख ही कहते हैं।

प्रवचनसार गाथा ६ की टीका में अमृतचन्द्राचार्य ने देवेन्द्रादि के पदप्राप्ति को वैभवक्लेश कहा है। आगे ११वीं गाथा की टीका में और स्पष्ट एवं कठोर शब्दों में कहा है "अग्नि से गरम किया हुआ घी किसी मनुष्य पर डाल दिया जावे तो वह उसकी जलन से दुखी होता है; उसीप्रकार वह स्वर्गसुख के बंध को प्राप्त होता है।"

प्रवचनसार के ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन नामक प्रथम अधिकार में आचार्य अमृतचन्द्र ने आनन्द अधिकार दिया है, जिसे आचार्य जयसेन ने सुखप्रपंच अंतर अधिकार कहा है। दोनों पठनीय हैं।

सांसारिक सुख को सुख माननेवाला मिथ्याचारित्री है –

सांसारिकं सुखं सर्वं दुःखतो न विशिष्यते।
यो नैव बुध्यते मूढः स चारित्री न भण्यते ।।१४५।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्वय :– सांसारिकं सर्वं सुखं दुःखतः न विशिष्यते।(एतत् तत्त्वं) यः न एव बुध्यते सः मूढः चारित्री न भण्यते।

सरलार्थ :– 'संसार का सम्पूर्ण सुख और दुःख – इनमें कोई अंतर नहीं', जो इस तत्त्व को नहीं समझता, वह मूढ़/मिथ्यादृष्टि चारित्रवान नहीं है; ऐसा समझना चाहिए।

भावार्थ :– जो सांसारिक सुख को सुख समझता है, वह मिथ्यादृष्टि है। जिसकी श्रद्धा ही खोटी है, उसे चारित्र कैसे हो सकता है? क्योंकि यथार्थ श्रद्धा ही चारित्रादि सभी धर्मों का मूल है।

पुण्य-पाप में भेद माननेवाला चारित्रभ्रष्ट –

यः पुण्यपापयोर्मूढोऽविशेषं नावबुध्यते।
स चारित्रपरिभ्रष्टः संसार-परिवर्धकः ।।१४६।।

अन्वय :– यः मूढः पुण्य-पापयोः विशेषं न अवबुध्यते; सः चारित्रभ्रष्टः; संसारपरिवर्धकः (च भवति)।

सरलार्थ :– जो मूढ मिथ्यादृष्टि पुण्य-पाप में अविशेष नहीं जानता है अर्थात् भेद जानता है, वह चारित्र से भ्रष्ट और संसार को बढ़ानेवाला है।

भावार्थ :– प्रथमानुयोग आदि तीन अनुयोगों में पुण्य को संसार के अनुकूल संयोगों में निमित्त और पाप को प्रतिकूल संयोगों में निमित्त बताया है; परन्तु द्रव्यानुयोग अर्थात् अध्यात्म शास्त्र में पुण्य एवं पाप दोनों को कर्म बन्धन करानेवाले और संसार के कारण ही कहा है। अतः दोनों में भेद नहीं मानना चाहिए; यह विषय स्पष्ट किया है।

प्रवचनसार शास्त्र की गाथा ७७ एवं इसकी टीका में इस विषय को अत्यंत स्पष्टरूप से समझाया गया है। जिज्ञासु उस प्रकरण को वहाँ से पढ़कर अपनी जिज्ञासा शांत करें। उक्त गाथा का अर्थ इसप्रकार –

"इसप्रकार पुण्य और पाप में अंतर नहीं है, ऐसा जो नहीं मानता, वह मोहाच्छादित होता हुआ घोर, अपार संसार में परिभ्रमण करता है।"

व्यवहार चारित्र से मुक्ति नहीं –

पापारम्भं परित्यज्य शस्तं वृत्तं चरन्नपि।
वर्तमानः कषायेन कल्मषेभ्यो न मुच्यते ।।१४७।।

अन्वय :– पापारम्भं परित्यज्य शस्तं वृत्तं चरन् अपि कषायेन (सह) वर्तमानः (आत्मा) कल्मषेभ्यः न मुच्यते।

सरलार्थ :– हिंसादि पाँच पाप और पापजनक आरम्भ को छोड़कर (२८ मूलगुणरूप) पुण्यमय आचरण करता हुआ भी (मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि) यदि (पुण्य-पाप को उपादेय माननेरूप) कषाय (मिथ्यात्व) के साथ वर्त रहा है तो वह मिथ्यात्वरूप पाप से नहीं छूटता।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– इस श्लोक में जिनेन्द्र कथित निश्चय चारित्र के बिना पुण्यमय व्यवहार चारित्र का निरर्थकपना स्पष्ट कर रहे हैं।

वस्तुतः एक मिथ्यात्व ही महापाप है और सम्यक्त्व ही धर्म का मूल प्राण है। जबतक मिथ्यात्व का अभाव नहीं होता, तबतक किया गया महान पुण्यमय आचरण भी मोक्ष एवं मोक्षमार्ग के लिये किंचित् भी उपयोगी नहीं है। महान पुण्यकारक मुनिजीवन के २८ मूलगुणों का आचरण करते हुए भी उस जीव को महापाप मिथ्यात्व का आस्रव होता रहता है। अतः सबसे पहले सम्यक्त्व प्राप्त करके मिथ्यात्व का ही नाश करना चाहिए।

कर्मबंध में बाह्य वस्तु अकिंचित्कर –

जायन्ते मोह-लोभाद्या दोषा यद्यपि वस्तुतः।
तथापि दोषतो बन्धो दुरितस्य न वस्तुतः॥१४८॥

अन्वय :– **यद्यपि वस्तुतः मोह-लोभाद्याः दोषाः जायन्ते, तथापि दोषतः दुरितस्य बन्धः (जायते), न वस्तुतः।**

सरलार्थ :– यद्यपि वस्तु के अर्थात् बाह्य परपदार्थ के निमित्त से मोह तथा लोभादिक दोष उत्पन्न होते हैं; तथापि कर्म का बन्ध, उत्पन्न हुए दोषों के कारण होता है, न कि वस्तु के कारण अर्थात् परपदार्थ बन्ध का कारण नहीं है।

भावार्थ :– यदि जीव के मोह-लोभादि परिणामों को छोड़कर अन्य निमित्तरूप परद्रव्य को कर्मबन्ध का सच्चा कारण मान लिया जाय तो फिर किसी जीव का आस्रव-बंध से छूटना नहीं बन सकता; क्योंकि जगत में निमित्तरूप परद्रव्य का कभी अभाव होगा ही नहीं।

कर्मबन्ध के सम्बन्ध में समयसार गाथा २६५ में जो स्पष्ट कथन आया है; उसे देखिए –

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होई जीवाणं।
ण य वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्ति॥

गाथार्थ :– जीवों के जो अध्यवसान होता है, वह वस्तु को अवलम्बकर होता है, तथापि वस्तु से बन्ध नहीं होता अध्यवसान से ही बन्ध होता है।"

मिथ्या अभिप्राय को अध्यवसान कहते हैं। इस गाथा की टीका एवं भावार्थ में विषय विशेष स्पष्ट हुआ है, उसे मूल से देखें।

भेदज्ञानी तथा मिथ्या कल्पनाओं का त्यागी ही मुक्त होता है –

(शार्दूलविक्रीडित)

मिथ्याज्ञान-निविष्ट-योग-जनिताः संकल्पना भूरिशः
संसार-भ्रमकारिकर्म-समितेरावर्जने या क्षमाः॥
त्यज्यन्ते स्व-परान्तरं गतवता निःशेषतो येन ता-
स्तेनात्मा विगताष्टकर्म-विकृतिः संप्राप्यते तत्त्वतः॥१४९॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्वय :– मिथ्याज्ञान-निविष्ट-योग-जनिता: भूरिश: संकल्पना: संसार-भ्रमणकारि-कर्म-समिते: आवर्जने या: क्षमा: ता: स्व-परान्तरं गतवता येन (योगिना) नि:शेषत: त्यज्यन्ते तेन तत्त्वत: विगत-अष्ट-कर्म-विकृति: (यस्मात् स:) आत्मा संप्राप्यते।

सरलार्थ :– 'मिथ्याज्ञान पर आधारित योगों से उत्पन्न हुई जो बहुत-सी कल्पनाएँ/वृत्तियाँ संसार-भ्रमण करानेवाले कर्मसमूह के आस्रव में समर्थ हैं; वे स्व-पर के भेद को पूर्णतः जाननेवाले जिस योगी के द्वारा पूरी तरह त्यागी जाती हैं; उसके द्वारा वस्तुतः आठों कर्मों की विकृति से रहित शुद्ध आत्मा प्राप्त किया जाता है – कर्मों के सारे विकार से रहित विविक्त आत्मा की उपलब्धि उसी योगी को होती है, जो उक्त योगजनित कल्पनाओं एवं कर्मास्रव-मूलक वृत्तियों का पूर्णतः त्याग करता है।

भावार्थ :– यह इस आस्रवाधिकार का उपसंहार-श्लोक है, जिसमें चौथे योग जनित आस्रव-हेतुओं का दिग्दर्शन कराते हुए यह सूचित किया है कि मिथ्याज्ञान पर अपना आधार रखनेवाली मन-वचन-कायरूप त्रियोगों की कल्पनाएँ/प्रवृत्तियाँ बहुत अधिक हैं और वे सभी संसार में इस जीव को भ्रमण करानेवाले कर्म/समूह के आस्रव में समर्थ हैं। जिस स्व-पर-भेद विज्ञानी योगी के द्वारा वे सब मन-वचन-काय की प्रवृत्तियाँ त्यागी जाती हैं; वह वास्तव में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इन आठों कर्मों के विकारों से रहित अपने शुद्धात्मा को प्राप्त होता है, जिसे 'विविक्तात्मा' के रूप में ग्रन्थ के शुरू से ही उल्लेखित करते आये हैं और जिसका परिज्ञान तथा प्राप्ति कराना ही इस ग्रन्थ का एक मात्र लक्ष्य है। जिस मिथ्याज्ञान का यहाँ उल्लेख है, वह इस (प्रथम अध्याय १२वाँ श्लोक) ग्रन्थ में वर्णित '**मिथ्याज्ञानं मतं तत्र मिथ्यात्वसमवायतः**' इस वाक्य के अनुसार वह दूषित ज्ञान है जो मिथ्यात्व के सम्बन्ध को साथ में लिये हुए होता है और मिथ्यात्व उसे कहते हैं जिसके कारण ज्ञान में वस्तु का अन्यथा बोध हो/वस्तु जिस रूप में स्थित है उस रूप में उसका ज्ञान न होकर विपरीतादि के रूप में जानना बने और जो सारे कर्मरूपी बगीचे को उगाने के लिये जलदान का काम करता है।

इसप्रकार श्लोक क्रमांक ११० से १४९ पर्यन्त ४० श्लोकों में यह तीसरा 'आस्रव-अधिकार' पूर्ण हुआ।

●●●

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

४

बन्ध-अधिकार

बन्ध का लक्षण –

पुद्गलानां यदादानं योग्यानां सकषायत:।
योगत: स मतो बन्धो जीवास्वातन्त्र्य-कारणम्॥१५०॥

अन्वय :– योग्यानां पुद्गलानां सकषायत: योगत: यत् आदानं स: बन्ध: मत: (यत्) जीव-अस्वातन्त्र्य-कारणं (अस्ति)।

सरलार्थ :– कर्मरूप परिणमनेयोग्य कार्माणवर्गणारूप पुद्गलों का कषाय सहित योग से जीव, द्वारा जो ग्रहण होता है, उसको बन्ध कहते हैं, जो जीव की पराधीनता का कारण है।

भावार्थ :– पुद्गल के दो भेद हैं १. परमाणु, २. स्कन्ध। स्कन्ध को जिनवाणी ने २३ भेदों में विभाजित किया है, जिन्हें वर्गणा भी कहते हैं। उनमें एक भेद कार्माणवर्गणा है, जो जीव के मोह परिणाम का निमित्त पाकर कर्मरूप से परिणमित होती है। प्रत्येक परमाणु अथवा अन्य स्कन्ध कर्मरूप परिणमन नहीं कर सकता। अतः श्लोक में **योग्यानां पुद्गलानां** शब्द का प्रयोग किया है।

योग के कारण कार्माणवर्गणाएँ आती हैं और कषाय के कारण बन्ध होता है। कार्माणवर्गणारूप पुद्गल परमाणुओं का आत्म-प्रदेशों में आकर जो एकक्षेत्रावगाहरूप अवस्थान/संश्लेष संबंध होता है, उसे बन्ध कहते हैं। यह कर्म का बन्ध जीव की पराधीनता में निमित्त होता है। यही आशय आचार्य उमास्वामी ने भी तत्त्वार्थसूत्र के आठवें अध्याय के दूसरे सूत्र में स्पष्ट किया है –

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः।

सूत्रार्थ :– कषाय सहित होने से कर्म के योग्य पुद्गल परमाणुओं को जीव ग्रहण करता है, वह बन्ध है।

इसके विशेष स्पष्टीकरण के लिए आचार्य पूज्यपादकृत तत्त्वार्थसूत्र के इस सूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका अवश्य देखें।

कर्मबन्ध के चार भेद –

प्रकृतिश्च स्थितिर्ज्ञेय: प्रदेशोऽनुभव: पर:।
चतुर्धा कर्मणो बन्धो दु:खोदय-निबन्धनम्॥१५१॥

अन्वय :– कर्मण: बन्ध: प्रकृति: स्थिति: प्रदेश: अनुभव-पर: च चतुर्धा ज्ञेय: (यत्) दु:खोदय-निबन्धनं (भवति)।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :– कर्म का बन्ध प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग के भेद से चार प्रकार का जानना चाहिए, जो कि आत्मा को दुःख का कारण है।

भावार्थ :– प्रकृति बंध आदि चारों प्रकार के बंध को यहाँ दुःख का कारण कहा है। इसका अर्थ पापबंध के साथ-साथ पुण्यबंध को भी दुःख का ही कारण बताया है, यह समझ लेना चाहिए। तत्त्वार्थसूत्र के आठवें अध्याय के तीसरे सूत्र में बंध के चारों भेदों का कथन आया है।

चारों बंधों का सामान्य स्वरूप –

निसर्गः प्रकृतिस्तत्र स्थितिः कालावधारणम्।
सुसंक्लिप्तिः प्रदेशोऽस्ति विपाकोऽनुभवः पुनः।।१५२।।

अन्वय :– **तत्र निसर्गः प्रकृतिः, कालावधारणं स्थितिः, सुसंक्लिप्तिः प्रदेशः, पुनः विपाकः अनुभवः अस्ति।**

सरलार्थ :– उक्त चार प्रकार के कर्मबन्धों में कर्म के स्वभाव का नाम प्रकृतिबन्ध, कर्म के जीव के साथ रहने की कालावधि का नाम स्थितिबन्ध, कर्मों का जीव के प्रदेशों में संश्लेष हो जाने का नाम प्रदेशबन्ध और कर्म के फलदान शक्ति का नाम अनुभव/अनुभागबन्ध है।

भावार्थ :– कार्माणवर्गणाओं का कर्मरूप परिणमन होकर जीव के साथ रहनेरूप ये चारों बन्ध एक समय में ही होते हैं; इनमें एक के बाद एक होवे, ऐसा क्रम नहीं है। मात्र कारण की अपेक्षा से भेद जान सकते हैं कि योग के कारण प्रकृति और प्रदेशबन्ध होते हैं और कषाय से स्थिति और अनुभाग बन्ध होते हैं।

कर्मबन्ध का स्वामी –

रागद्वेषद्वयालीढः कर्म बध्नाति चेतनः।
व्यापारं विदधानोऽपि तदपोढ़ो न सर्वथा।।१५३।।

अन्वय :– **राग-द्वेषद्वयालीढः चेतनः कर्म बध्नाति तदपोढः (राग-द्वेषाभ्याम् अपोढ़ः) (योगस्य) व्यापारं विदधानः अपि न सर्वथा (कर्म बध्नाति)।**

सरलार्थ :– राग-द्वेष-दोनों से सहित चेतन/आत्मा कर्म बांधता है और राग-द्वेष से रहित आत्मा मन-वचन-काय की क्रिया को करता हुआ भी कर्म का बन्ध किंचित् मात्र भी नहीं करता।

भावार्थ :– राग-द्वेष को एक शब्द से कहना हो तो मोह कह सकते हैं। अनेक स्थान पर शास्त्र में मोह-राग-द्वेष इन तीन शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। यहाँ कषाय में नोकषायों को गर्भित समझना आवश्यक है।

राग और द्वेष इन दोनों में सारा कषाय-नोकषायों का चक्र गर्भित है। इनमें से माया, लोभ, हास्य, रति और तीन वेद – ये सात रागरूप हैं और क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये छह द्वेषरूप है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मोह-राग-द्वेष का प्रयोग हो तो मोह का अर्थ दर्शनमोह और राग-द्वेष का अर्थ चारित्रमोह लेना चाहिए। नवीन कर्मबन्ध में मात्र औदयिक मोह भाव ही कारण है अन्य कोई कारण नहीं।

प्रथम गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान पर्यंत जीव राग-द्वेष से सहित होने से कर्मबंध करता है और उपरिम गुणस्थानवर्ती सर्व जीव वीतरागी होने से नवीन बंध रहित हैं। अरहंत अवस्था में योग की क्रिया होने पर भी किंचित् भी बंध नहीं होता।

ज्ञानार्णव ग्रंथ में भी कहा है –

''रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागी विमुञ्चति।
जीवो जिनोपदेशोऽयं संक्षेपाद्बन्धमोक्षयोः ।।

श्लोकार्थ :– राग सहित जीव कर्मों को बांधता है और राग रहित/वीतरागी जीव कर्मों को छोड़ता है। बंध और मोक्ष संबंधी जिनेन्द्र भगवान का संक्षेप में इतना ही उपदेश है।'' यही भाव समयसार गाथा १५० में भी आया है।

उदाहरणों से बन्ध का स्पष्टीकरण –

सचित्ताचित्त-मिश्राणां कुर्वाणोऽपि निषूदनम्।
रजोभिर्लिप्यते रूक्षो न तन्मध्ये चरन् यथा ।।१५४।।
विदधानो विचित्राणां द्रव्याणां विनिपातनम्।
रागद्वेषद्वयापेतो नैनोभिर्बध्यते तथा ।।१५५।।

अन्वय :– यथा रूक्षः (शरीरी) तन्मध्ये (रजसः मध्ये) चरन् सचित्त-अचित्त-मिश्राणां (च) निषूदनं कुर्वाणः अपि रजोभिः न लिप्यते।

तथा राग-द्वेष-द्वयापेतः (जीवः) सचित्त-अचित्त-मिश्राणां विचित्राणां द्रव्याणां विनिपातनं विदधानः (अपि) एनोभिः न बध्यते।

सरलार्थ :– जिसप्रकार चिकनाई से रहित रूक्ष शरीर का धारक जीव धूलि के मध्य में विचरता हुआ और सचित्त-अचित्त तथा मिश्र पदार्थों का छेदन-भेदनादि करता हुआ भी रज अर्थात् धूलि से लिप्त नहीं होता।

उसीप्रकार राग-द्वेषरूप दोनों विकारी भावों से रहित हुआ जीव नाना प्रकार के चेतन-अचेतन तथा मिश्र पदार्थों के मध्य में विचरता हुआ और उनका छेदन-भेदनादिरूप उपघात करता हुआ भी कर्मों से बन्ध को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ :– पिछले श्लोक के अन्त में यह बतलाया है कि राग-द्वेष से रहित हुआ जीव शरीरादि की अनेक चेष्टाएँ करता हुआ भी कर्म का बन्ध नहीं करता, उसको यहाँ सचिक्कनता-रहित बिलकुल रूक्ष शरीरधारी मानव के दृष्टान्त से स्पष्ट किया गया है। जिसप्रकार वह मानव धूलिबहुल स्थान के मध्य में विचरता हुआ और अनेक प्रकार के घात-उपघात के कार्यों को करता

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हुआ भी धूलि से धूसरित नहीं होता, उसीप्रकार राग-द्वेष से रहित जीव कर्म-क्षेत्र में उपस्थित होकर अनेक प्रकार की कायचेष्टादि क्रिया करता हुआ भी कर्म से लिप्त नहीं होता।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार के बन्धाधिकार में इस विषय का जो कथन २४२ से २४६ पाँच गाथाओं में स्पष्ट किया है, उस सबका सार यहाँ इन दो पद्यों में समेट लिया गया है। इस विषय की विशेष जानकारी के लिये समयसार की उक्त गाथाएँ एवं उनकी टीका तथा कलश, भावार्थ सहित जरूर देखें।

कर्मबन्ध का कारण कषायों से आकुलित चित्त –

सर्वव्यापारहीनोऽपि कर्ममध्ये व्यवस्थितः।
रेणुभिर्व्याप्यते चित्रैः स्नेहाभ्यक्ततनुर्यथा॥१५६॥
समस्तारम्भ-हीनोऽ पि कर्ममध्ये व्यवस्थितः।
कषायाकुलितस्वान्तो व्याप्यते दुरितैस्तथा॥१५७॥

अन्वय :– यथा स्नेह-अभ्यक्त-तनुः (पुरुषः) कर्ममध्ये व्यवस्थितः सर्वव्यापारहीनः अपि चित्रैः रेणुभिः व्याप्यते।

तथा कषाय-आकुलित-स्वान्तः कर्ममध्ये व्यवस्थितः समस्त-आरम्भ-हीनः अपि दुरितैः व्याप्यते।

सरलार्थ : – जिसप्रकार शरीर में तेलादि की मालिश किया हुआ पुरुष धूलि से व्याप्त कर्मक्षेत्र में बैठा हुआ समस्त व्यापार से हीन होता हुआ अर्थात् कर्मक्षेत्र में स्वयं कुछ काम न करता हुआ भी नाना प्रकार की धूलि से व्याप्त होता है।

उसीप्रकार जिसका चित्त क्रोधादि कषायों से आकुलित है, वह कर्म के मध्य में स्थित हुआ समस्त आरम्भों से रहित होने पर भी कर्मों से व्याप्त/लिप्त होता है।

भावार्थ :– पूर्व में जो यह बतलाया है कि राग और द्वेष से युक्त हुआ जीव कर्म का बन्ध करता है; उसे यहाँ तेल की मालिश किये हुए सचिक्कन देहधारी मनुष्य के दृष्टान्त से स्पष्ट किया गया है। जिसप्रकार तेल से लिप्त शरीर का धारक मनुष्य धूलिबहुल कर्मक्षेत्र में बैठा हुआ स्वयं सब प्रकार की कायादि चेष्टाओं से रहित होता हुआ भी धूलि से धूसरित होता है। उसीप्रकार कर्मक्षेत्र में उपस्थित हुए जिस जीव का चित्त कषाय से अभिभूत है/रागादिरूप परिणत है, वह सब प्रकार के आरम्भों से रहित होने पर भी कर्मों से बन्ध को प्राप्त होता है। इस रागादिरूप कषाय भाव में ही वह चिकनापन है जो कुछ न करते हुए भी कर्म को अपने से चिपकाता है। इसीलिए बन्ध का स्वरूप बतलाते हुए अधिकार के प्रारम्भ में ही उसका प्रधान कारण कषाय तथा योग बतलाया है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार के बन्धाधिकार के प्रारम्भ में इस विषय का जो कथन गाथा २३७ से २४१ में किया है, उसी का यहाँ उक्त दो श्लोकों में सार भरा है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कोई किसी का मरणादि नहीं कर सकता –

मरणं जीवनं दु:खं सौख्यं रक्षा निपीडनम्।
जातु कर्तुममूर्तस्य चेतनस्य न शक्यते॥१५८॥

अन्वय :– अमूर्तस्य चेतनस्य जीवनं मरणं सौख्यं दु:खं रक्षा निपीडनं कर्तुं जातु न शक्यते।

सरलार्थ :– इस संसार में अनादि-अनन्त एवं अमूर्तिक चेतन आत्मा का जीवन, मरण, सुख, दु:ख, रक्षण एवं पीडन करने के लिये अन्य कोई भी और कभी भी समर्थ नहीं है।

भावार्थ :– जिनेन्द्र कथित वस्तु-व्यवस्था के अनुसार अनंत अमूर्त जीव अनादिकाल से स्वत:सिद्ध हैं और स्वभाव से वे सर्व भविष्य में अनंतकाल तक रहेंगे ही। अतः कोई एक जीव दूसरे एक अथवा अनेक जीवों का नाश अर्थात् मरण कर ही नहीं सकता। जो संसार में मरणरूप कार्य देखा जाता है, वह मात्र देह-परिवर्तनरूप परिणाम है। जीव यहाँ से कहीं न कहीं अन्य अवस्थारूप में जाकर उत्पन्न होता है। दूसरा कारण-जीव अमूर्तिक होने से भी उसका नाश नहीं किया जा सकता।

मारणादि परिणामों से कर्मबन्ध –

विदधान: परीणामं मारणादिगतं परम्।
बध्नाति विविधं कर्म मिथ्यादृष्टिर्निरन्तरम्॥१५९॥

अन्वय :– मिथ्यादृष्टि: निरंतरं परं मारणादिगतं परीणामं विदधान: विविधं कर्म बध्नाति।

सरलार्थ :– वास्तविक वस्तु-व्यवस्था को न जाननेवाला मिथ्यादृष्टि/अज्ञानी अपने से संबंधित अन्य जीवों के मारणादि विषयक अशुभ परिणाम करता हुआ सतत अनेक प्रकार के दु:खदायी कर्मों को बाँधता रहता है।

भावार्थ :– कैसा आश्चर्यकारी स्वभाव है – अज्ञानी किसी को मारने का मात्र भाव ही करता है, सामनेवाले किसी भी जीव को मार तो सकता नहीं; तथापि मात्र मारनेरूप भाव के अपराध से कर्मों का बन्ध तो करता ही है। एक दृष्टि से न किये अपराध की सजा मिल गई, कोई ऐसी शंका भी कर सकता है। इसका उत्तर यहाँ आचार्य देते हैं – पर को मारने का भाव ही अपराध है, उस अपराध का ही फल अज्ञानी को मिलता है।

मारण के साथ, प्रयुक्त आदि शब्द से यहाँ दु:ख देना, पीड़ा पहुँचाना तो लिया ही है, साथ ही जीवित रखना, सुख पहुँचाना, रक्षा करना आदि भावों को भी लिया है। इन पाप-पुण्य परिणामों के अनुसार कार्य होने का नियम तो नहीं है; लेकिन कर्मबन्ध होने का तो पक्का नियम समझना चाहिए। जैसे मारने का भाव अपराध है, वैसे बचाने आदि के भाव भी वस्तु-स्वरूप के विपरीत होने से अपराध ही हैं, यह समझना महत्त्वपूर्ण है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मरणादिक सब कर्म-निर्मित –

कर्मणा निर्मितं सर्वं मरणादिकमात्मनः।
कर्मावितरतान्येन कर्तुं हर्तुं न शक्यते॥१६०॥

अन्वय :– आत्मनः मरणादिकं सर्वं कर्मणा निर्मितं (वर्तते)। कर्म-अवितरत-अन्येन (मरणादिकं सर्वं) कर्तुं हर्तुं न शक्यते।

सरलार्थ :– आत्मा का मरण-जीवन, सुख-दुःख, रक्षण, पीड़न – ये सब कार्य कर्म द्वारा निर्मित हैं। जो कर्म को नहीं देनेवाले ऐसे अन्यजन हैं, उनके द्वारा जीवन-मरणादिक का करना-हरना कभी नहीं बन सकता।

भावार्थ :– मरणादिक कार्यों को इस श्लोक में कर्मनिर्मित बतलाया है; जैसे मरण आयुकर्म के क्षय से होता है, आयुकर्म के उदय से जीवन बनता है। साता वेदनीय कर्म का उदय सुख का और असाता वेदनीय कर्म का उदय दुःख का कारण होता है। जब एक जीव दूसरे जीव को कर्म नहीं देता और न उसका कर्म लेता है तो फिर वह उस जीव के कर्म-निर्मित कार्य का कर्ता-हर्ता कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। इसलिए अपने को पर का कर्ता-हर्ता मानना मिथ्याबुद्धि है, जो बन्ध का कारण है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार कलश १६८ में इसी विषय को अत्यंत सुगम एवं स्पष्ट शब्दों में बताया है, उसे अवश्य देखें।

जिलाने आदि की मान्यता मिथ्यात्वजनित –

या जीवयामि जीव्येऽहं मार्येऽहं मारयाम्यहम्।
निपीडये निपीड्येऽहं सा बुद्धिर्मोहकल्पिता॥१६१॥

अन्वय :– (अहं) जीवयामि, अहं जीव्ये, अहं मारयामि, अहं मार्ये, (अहं) निपीडये, निपीड्ये या बुद्धिः सा मोह-कल्पिता (भवति)।

सरलार्थ :– मैं दूसरे जीवों को जिलाता हूँ, मुझे दूसरे जीव जिलाते हैं, मैं दूसरे जीवों को मारता हूँ, मुझे दूसरे जीव मारते हैं, मैं दूसरे जीवों को पीड़ा देता हूँ, मुझे दूसरे जीव पीडा देते हैं – इसतरह की जो मान्यता है, वह मिथ्यात्व से निर्मित अर्थात् मोह से की हुई कल्पना ही है।

भावार्थ :– पिछले श्लोक में मिथ्यादृष्टि की जिस बुद्धि का उल्लेख किया है, उसी का इस पद्य में स्पष्टीकरण है और उसे 'मोहकल्पिता'-दर्शन मोहनीय (मिथ्यात्व) कर्म के उदय-द्वारा कल्पित बतलाया है। अतः मैं दूसरे को जिलाता या मारता हूँ, दूसरा मुझे जिलाता या मारता है, इत्यादि प्रकार की बुद्धि से जो शुभ या अशुभ कर्म का बन्ध होता है, उसे भी मिथ्यात्वजन्य समझना चाहिए। ऐसी बुद्धिवाले जीव को श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार में **'सो मूढो अण्णाणी'** इस वाक्य के द्वारा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मूढ (मिथ्यादृष्टि) और अज्ञानी (अविवेकी) बतलाया है। पर के मारने-जिलाने, दुःखी-सुखी करने, पर के द्वारा मारे जाने-जिलाये जाने, सुखी-दुःखी किये जाने की बुद्धि को आयुकर्मादि के न देने न हरने आदि के कारण निरर्थक तथा मिथ्या बतलाया है और पुण्य-पाप के बन्ध की करनेवाली लिखा है।

साथ ही जीवन-मरण, सुख-दुःखादि का होना कर्म के उदयवश बतलाया है। इस विषय की २४८ से २६१ तक १४ गाथाएँ विस्तार रुचिवालों को समयसार में देखने योग्य हैं, जिनका सारा विषय संक्षेपतः यहाँ श्लोक १५८ से १६१ तक आ गया है। यह सब कथन निश्चय नय की दृष्टि से है। व्यवहारनय की दृष्टि से जिलाना, मारना, सुखी, दुःखी करना आदि कहने में आता है, जो वास्तविक नहीं है।

इस श्लोक में तथा अन्यत्र जिसे 'बुद्धि' शब्द से, १०वें आदि श्लोकों में 'परिणाम' शब्द से और कहीं 'भाव' तथा 'मति' शब्दों से उल्लेखित किया है, उसी के लिये समयसार में अध्यवसान, विज्ञान, व्यवसाय और चिन्ता शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। समयसार बन्धाधिकार की गाथा २७१ में सभी को एक ही अर्थ का वाचक बतलाया है।

कर्ताबुद्धि मिथ्या है –

कोऽपि कस्यापि कर्तास्ति नोपकारापकारयोः।
उपकुर्वेऽपकुर्वेऽहं मिथ्येति क्रियते मतिः ॥१६२॥

अन्वय :– कः अपि कस्य अपि उपकार-अपकारयोः कर्ता न अस्ति। अहं (कस्यापि) उपकुर्वे, अपकुर्वे इति (या) मतिः क्रियते (सा) मिथ्या (अस्ति)।

सरलार्थ :– कोई भी द्रव्य अन्य किसी भी द्रव्य का उपकार तथा अपकार करनेवाला नहीं है। व्यावहारिक जीवन में मैं दूसरों का कल्याण/अच्छा करता हूँ अथवा मैं अकल्याण/बुरा करता हूँ; यह मान्यता मिथ्या/खोटी है।

भावार्थ :– जीवादि छहों द्रव्यों में धर्मादि चार द्रव्य अमूर्तिक एवं नित्य शुद्ध परिणमन करनेवाले होने से उनमें कुछ विकार करने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। सिद्ध जीव पूर्ण शुद्ध रीति से परिणत हो गये हैं, वे मात्र ज्ञाता होने से उनको कोई कर्तृत्व का विकल्प ही नहीं होता। पुद्गल जडस्वभावी होने से उनमें करने-कराने सम्बन्धी भावों की चर्चा ही व्यर्थ है। जो वस्तु-स्वभाव के यथार्थ ज्ञाता बनकर मोक्षमार्गी हो गये हैं, उनको समझाने अथवा समझने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए मात्र मिथ्यात्व कर्म के निमित्त से जो अन्यथा श्रद्धा रखते हैं, उनको ही यहाँ आचार्य समझा रहे हैं।

लौकिक जीवन में दूसरे का उपकार अथवा अपकार करने की जो मान्यता देखी/जानी जाती है, उसे यहाँ मिथ्या बता रहे हैं। कोई किसी का अच्छा-बुरा कर ही नहीं सकता, ऐसा निर्णय

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आवश्यक है। जबतक मैं दूसरों का अच्छा-बुरा कर सकता हूँ – यह मान्यता श्रद्धा में बनी रहेगी, तबतक मिथ्यात्व कर्म का उदयजन्य कार्य चल रहा है, ऐसा समझना चाहिए।

करने-कराने का भाव कर्मोदयजन्य –

सहकारितया द्रव्यमन्येनान्यद् विधीयते।
क्रियमाणोऽन्यथा सर्वः संकल्पः कर्म-बन्धजः ॥१६३॥

अन्वय :– सहकारितया द्रव्यं अन्येन अन्यत् विधीयते।अन्यथा क्रियमाणः सर्वः संकल्पः कर्म-बन्धजः (भवति)।

सरलार्थ :– सहकारिता अर्थात् निमित्त की दृष्टि से देखा जाय तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से अन्यरूप में किया जाता है। अन्यथा करने-करानेरूप जो संकल्प है, वह सब कर्मबन्ध से उत्पन्न होता है अर्थात् कर्म के उदयजन्य है; उसमें जीव का कुछ कर्तापना नहीं है।

भावार्थ :– वास्तव में एक द्रव्य की अवस्था के निमित्त से अन्य द्रव्य की अवस्था उत्पन्न होती है अर्थात् पूर्व पर्याय से भिन्न पर्यायरूप हो जाती है। इसतरह पर्याय के परिवर्तन का यह कार्य प्रत्येक द्रव्य के द्रव्य-गुण-पर्याय में ही सीमित है; अन्य द्रव्य के साथ उसका कर्त्ता-कर्मरूप संबंध नहीं है।

इस श्लोक में करने-करानेरूप संकल्प का और संकल्पानुसार अन्य द्रव्य के परिवर्तन का निषेध किया है और जीव को जो संकल्प होता है उस संकल्प का कारण पूर्वबद्ध मोहनीय कर्म का उदय है – यह सिद्ध किया है। फलितार्थरूप जीव को अकर्ता निश्चित किया है।

ऐसा ही भाव स्वामी कार्तिकेय अपनी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा - ३१९ में निम्नप्रकार से स्पष्ट करते हैं :–

"ण य को वि देदि लच्छी, ण को वि जीवस्स कुणदि उवयारं।
उवयारं अवयारं, कम्मं पि सुहासुहं कुणदि॥

गाथार्थ :- इस जीव को व्यन्तर आदि देव लक्ष्मी नहीं देते हैं। इस जीव का कोई अन्य उपकार भी नहीं करता है। जीव के पूर्व संचित शुभ-अशुभ कर्म ही उपकार तथा अपकार करते हैं।"

चारित्रादि की मलिनता में हेतु मिथ्यात्व –

चारित्रं दर्शनं ज्ञानं मिथ्यात्वेन मलीमसम्।
कर्पटं कर्दमेनेव क्रियते निज-संगतः ॥१६४॥

अन्वय :– कर्दमेन कर्पटं इव चारित्रं दर्शनं ज्ञानं मिथ्यात्वेन निज-संगतः मलीमसं क्रियते।

सरलार्थ :– जिसप्रकार कपड़ा कीचड़ के साथ स्वयं संपर्क करने से मैला हो जाता है; उसीप्रकार मिथ्यात्व के साथ स्वयं संगति करने से चारित्र, दर्शन/श्रद्धा और ज्ञान मिथ्या हो जाते हैं।

भावार्थ :– पिछले श्लोकों में तथा इससे पूर्व के आस्रवाधिकार में भी बुद्धि आदि के रूप में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जिस ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र को सदोष बतलाया है, उसकी सदोषता के कारण को इस श्लोक में स्पष्ट किया गया है और वह है मिथ्यात्व का सम्बन्ध, जिसे यहाँ कर्दम-कीचड़ की उपमा दी गयी है। कीचड़ के सम्बन्ध से जिसप्रकार वस्त्र मैला हो जाता है, उसीप्रकार मिथ्यात्व कर्म के उदय का निमित्त पाकर जीव के दर्शन/श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र मलीन हो जाते हैं।

यहाँ जीव द्रव्य के श्रद्धा गुण की मिथ्यात्व पर्याय को निमित्त कहा है और उसी जीव द्रव्य के चारित्र गुण तथा ज्ञान गुण में मिथ्यापना होनेरूप नैमित्तिक कार्य को बताया है। साथ ही चारित्र और ज्ञान गुण का संगति करनेरूप उपादानगत दोष भी स्पष्ट किया है।

चारित्रादि गुणों का पर्यायगत स्वभाव –

चारित्रादि-त्रयं दोषं स्वीकरोति मलीमसम्।
न पुनर्निर्मलीभूतं सुवर्णमिव तत्त्वत: ।।१६५।।

अन्वय :– वस्तुत: मलीमसं चारित्रादि-त्रयं दोषं स्वीकरोति पुन: सुवर्णं इव निर्मलीभूतं (चारित्रादि-त्रयं) न (दोषं स्वीकरोति)

सरलार्थ :– मिथ्यात्व अवस्था में विद्यमान चारित्र, दर्शन एवं ज्ञान मिथ्या दोष को स्वीकार कर मिथ्यारूप/परिणमते हैं; परंतु मिथ्यात्व रहित साधक तथा सिद्ध अवस्था में अत्यन्त परिशुद्ध/निर्मल पर्यायरूप परिणत सम्यक् चारित्र, दर्शन एवं ज्ञान मिथ्यारूप दोष को ग्रहण नहीं करते; वे चारित्र आदि भविष्य में अनंतकाल तक सम्यक्रूप ही रहते हैं। जैसे कि किट्ट-कालिमा से रहित शुद्ध निर्मल/सुवर्ण फिर से उस किट्ट-कालिमा को ग्रहण नहीं करता।

भावार्थ :– पिछले श्लोक में मिथ्यात्व के योग से ज्ञान-दर्शन-चारित्र का सदोष होना बतलाया था, अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जो ज्ञान-दर्शन-चारित्र मल का संग त्यागकर पूर्णतः निर्मल हो गये हैं, वे भी क्या पुनः मिथ्यात्व के योग से मलिन हो जाते हैं? इसी के समाधानार्थ इस श्लोक का अवतार हुआ जान पड़ता है।

इसमें बतलाया है कि जो ज्ञान-दर्शन-चारित्र मलिन हैं – किसी भी मल से युक्त हैं अथवा सत्ता में मल को लिये हुए हैं, वही वस्तुतः दोष को स्वीकार करते हैं, दूसरे मल को ग्रहण करते हैं अथवा मलरूप परिणत होते हैं, मल से ही मल की परिपाटी चलती है।

जो पूर्णतः निर्मल हो गये हैं वे फिर से मिथ्यात्व के संग से मलिन नहीं होते। जिसप्रकार पूर्णतः निर्मल हुआ स्वर्ण, दिन-रात कीचड़ में पड़ा रहने पर भी फिर से किट्ट-कालिमा को ग्रहण नहीं करता।

इसी में मुक्ति का तत्त्व छिपा हुआ है। जिन जीवों का दर्शन-ज्ञान-चारित्र पूर्णतः निर्मल हो जाता है, वे फिर से भव धारण कर अथवा अवतार लेकर संसार-भ्रमण नहीं करते, सदा के लिये भव-बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वस्तुगत स्वाभाविक व्यवस्था अतिशय अनुकूल एवं सुख-प्रदाता है; क्योंकि दुःख अवस्था का नाश करके पूर्ण रीति से सुखरूप परिणमन की व्यवस्था तो है; लेकिन पूर्ण सुखरूप परिणमन करने के बाद पुनः दुःखरूप अवस्था की प्राप्ति नियम से नहीं होती।

जैसे दूध में से दही, मक्खन और घी की प्राप्ति तो होती है, लेकिन घी पुनः मक्खनादिरूप परिणत नहीं होता। वैसे ही सिद्ध जीव पुनः कभी संसारी नहीं होते।

भोगता हुआ सम्यग्दृष्टि अबन्धक –

नीरागोऽप्रासुकं द्रव्यं भुञ्जानोऽपि न बध्यते।
शङ्खः किं जायते कृष्णः कर्दमादौ चरन्नपि॥१६६॥

अन्वय :– कर्दमादौ चरन् अपि शङ्खः किं कृष्णः जायते ? (न जायते; तथा एव) नीरागः (जीवः) अप्रासुकं द्रव्यं भुञ्जानः अपि न बध्यते।

सरलार्थ :– जिसप्रकार कीचड आदि में विचरता/पडा हुआ भी शंख क्या काला हो जाता है? कदापि काला नहीं हो जाता, वह सफेद ही बना रहता है। उसीप्रकार जो कथंचित् वीतरागी हुआ श्रावक है, वह अप्रासुक पदार्थों का भोजन/सेवन करता हुआ भी मिथ्यात्वादि अनेक कर्म प्रकृतियों के बन्ध को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ :– नीरागः शब्द का अर्थ हमने कथंचित् वीतरागी इसलिए किया है, क्योंकि वह अप्रासुक द्रव्य का भोग कर रहा है। पूर्ण वीतरागी होने के बाद तो भोजनादि सब भोगों का अभाव हो जाता है। दूसरा कथंचित् वीतरागी का अर्थ भी हमने श्रावक पर घटाया है; क्योंकि वह अप्रासुक द्रव्य का भोग कर रहा है; इसलिए मुनि नहीं हो सकता, श्रावक ही होना चाहिए। भूमिका के योग्य होनेवाले रागादि परिणामों से नया बंध भी होता रहता है, उसका यहाँ निषेध नहीं समझना चाहिए।

इस हेतु समयसार गाथा २०१-२०२ की जयसेनाचार्य विरचित तात्पर्यवृत्ति टीका देखिए, जिसका सार निम्नानुसार है –

''रागी सम्यग्दृष्टि नहीं होता – ऐसा आपने कहा, तब चौथे-पाँचवें गुणस्थानवर्ती भरतादिक सम्यग्दृष्टि नहीं है ? ऐसा नहीं है। मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से तैंतालीस प्रकृतियों का उसे बंध नहीं होता; अतः वे सराग सम्यग्दृष्टि नहीं हैं ? यह कैसे ? ऐसा पूछने पर बताते हैं कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवों के अनंतानुबंधी क्रोधादि जो पाषाण रेखा के समान है, उनका अभाव होने से वे (बारा कषाय सहित रागवाले) सराग सम्यग्दृष्टि हैं।

पुनश्च पंचम गुणस्थानवर्ती जीवों के भूमि रेखा आदि के समान अप्रत्याख्यान क्रोध-मान-माया-लोभ जनित रागादि का अभाव होने से वे उतने राग सहित सराग सम्यग्दृष्टि हैं।

अप्रासुक द्रव्य के सेवन से तो बंध होता ही है; तथापि उसी समय जो प्रगट शुद्ध परिणतिरूप वीतरागता है, वह अबंध में कारण है; ऐसा समझना चाहिए। यहाँ व्यक्त वीतरागता का महत्त्व बताने का भाव है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यँहाँ 'अप्रासुक' का अर्थ – अभक्ष्य नहीं समझना चाहिए। जो भक्ष्य होकर भी सचित्त हैं उसे यहाँ अप्रासुक कहा है।

इस विषय को स्पष्ट समझने के लिये समयसार गाथा-९७ के आगे-पीछे के प्रकरण को अवश्य देखें।

न भोगता हुआ मिथ्यादृष्टि बंधक –

सरागो बध्यते पापैरभुञ्जानोऽपि निश्चितम्।
अभुञ्जाना न किं मत्स्याः श्वभ्रं यान्ति कषायतः ।।१६७।।

अन्वय :– अभुञ्जानाः मत्स्याः कषायतः किं श्वभ्रं न यान्ति ? (अवश्यमेव यान्ति; तथा एव) अभुञ्जानः अपि सरागः (जीवः) निश्चितं पापैः बध्यते।

सरलार्थ :– जिसप्रकार स्वयम्भूरमण समुद्र में रहनेवाला तन्दुलमत्स्य न भोगता हुआ भी क्या कषाय से अर्थात् भोगने की लालसा से नरक को प्राप्त नहीं होता? अर्थात् नरक को प्राप्त होता ही है। उसीप्रकार द्रव्यों को न भोगता हुआ भी भोग में सुख की मान्यता रखनेवाला सरागी अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्वादि सर्व पाप कर्मों के बंध को प्राप्त होता है, यह निश्चित है।

भावार्थ :– कर्मबन्ध में मूल कारण अभिप्राय है, यह विषय मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र के सातवें अधिकार में 'आस्रवतत्त्व का अन्यथा रूप' प्रकरण में निम्न शब्दों में बताया है– **तथा बाह्य क्रोधादि करना उसको कषाय जानता है, अभिप्राय में जो राग-द्वेष बस रहे हैं, उनको नहीं पहिचानता।**

पंचेंद्रिय के विषयों में भोगप्रवृत्ति से एवं सात व्यसन तथा तीव्र पाप में प्रवृत्त होने से मिथ्यादृष्टि जीव को ४० कोडाकोडी सागर के चारित्रमोहनीय कर्म का स्थिति-बंध होता है। इसकी तुलना में विषयभोगों, पापों एवं व्यसनों के सेवन में सुखरूप मान्यता करने से अर्थात् मिथ्यात्व परिणाम से ७० कोडाकोडी सागर के दर्शनमोहनीय कर्म का स्थिति बंध होता है। भोग नहीं भोगनेवाले ने तो ४० कोडीकोडी सागर का स्थितिबंध न होवे, ऐसी मनोकल्पना से व्यवस्था तो की; लेकिन ७० कोडाकोडी सागर स्थितिबंध चालू रखा है। अतः भोग न भोगनेवाले मिथ्यादृष्टि को भी ४० कोडाकोडी सागर का चारित्रमोहनीय का और ७० कोड़ाकोड़ी सागर का दर्शनमोहनीय का – दोनों का बन्ध हो रहा है – ऐसा समझना चाहिए। समयसार गाथा १९७ में तथा इसकी टीका में इस श्लोकगत विषय को उदाहरण के साथ स्पष्ट किया है, उसे अवश्य देखें।

ज्ञानी/सम्यग्दृष्टि भोगों से अबन्धक –

ज्ञानी विषयसंगेऽपि विषयैर्नैव लिप्यते।
कनकं मलमध्येऽपि न मलैरुपलिप्यते ।।१६८।।

अन्वय :– (यथा) मलमध्ये अपि कनकं मलैः न उपलिप्यते (तथा) विषय-संगे (सति) अपि ज्ञानी विषयैः न एव लिप्यते।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :– जैसे किसी भी प्रकार के कीचड़ादि मल में पड़ा हुआ शुद्ध सुवर्ण मल के कारण से अशुद्ध नहीं होता; वैसे ज्ञानी अर्थात् चौथे-पाँचवें गुणस्थानवर्ती श्रावक भी अनेक प्रकार के विषय-भोगों को भोगते हुए भी उन विषयों के कारण मिथ्यात्व-जन्य कर्मों से बद्ध नहीं होते अर्थात् निर्लिप्त ही रहते हैं।

भावार्थ :– यहाँ ज्ञानी शब्द का अर्थ मात्र श्रावक ही लेना चाहिए मुनि नहीं, क्योंकि उसे ही आगे भोगों में रहनेवाला कहा है।

कर्म का बन्ध नहीं होता, इसका अर्थ मात्र मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कर्मों का ही बंध नहीं होता, ऐसा अर्थ करना आवश्यक है। भूमिका के योग्य भोग भोगते समय जो राग-द्वेष होंगे, उनके कारण से होनेवाले चारित्र मोहनीय कर्म के बंध होने का यहाँ निषेध समझना आगम परिपाटी के अनुसार उचित नहीं है अर्थात् यथायोग्य बंध होता ही है।

अध्यात्म-शास्त्र में मिथ्यात्व एवं मिथ्यात्वजन्य बंध को ही बंध माना जाता है, अन्य को नहीं। यह योगसारप्राभृत शास्त्र भी अध्यात्म ग्रंथ है।

इस श्लोक में कथित विषय समयसार गाथा २१८ एवं २१९ तथा इनके आगे-पीछे टीका तथा कलशों में कनक के दृष्टान्त के साथ ही आया है। उस समग्र अंश को आचार्य अमितगति ने यहाँ दिया है।

साधक योगी आहारादि से अबन्धक –

आहारादिभिरन्येन कारितैर्मोदितैः कृतैः।
तदर्थं बध्यते योगी नीरागो न कदाचन॥१६९॥

अन्वय :– **नीरागः योगी तदर्थं अन्येन कृतैः कारितैः मोदितैः (च) आहारादिभिः कदाचन न बध्यते।**

सरलार्थ :– अनंतानुबंधी आदि तीन कषाय चौकडी के अभावपूर्वक व्यक्त वीतरागता सहित योगी/अर्थात् मुनिराज के लिए दूसरों से अर्थात् श्रावकों से किये, कराये तथा अनुमोदित आहार, वसतिका आदि से मुनिराज कभी भी बंध को प्राप्त नहीं होते।

भावार्थ :– इस श्लोक में नीरागी शब्द का अर्थ कथंचित् वीतरागी ही करना चाहिए; क्योंकि यह शब्द आहारादि लेनेवाले मुनिराज के लिये प्रयुक्त हुआ है। उन्हें तीन कषाय चौकडी के अभावपूर्वक व्यक्त हुई वीतरागता है और संज्वलन कषाय के उदय से राग भी विद्यमान है। इस कषाय के कारण ही उन्हें यथायोग्य राग-द्वेष होते हैं। मुनिराज के लिये श्रावक ही आहार बनाते हैं, बनवाते हैं तथा अनुमोदना भी करते हैं। वसतिका भी तैयार करते-कराते हैं। इन कारणों से आरम्भ और आरम्भ से पाप का होना अनिवार्य है; तथापि उस पाप से मुनिराज को किंचित् मात्र भी कर्म का बंध नहीं होता।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

उसी समय संज्वलन कषायजन्य परिणामों से किंचित् आस्रव-बंध भी होता ही है। अपेक्षा को समझना यथार्थ अर्थ करने का सच्चा उपाय है। आहारादि के कारण होनेवाले पाप का बंध मुनिराज को नहीं होता; क्योंकि आहार बनानेरूप पाप कार्य उनके कृत, कारित एवं अनुमोदना से रहित हैं। इतना ही बताना यहाँ प्रयोजनभूत है। सूक्ष्मता से देखा जाय तो जबतक सूक्ष्म लोभ रहता है तबतक तीन घाति कर्मों का तथा साता वेदनीय, उच्चगोत्र आदि अघाति कर्मों का बंध भी क्षपक सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवर्ती महामुनिराज को भी होता ही है।

श्रावक के परिणामों से मुनिराज को बंध नहीं होता –

परद्रव्यगतै-र्दोषैर्नीरागो यदि बध्यते।
तदानीं जायते शुद्धिः कस्य कुत्र कुतः कदा ।।१७०।।

अन्वय :– परद्रव्यगतैः दोषैः यदि नीरागः बध्यते; तदानीं कस्य कदा कुत्र कुतः शुद्धिः जायते ?

सरलार्थ :– परद्रव्य में उत्पन्न होनेवाले दोषों के कारण यदि वीतरागी मुनिराज को कर्म का बंध होता रहे तो फिर किसकी, कब, कहाँ और कैसे शुद्धि हो सकती है? अर्थात् शुद्धि नहीं हो सकती।

भावार्थ :– योगी/मुनि के लिये आहारादि बनाने-बनवाने-अनुमोदना करने में जिस आरम्भादि-जनित दोष की पिछले श्लोक में सूचना है, उसे यहाँ 'पर-द्रव्याश्रित दोष' बतलाया है और साथ ही यह निर्देश किया है कि ऐसे परद्रव्याश्रित दोषों से यदि नीरागी योगी को भी बन्ध होने लगे तो फिर किसी भी जीव की किसी भी काल में किसी भी स्थान पर और किसी भी प्रकार से शुद्धि नहीं हो सकती।

अपने आत्मा में अशुद्धि अपने द्रव्यगत रागादि दोषों से ही होती है – परद्रव्यगत दोषों से नहीं। अतः दोष कोई करे और उस दोष से किसी दूसरे को बन्ध हो, इस भ्रान्त-धारणा को छोड़ देना चाहिए। प्रत्येक जीव अपने-अपने शुभ-अशुभ भावों के ही अनुसार शुभ-अशुभ बन्ध को प्राप्त होता है, यह अनन्त सर्वज्ञों द्वारा कथित अटल सिद्धान्त है।

विषयों के ज्ञाता-दृष्टा योगी अबन्धक –

नीरागो विषयं योगी बुध्यमानो न बध्यते।
परथा बध्यते किं न केवली विश्ववेदकः ।।१७१।।

अन्वय :– नीरागः योगी विषयं बुध्यमानः (अपि) न बध्यते; परथा विश्ववेदकः केवली किं न बध्यते ?

सरलार्थ :– जो वीतरागी योगी अर्थात् मुनिराज हैं, वे विषयों को जानते हुए कर्मबंध को प्राप्त नहीं होते। यदि विषयों को जानने से कर्मबंध होता हो तो विश्व के ज्ञाता केवली कर्मबंध को प्राप्त क्यों नहीं होंगे ?

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– यदि विषयों को जानने मात्र से कर्म का बंध माना जाये तो सामान्य ज्ञानी अर्थात् मतिश्रुतज्ञानी से अवधिज्ञान के धारकों को अधिक बंध होना चाहिए। अवधिज्ञानी से अधिक कर्मबंध मनःपर्यय ज्ञान के धारकों को होना आवश्यक हो जायगा। इतना ही नहीं मति-श्रुतज्ञान के धारकों में भी जिनको जितना विशाल ज्ञान हैं; उन्हें कर्मबंध अधिक मानना पडेगा; लेकिन वस्तु-स्वरूप ऐसा नहीं है। ज्ञेयों को मात्र जानने से बंध नहीं होता, यही वस्तुस्थिति है।

कर्म के बंध में मोह परिणाम ही निमित्त है, जीव के ज्ञानादि गुण व उनका परिणमन कर्मबंध में कारण नहीं। ज्ञान अर्थात् जानना तो जीव का स्वभाव है। स्वभाव कभी कर्मबंध में निमित्त हो नहीं सकता। आचार्य महाराज ने तो केवलज्ञानी को बंध क्यों नहीं होगा ? ऐसा प्रश्न पूछकर विषयों को जानने मात्र से बंध माननेवालों की मान्यता को मिथ्या कहा है।

प्रश्न :– समयसार गाथा १७०-१७१ में ज्ञान गुण को बंध का कारण कैसे कहा है?

उत्तर :– समयसार गाथा १७२ में जघन्यभाव से परिणत ज्ञान को बंध का कारण बताया और इस गाथा की टीका में स्पष्ट किया है कि जघन्यज्ञान के साथ राग अवश्य रहता है और राग ही बंध का कारण है। अतः ज्ञान को उपचार से बंध का कारण कहा है।

ज्ञानी एवं अज्ञानी में भिन्नता –

ज्ञानिना सकलं द्रव्यं ज्ञायते वेद्यते न च।
अज्ञानिना पुनः सर्वं वेद्यते ज्ञायते न च।।१७२।।

अन्वय :– ज्ञानिना सकलं द्रव्यं ज्ञायते न वेद्यते च पुनः अज्ञानिना सर्वं वेद्यते न च ज्ञायते।

सरलार्थ :– ज्ञानी जीव समस्त वस्तु-समूह को जानते हैं; परंतु उसका वेदन नहीं करते और अज्ञानी जीव सकल वस्तु-समूह का वेदन करते हैं; किन्तु जानते नहीं।

भावार्थ :– ज्ञानी अपनी योग्यतानुसार सकल वस्तु-समूह को ज्ञान से प्रत्यक्ष जानते हैं; लेकिन उनका वेदन नहीं करते और अज्ञानी जीव अपने ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशमानुसार व्यंक्त ज्ञान में ज्ञेय बननेवाले सकल वस्तु-समूह का वेदन करते हैं; परन्तु उनको वे जानते नहीं।

ज्ञान और वेदन की परिभाषा –

यथावस्तुपरिज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिभिरुच्यते।
राग-द्वेष-मद-क्रोधैः सहितं वेदनं पुनः।।१७३।।

अन्वय :– यथा - वस्तु (तथा) परिज्ञानं ज्ञानिभिः ज्ञानं उच्यते पुनः (यत् परिज्ञानं) राग-द्वेष-मद-क्रोधैः सहितं (भवति तत्) वेदनं (उच्यते)।

सरलार्थ :– जो वस्तु जिस रूप में स्थित है, उसे उसी रूप में जानने को ज्ञानीजनों ने ज्ञान कहा है और जो जानना राग-द्वेष, मद, क्रोध सहित होता है, उसे वेदन कहते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– यद्यपि 'ज्ञान' और 'वेदन' दोनों शब्द सामान्यतः जाननेरूप एकार्थक हैं; परन्तु पूर्व श्लोक में ज्ञान और वेदन को शब्द-भेद से ही नहीं; किन्तु अर्थभेद से भी भेदरूप उल्लिखित किया है, वह अर्थभेद क्या है, उसको बतलाने के लिये ही इस श्लोक में दोनों का लक्षण दिया है।

ज्ञान का लक्षण **यथावस्तु-परिज्ञान** दिया है, जिसका आशय है बिना किसी पर के मिश्रण अथवा मेल-मिलाप के वस्तु का यथावस्थितरूप में शुद्ध (खालिस) जानना **ज्ञान** है। **वेदन** उस जानने को कहते हैं; जिसके साथ में मोह-राग-द्वेष, अहंकार, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सादि विकार भाव मिल जायें। अर्थात् किसी वस्तु के देखते ही इनमें से कोई विकार भाव उत्पन्न हो जाय, उस विकार के साथ जो उसका जानना है/अनुभव है, वह **वेदन** कहलाता है।

पूर्ण वीतराग गुणस्थानवर्ती मुनिराज, अरहन्त एवं सिद्ध भगवान राग-द्वेष रहित मात्र जानते हैं; अतः उन्हें ज्ञान ही है, वेदन नहीं और अन्य मिथ्यादृष्टि जीव वीतरागी न होने के कारण उन्हें मात्र वेदन है। साधकों को अपने-अपने गुणस्थान के अनुसार ज्ञान और वेदन दोनों भी यथापदवी रहते हैं।

ज्ञान और अज्ञान का एक-दूसरे में अभाव –

नाज्ञाने ज्ञान-पर्यायाः ज्ञाने नाज्ञानपर्ययाः।
न लोहे स्वर्ण-पर्याया न स्वर्णे लोह-पर्ययाः ॥१७४॥

अन्वय :– (यथा) लोहे स्वर्ण-पर्यायाः न (सन्ति), स्वर्णे (च) लोह-पर्यायाः न (सन्ति ; तथा) अज्ञाने ज्ञान-पर्यायाः न (सन्ति), ज्ञाने (च) अज्ञान-पर्यायाः न (सन्ति)।

सरलार्थ :– जिसप्रकार लोहे में स्वर्ण की पर्यायें और स्वर्ण में लोह की पर्यायें नहीं होती; उसीप्रकार अज्ञान में ज्ञान की पर्यायें और ज्ञान में अज्ञान की पर्यायें नहीं होती।

भावार्थ :– अज्ञान शब्द से यहाँ पूर्व श्लोक में प्रयुक्त वह मिथ्याज्ञानजन्य वेदन विवक्षित है जो राग-द्वेषादि विकारों से अभिभूत होता है, उसमें शुद्ध ज्ञान की पर्यायें नहीं होतीं और ज्ञान से वह सम्यग्ज्ञानजन्य शुद्ध ज्ञान विवक्षित है जिसमें अशुद्ध ज्ञान (वेदन) की पर्यायें नहीं होतीं।

यहाँ निम्नप्रकार भी विशेष विचार करना योग्य रहेगा – सामान्य से 'अज्ञान' शब्द से जिसका ग्रहण है वह धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल – इन पाँच अचेतनात्मक द्रव्यों का समूह है, इनमें-से किसी भी द्रव्य में ज्ञान की पर्यायें नहीं होतीं, उसीप्रकार जिसप्रकार लोहे में सुवर्ण की पर्यायें नहीं होतीं। और 'ज्ञान' शब्द से जिसका ग्रहण है, वह है चेतनात्मक 'जीव' द्रव्य, इसमें अजीव द्रव्यों में से किसी द्रव्य की कोई पर्याय नहीं होती।

यह एक तात्त्विक सिद्धान्त का निर्देश है और इस बात को सूचित करता है कि ये सब चेतन-अचेतन द्रव्य चाहे जितने काल तक परस्पर में एकक्षेत्रावगाह रूप मिलें-जुलें, सम्पर्क-सम्बन्ध अथवा बन्ध को प्राप्त रहें; परन्तु वस्तुतः कोई भी चेतन द्रव्य कभी अचेतन और अचेतन द्रव्य कभी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

चेतन नहीं होता। इस सिद्धान्त के विपरीत जो कुछ प्रतिभास या कल्पना की जाती है, वह सब मिथ्या है।

ज्ञानी अबंधक एवं अज्ञानी बंधक –

ज्ञानीति ज्ञान-पर्यायी कल्मषानामबन्धकः।
अज्ञश्चाज्ञान-पर्यायी तेषां भवति बन्धकः ।।१७५।।

अन्वय :– इति (यः) ज्ञानी ज्ञान-पर्यायी (अस्ति; सः) कल्मषानां अबन्धकः (भवति) (यः) च अज्ञः अज्ञान-पर्यायी (अस्ति; सः) तेषां (कल्मषानां) बन्धकः भवति।

सरलार्थ :– जो ज्ञानी अर्थात् सम्यग्दृष्टि आदि साधक हैं, वह ज्ञान-पर्यायी अर्थात् ज्ञानरूप परिणमन को लिये हुए हैं; इसलिए मिथ्यात्वादिरूप पापकर्मों के अबन्धक हैं। और जो अज्ञानी हैं वह अज्ञान-पर्यायी हैं; अर्थात् अज्ञानरूप परिणमन को लिये हुए हैं, इसलिए वे मिथ्यात्वादि पापकर्मों के बन्धक हैं।

भावार्थ :– अध्यात्मशास्त्र में सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी और मिथ्यादृष्टि को अज्ञानी कहते हैं। इस विभाजन को छोड़कर मार्गणा, गुणस्थानादि अथवा अन्य कोई विभाजन अध्यात्म में विवक्षित नहीं होता। सम्यग्दृष्टि को मिथ्यात्व एवं अनंतानुबंधी का बन्ध नहीं होता, इतने मात्र से ही उसे अबन्धक कहते हैं। मात्र इतना ही नहीं, सम्यग्दृष्टि आदि के जो कषाय-नोकषायरूप परिणाम भी होते हैं, उन परिणामों को भी उपचार से ज्ञानमय कहते हैं; क्योंकि ज्ञानी उन्हें भी विभावरूप जानता है, उनका कर्ता-भोक्ता नहीं बनता।

इस विषय का विशद ज्ञान करने के लिये समयसार शास्त्र की गाथा १२६ से १३१ पर्यंत की टीका, भावार्थ सहित सूक्ष्मता से पढ़ना चाहिए।

कर्मफल को भोगनेवाले ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर –

दीयमानं सुखं दुःखं कर्मणा पाकमीयुषा।
ज्ञानी वेत्ति परो भुङ्क्ते बन्धकाबन्धकौ ततः ।।१७६।।

अन्वय :– पाकं ईयुषा कर्मणा दीयमानं सुखं दुःखं ज्ञानी वेत्ति परः (अज्ञानी) भुङ्क्ते ततः (तौ द्वौ) बन्धकाबन्धकौ (भवतः)।

सरलार्थ :– पूर्वबद्ध कर्म के अनुभाग-उदय से प्राप्त सुख और दुःख को ज्ञानी जीव मात्र जानता है और अज्ञानी भोगता है। इसकारण ज्ञानी कर्मों का अबन्धक है और अज्ञानी बन्धक।

भावार्थ :– ज्ञानी जीव प्राप्त सुख-दुःख से राग-द्वेष-मोह नहीं करता, उनमें समताभाव ही रखता है। इसकारण ज्ञानी मात्र सुख-दुःख का ज्ञाता रहता है। समयसार ग्रन्थ में ज्ञानी के ज्ञान और वैराग्य का सामर्थ्य गाथा १९५ से १९७ तथा उनकी टीका, कलश एवं भावार्थ में बताया गया है, अतः इसे सूक्ष्मता से पढ़ने पर यह विषय स्पष्ट हो जायेगा।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रवचनसार की गाथा ४३ भी इस विषय को समझने के लिये उपयोगी है।

ज्ञानी जीव अपने को मात्र ज्ञानस्वभावी मानता है; अतः उसे मोह नहीं होता। इसकारण कर्म का बंध भी नहीं होता। अज्ञानी की मान्यता इससे विपरीत रहती है।

भूमिका के अनुसार होनेवाले रागादि परिणामों से होनेवाला नवीन बंध यहाँ होता ही है; तथापि यहाँ उसको गौण करके बात कही जा रही है।

कर्म एवं गति के कारणों का निर्देश –

कर्म गृह्णाति संसारी कषाय-परिणामत:।
सुगतिं दुर्गतिं याति जीव: कर्म-विपाकत:।।१७७।।

अन्वय :– संसारी जीव: कषाय-परिणामत: कर्म गृह्णाति, (च) कर्म-विपाकत: सुगतिं दुर्गतिं याति।

सरलार्थ :– संसारी-जीव कषायादि मोह परिणाम से कर्म को ग्रहण करता है अर्थात् कर्म को बाँधता है और पूर्व बद्ध कर्म के अनुभागोदय से सुगति तथा दुर्गति को प्राप्त होता है।

भावार्थ :– राग-द्वेष-मोह परिणाम में रुचि रखनेवाला जीव संयोग में आये हुए पदार्थों में अज्ञानवश इष्टानिष्टबुद्धि रखकर मिथ्यात्व एवं क्रोधादि कषायरूप परिणत होता है। मोह परिणाम के निमित्त से नया पुण्य-पापरूप कर्म बाँधता है। पूर्वबद्ध अवस्था के कर्म की स्थिति पूर्ण होने पर कर्म के उदय का निमित्त पाकर सुख-दुःखरूप फल भोगते हुए जीव पुनः मोह-राग-द्वेष करता है और पुनः नवीन कर्म का बन्ध करता हैं। इसतरह परिणाम और कर्म तथा कर्म और परिणाम की परंपरा निमित्त-नैमित्तिकरूप से चालू रहती है।

इसी विषय को पंचास्तिकाय संग्रह में आचार्य कुंदकुंद ने गाथा १२८ में निम्नानुसार बताया है–

"जो खलु संसारत्थो, जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं, कम्मादो होदि गदि-सुगदी।।

गाथार्थ :- जो वास्तव में संसारस्थित जीव है, उससे परिणाम होता है (अर्थात् उसे स्निग्ध परिणाम होता है), परिणाम से कर्म और कर्म से गतियों में गमन होता है।"

संसारी जीव की प्रवृत्ति –

सुगतिं दुर्गतिं प्राप्त: स्वीकरोति कलेवरम्।
तत्रेन्द्रियाणि जायन्ते गृह्णाति विषयांस्तत:।।१७८।।

अन्वय :– सुगतिं दुर्गतिं प्राप्त: (जीव:) कलेवरं स्वीकरोति। तत्र (कलेवरे) इन्द्रियाणि जायन्ते, तत: (इन्द्रियत:) विषयान् गृह्णाति।

सरलार्थ :– देव-मनुष्यरूप सुगति और नरक-तिर्यंचरूप-दुर्गति को प्राप्त हुआ जीव उस-उस गतियोग्य शरीर को ग्रहण करता है। उस शरीर में यथायोग्य इंद्रियाँ उत्पन्न होती हैं और उन इंद्रियों से स्पर्शादि विषयों को ग्रहण करता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– पिछले श्लोक में कर्मफल से जिस सुगति या दुर्गति को जाने की बात कही गयी है, उसको प्राप्त होकर यह जीव नियम से देह धारण करता है – चाहे वह देव, मनुष्य तिर्यंचादि किसी भी प्रकार की क्यों न हो। देह में इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है – चाहे एक स्पर्शन इन्द्रिय ही क्यों न हो। इन्द्रियों से उनके विषय - स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण तथा शब्द का ग्रहण होता है। इस तरह संसार में जीवों की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष ही देखने को मिलती है।

इस श्लोकगत विषय को ही पंचास्तिकाय संग्रह गाथा १२९, १३० में बताया गया है।

रागादि भावों से दुःख –

ततो भवन्ति रागाद्यास्तेभ्यो दुरित-संग्रहः।
तस्माद् भ्रमति संसारे ततो दुःखमनेकधा॥१७९॥

अन्वय :– ततः (विषय-ग्रहणतः) रागाद्याः भवन्ति। तेभ्यः (रागादिभ्यः) दुरित-संग्रहः (जायते)। तस्मात् (जीवः) संसारे भ्रमति। ततः (संसारतः) अनेकधा-दुःखं (प्राप्नोति)।

सरलार्थ :– प्राप्त इंद्रियों से विषय-ग्रहण के कारण राग-द्वेषादिक उत्पन्न होते हैं। रागादिक से पुण्य-पापरूप दुःखद कर्मों का संचय-अर्थात् बन्ध होता है और उस कर्मबन्ध के कारण अनेक प्रकार का दुःख प्राप्त होता है।

भावार्थ :– विषयों के ग्रहण से राग-द्वेषादिक उत्पन्न होते हैं और राग-द्वेषादि की उत्पत्ति से पुनः नवीन कर्मबन्ध होता है और कर्मबन्ध के फलस्वरूप पुनः गति, सुगति, देह, इन्द्रिय विषय-ग्रहण, राग-द्वेष और पुनः कर्मबन्धादि के रूप में संसार-परिभ्रमण होता है। इस संसार-परिभ्रमण में अनेकानेक प्रकार के दुःखों को सहन करना पड़ता है, इन सबका वर्णन करना अशक्य है।

मनुष्य गति के कुछ दुःखों का प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है और तिर्यंच गति के दुःख तो रात-दिन देखने में भी आते हैं, उनका कहाँ तक वर्णन करें ? जिज्ञासु मोक्षमार्गप्रकाशक तीसरा अध्याय पढ़कर अपनी जिज्ञासा शांत करें।

मुक्ति का कारण –

दुःखतो बिभ्यता त्याज्याः कषायाः ज्ञान-शालिना।
ततो दुरित-विच्छेदस्ततो निर्वृति-सङ्गमः॥१८०॥

अन्वय :– दुःखतः बिभ्यता ज्ञान-शालिना कषायाः त्याज्याः (सन्ति)। ततः दुरित-विच्छेदः (भवति)। ततः निर्वृति-सङ्गमः (जायते)।

सरलार्थ :– इसलिए दुःख से भयभीत ज्ञानवान जीव को मिथ्यात्व, कषायादि का त्याग करना चाहिए। मिथ्यात्वादि के त्याग से पुण्य-पापरूप दुःखद कर्मों का नाश होता है और कर्मों के विनाश से सहज ही मुक्ति की प्राप्ति होती है।

भावार्थ :– जो जीव दुःखों से डरते हैं, उन ज्ञानी-जनों को कर्मबन्ध के कारणभूत मिथ्यात्व, क्रोधादि कषायों तथा हास्यादि नोकषायों का त्याग करना चाहिए। उनको त्यागने से पिछला कर्म-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

बन्धन टूटेगा तथा नये कर्म का बन्धन नहीं होगा। ऐसा होने से मुक्ति का संगम सहज ही प्राप्त होगा, जो स्वात्मोत्थित, स्वाधीन, परनिरपेक्ष, अतीन्द्रिय, अनन्त, अविनाशी और निर्विकार उस परम सुख का कारण है, जिसके समान कोई भी सुख संसार में नहीं पाया जाता। इसी से स्वामी समन्तभद्र ने ऐसे सुखी महात्मा को स्वयम्भूस्तोत्र में तीर्थंकर मुनिसुव्रत के स्तोत्र में **अभवदभवसौख्यवान् भवान्** वाक्य के द्वारा **अभव-सौख्यवान्** अर्थात् मोक्ष-सुखसंपन्न बतलाया है।

रागादि सहित जीव के शुभाशुभ परिणाम –

सन्ति रागादयो यस्य सचित्ताचित्त-वस्तुषु।
प्रशस्तो वाऽप्रशस्तो वा परिणामोऽस्य जायते ॥१८१॥

अन्वय :– यस्य (जीवस्य) सचित्त-अचित्त-वस्तुषु रागादयः सन्ति; अस्य प्रशस्तः वा अप्रशस्तः परिणामः जायते।

सरलार्थ :– जिस जीव के चेतन-अचेतन वस्तुओं में राग-द्वेष-मोह भाव होते हैं, उसके प्रशस्त/शुभ, अप्रशस्त/अशुभ परिणाम उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ :– इस श्लोक के अर्थ से यह विषय अत्यन्त स्पष्ट होता है कि पुण्य एवं पाप परिणाम के जनक अर्थात् उत्पादकरूप पिता राग-द्वेष-मोहरूप एक ही परिणाम है। जिसका पिता एक हो, वे दोनों आपस में भाई-भाई हो जाते हैं। पिता मोह है इसलिए उसके पुत्र, पुण्य और पाप दोनों आपस में भाई-भाई हो गये। अतः आकुलतामय पुण्य व पाप दोनों संसार एवं संसारभ्रमण के कारण ही हैं। इन दोनों में से पुण्य को धर्ममय मानना ही मिथ्यात्व है। समयसार कलश १०१ में यह विषय आया है, अत: उसे भी अवश्य देखें।

पुण्य-पाप के कारण का परिचय –

प्रशस्तो भण्यते तत्र पुण्यं पापं पुनः परः।
द्वयं पौद्गलिकं मूर्तं सुख-दुःख-वितारकम् ॥१८२॥

अन्वय :– तत्र प्रशस्तः पुण्यं, पुनः परः पापं भण्यते। द्वयं पौद्गलिकं, मूर्तं, सुख-दुःख-वितारकं (च भवति)।

सरलार्थ :– उन दो प्रकार के परिणामों में प्रशस्त परिणाम को पुण्य और अप्रशस्त परिणाम को पाप कहते हैं। ये दोनों पुण्य-पापरूप परिणाम पौद्गलिक हैं, मूर्तिक हैं और क्रमशः सांसारिक सुख-दुःख के दाता हैं।

भावार्थ :– यहाँ प्रशस्त और अप्रशस्त-परिणामों के अलग-अलग नामों का उल्लेख है। प्रशस्त परिणामों को 'पुण्य' और अप्रशस्त परिणाम (भाव) को 'पाप' बतलाया है; क्योंकि ये दोनों क्रमशः पुण्य व पाप कर्मबन्ध के कारण हैं। इन दोनों को पौद्गलिक, मूर्तिक तथा यथाक्रम सुख-दुःख के प्रदाता लिखा है। सुख-दुःख के प्रदाता वे पुण्य-पापरूप द्रव्यकर्म होते हैं, जो उक्त परिणामों के

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निमित्त से उत्पन्न होकर स्थितिबन्ध के द्वारा फलदान के समय तक जीव के साथ सत्ता में रहते हैं। जब वे उदय में आकर जीव से अलग होने लगते हैं, तब जीव के सुख-दुःख में निमित्त बनते हैं। पुण्यकर्म के सुखदाता मात्र इंद्रिय-सुख की अपेक्षा कहा है, उसे निराकुल सुखदाता मानना अज्ञानभाव है।

तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ६ के सूत्र तीन में यह विषय आया है – शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्या।

समयसार की गाथा ७४ में आस्रव (बंध) परिणाम को **दुक्खा दुक्खफलत्ति य**/दुःखरूप तथा दुःखरूपफल देनेवाले कहा है।

प्रश्न :– क्या पुण्य परिणाम को भी पौद्‌गलिक समझना?

उत्तर :– हाँ, इसमें आश्चर्य की क्या बात है? समयसार गाथा १५६ की टीका में और कलश १०७ में पुण्य को अन्यस्वभावी अर्थात् पुद्‌गलस्वभावी कहा है।

पुण्य परिणाम, पुद्‌गलमय पुण्य कर्म में निमित्त होते हैं, इस दृष्टि से कारण में कार्य का उपचार करके भी पुण्यभाव को पौद्‌गलिक कहने/मानने में आया है।

पुण्य-पाप पुद्‌गलमय होने से मूर्तिक तो सहज ही हो गये। जो वीतरागधर्मरूप नहीं है, उसे पुद्‌गल कहने की अध्यात्म-शास्त्र की पद्धति है। पुण्य को पुद्‌गल कहते ही पुण्य परिणाम में स्पर्शादि गुणों को ढूँढने का अज्ञान अनुचित है।

पुण्य-पाप का फल भोगनेवाला जीव मूर्तिक –

मूर्तो भवति भुञ्जानः सुख-दुःखफलं तयोः।
मूर्तकर्मफलं मूर्तं नामूर्तेन हि भुज्यते॥१८३॥

अन्वय :– तयोः (पुण्य-पाप-परिणामयोः) सुख-दुःख-फलं भुञ्जानः (जीवः) मूर्तः भवति; (यतः) मूर्त-कर्म-फलं मूर्तं अमूर्तेन न हि भुज्यते।

सरलार्थ :– उन दोनों पुण्य-पापरूप परिणामों के सुख-दुःखरूप फल को भोगता हुआ यह जीव मूर्तिक होता है; क्योंकि मूर्तिक कर्म का फल मूर्तिक होता है और वह अमूर्तिक द्वारा नहीं भोगा जाता।

भावार्थ :– पुण्य तथा पाप दोनों द्रव्यकर्म पौद्‌गलिक/मूर्तिक हैं, क्योंकि वे कार्माणवर्गणारूप पुद्‌गल से बनते हैं। उनके दिये हुए सुख-दुःख फल को, जो कि मूर्तिकजन्य होने से मूर्तिक होते हैं, उन्हें अमूर्तिक आत्मा कैसे भोगता है? यह एक प्रश्न है, जिसका उत्तर इतना ही है कि पुण्य-पाप फल को भोगता हुआ जीव मूर्तिक होता है। कर्म-फल को भोगनेवाले सब जीव संसारी होते हैं और संसारी जीव अनादि कर्म-सम्बन्ध के कारण व्यवहार से मूर्तिक कहे जाते हैं।

कर्म-रहित जीव अमूर्तिक –

मूर्तो भवत्यमूर्तोऽपि पुण्यपापवशीकृतः।
यदा विमुच्यते ताभ्याममूर्तोऽस्ति तदा पुनः॥१८४॥

अन्वय :– पुण्य-पाप-वशीकृतः अमूर्तः (जीवः) अपि मूर्तः भवति। यदा (सः जीवः) ताभ्यां विमुच्यते तदा पुनः अमूर्तः अस्ति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :– पुण्य-पापरूप कर्म के वशीभूत हुआ अमूर्तिक जीव भी मूर्तिक हो जाता है और जब जीव उन पुण्य-पाप दोनों कर्मों से छूट जाता है, तब वह अमूर्तिक होता है।

भावार्थ :– पिछले श्लोक में अमूर्तिक जीव के मूर्तिक होने की जो बात कही गयी है उसी को इस श्लोक में स्पष्ट करते हुए लिखा है कि मूर्तिक पुण्य-पाप के वश में/बन्धन में पड़ा हुआ जीव वस्तुतः अमूर्तिक होते हुए भी मूर्तिक होता है और जब वह उन दोनों के बन्धन से छूट जाता है तब स्वरूप में स्थित हुआ स्वयं अमूर्तिक हो जाता है। जीव का संसारावस्थारूप जितना भी विभावरूप परिणमन है, वह सब उसे मूर्तिक बनाता है।

जीव के अमूर्तिकपने का उदाहरण –

विकारं नीयमानोऽपि कर्मभिः सविकारिभिः।
मेघैरिव नभो याति स्वस्वभावं तदत्यये॥१८५॥

अन्वय :– सविकारिभिः कर्मभिः विकारं नीयमानः अपि (जीवः) मेघैः अत्यये नभः इव तदत्यये (तस्य-विकारस्य अत्यये) स्व-स्वभावं याति।

सरलार्थ :– जिसप्रकार मेघों से विकार को प्राप्त हुआ आकाश उन मेघों के विघटित हो जाने पर अपनी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त होता है। उसीप्रकार विकारी कर्मों के द्वारा विकार को प्राप्त हुआ यह संसारी जीव उन विकारों के नाश होने पर अपने (मूल) स्वभाव को प्राप्त होता है।

भावार्थ :– ज्ञानावरणादि आठों कर्मों से रहित पूर्ण-शुद्धरूप सिद्ध पर्याय की प्राप्ति होने पर ही जीव अपने स्वभावानुसार पर्याय में भी अमूर्तिक होता है।

पुण्यबंध के कारण –

अर्हदादौ परा भक्तिः कारुण्यं सर्वजन्तुषु।
पावने चरणे रागः पुण्यबन्धनिबन्धनम्॥१८६॥

अन्वय :– अर्हत्-आदौ परा भक्तिः, सर्वजन्तुषु कारुण्यं, (च) पावने चरणे रागः (इदं सर्वं) पुण्य-बन्ध-निबन्धनम् (अस्ति)।

सरलार्थ :– अरहंत आदि में उत्कृष्ट भक्ति, सर्व प्राणियों में करुणाभाव और पवित्र चारित्र के अनुष्ठान/आचरण में प्रीतिरूप भाव, ये सर्व परिणाम पुण्यबन्ध के कारण हैं।

भावार्थ :– यहाँ पुण्य-बन्ध के कारणों का निर्देश करते हुए उन्हें मुख्यतः तीन प्रकार का बतलाया है। पहला अर्हन्तादि की उत्कृष्ट भक्ति, दूसरा सब प्राणियों के प्रति करुणाभाव (दया परिणाम – अहिंसाभाव) और तीसरा पवित्र चारित्र के पालन में अनुराग।

यहाँ अरहन्त के साथ प्रयुक्त 'आदि' शब्द प्रधानतः सिद्धों का और गौणतः उन आचार्य, उपाध्याय तथा साधु परमेष्ठियों का वाचक है, जो भावलिंगी हों, **द्रव्यलिंगी** अथवा भवाभिनन्दी न हों और अपने-अपने पद के सब गुणों में यथार्थतः परिपूर्ण हों।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भक्ति का 'परा' विशेषण ऊँचे अथवा उत्कृष्ट अर्थ का वाचक है और इस बात का सूचक है कि यहाँ सातिशय उत्कृष्ट पुण्य-बन्ध के कारणों का निर्देश है।

पंचास्तिकाय संग्रह गाथा १६६ भी बहुत कुछ इस विषय को स्पष्ट करनेवाली है; जो निम्नानुसार है –

अरहन्तसिद्धचेदियपवयणगणणाणभत्तिसंपण्णो।
बंधदि पुण्णं बहुसो ण हु सो कम्मक्खयं कुणदि॥

गाथार्थ :- अर्हंत, सिद्ध, चैत्य (अरहंतादि की प्रतिमा), प्रवचन (शास्त्र), मुनिगण और ज्ञान के प्रति भक्तिसम्पन्न जीव बहुत पुण्य बाँधता है; परन्तु वास्तव में वह कर्म का क्षय नहीं करता।

इसप्रकार अरहन्तादिक की सर्वोत्तम भक्ति भी मुक्ति का कारण नहीं है; मात्र बहुत पुण्य का कारण है, इसी विषय को आचार्य अमितगति ने इस श्लोक में बताया है।

प्रवचनसार में शुभोपयोग का लक्षण बताते समय आचार्य कुन्दकुन्द ने गाथा १५७ में भी यही भाव प्रगट किया है।

पापबन्ध के कारण –

निन्दकत्वं प्रतीक्ष्येषु नैर्घृण्यं सर्वजन्तुषु।
निन्दिते चरणे रागः पाप-बन्ध-विधायकः॥१८७॥

अन्वय :– प्रतीक्ष्येषु (अर्हत्-आदि पूज्येषु) निन्दकत्वं, सर्व-जन्तुषु नैर्घृण्यं, (च) निन्दिते चरणे रागः पाप-बन्ध विधायकः (भवति)।

सरलार्थ :– अरहन्तादि पूज्य पुरुषों के सम्बन्ध में निन्दा का परिणाम, सर्व प्राणियों के प्रति निर्दयता का भाव और सप्त व्यसन, तीव्र हिंसादि पापरूप चारित्र संबंधी प्रीतिरूप भाव अर्थात् बहुमान की प्रवृत्ति – ये सब पाप का बन्ध करनेवाले हैं।

भावार्थ :– यहाँ पाप-बन्ध के कारणों का उल्लेख करते हुए उन्हें भी तीन प्रकार का बतलाया है – एक इष्टों-पूज्यों के प्रति निन्दा का भाव, दूसरा सब प्राणियों पर निर्दयता/हिंसा का भाव और तीसरा निन्दित चारित्र में अनुराग।

प्रवचनसार की गाथा १५८ में अशुभोपयोग की परिभाषा भी इसी विषय को स्पष्ट करती है –

विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो॥

गाथार्थ :– जिसका उपयोग विषय-कषाय में अवगाढ अर्थात् मग्न है; कुश्रुति, कुविचार और कुसंगति में लगा हुआ है; उग्र है तथा उन्मार्ग में लगा हुआ है, उसका वह अशुभोपयोग है।

अज्ञानी पुण्य-पाप में भेद मानता है –

सुखासुख-विधानेन विशेषः पुण्य-पापयोः।
नित्य-सौख्यमपश्यद्भिर्मन्यते मुग्धबुद्धिभिः॥१८८॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्वय :– **नित्य-सौख्यं अपश्यद्भिः मुग्धबुद्धिभिः सुख-असुख-विधानेन पुण्य-पापयोः विशेषः मन्यते।**

सरलार्थ :– जो जीव नित्य अर्थात् शाश्वत, सच्चे निराकुल सुख से अपरिचित हैं, वे ही अज्ञानी इंद्रियजन्य सुख-निमित्तक कर्म को पुण्य और दुःख-निमित्तक कर्म को पाप, ऐसा भेद जानते/मानते हैं।

भावार्थ :– शरीर को ही आत्मा जानने/माननेवाले आत्मविमूढ़ जीव को इंद्रियों से उत्पन्न सुख ही सब कुछ लगता है अर्थात् श्रेष्ठ लगता है।

शरीर अर्थात् पाँच इंद्रिय और उनके विषय जिनके लिये सर्वस्व हैं, वे आत्मिक-सुख से अनादि काल से अनभिज्ञ हैं। इसकारण बाह्य अनुकूलता में निमित्त होनेवाले पुण्य कर्म को कर्म न मानकर धर्म ही मानने-लगते हैं। अतः पुण्य की प्राप्ति और पाप के परिहार के लिये ही प्रयासरत रहते हैं। अतः जिनवाणी के बिनां सच्चे स्वरूप को समझानेवाला इस संसार में कोई नहीं है। इसलिए शास्त्र से यथार्थ स्वरूप को जानना चाहिए।

शास्त्र में भी पुण्य-पाप के भेद की चर्चा अधिक आयेगी। यथार्थ देशना से ही सत्य-स्वरूप समझ में आ सकता है; जो दुर्लभ एवं शास्त्र में भी अल्पमात्रा में ही है।

प्रवचनसार की गाथा ७७ में पुण्य-पापसंबंधी ऐसा ही मार्मिक कथन आया है, उसे जरूर देखें।

बुद्धिमान पुण्य-पाप को एक मानते हैं –

पश्यन्तो जन्मकान्तारे प्रवेशं पुण्य-पापतः।
विशेषं प्रतिपद्यन्ते न तयोः शुद्धबुद्धयः।।१८९।।

अन्वय :– **पुण्य-पापतः जन्मकान्तारे प्रवेशं (भवति। एतत्) पश्यन्तः शुद्धबुद्धयः तयोः (पुण्य-पापयोः) विशेषं न प्रतिपद्यन्ते।**

सरलार्थ :– पुण्य-पापरूप कर्म के कारण ही संसाररूपी दुःखद वन में प्रवेश होता है, यह जानकर शुद्धबुद्धिवाले जीव पुण्यपाप में भेद नहीं मानते अर्थात् दोनों को संसार-वन में भ्रमाने की दृष्टि से समान समझते हैं।

भावार्थ :– जो शुद्धबुद्धि/सम्यग्दृष्टि हैं, वे यह देखकर कि पुण्य और पाप दोनों ही जीव को संसार-वन में प्रवेश कराकर, उसे इधर-उधर भ्रमाकर दुःखित करनेवाले हैं, दोनों में कोई वास्तविक भेद नहीं है, दोनों को ही पराधीन-कारक बन्धन समझते हैं। भले ही पुण्य से कुछ सांसारिक सुख मिले; परन्तु उस सुख के पराधीनतामय स्वरूप और उसकी क्षणभंगुरतादि को देखते हुए उसे वास्तविक सुख नहीं कहा जा सकता।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

समयसार का पुण्य-पाप अधिकार पुण्य-पाप के सच्चे स्वरूप को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी है, उसे जरूर पढ़ें। आचार्य कुंदकुंद ने गाथा १४५ में इसी भाव को स्पष्ट समझाया है। नाटक समयसार में पुण्य-पाप अधिकार को 'पुण्य-पाप एकत्व द्वार' ऐसा नाम देकर ही ग्रंथकर्ता पं. बनारसीदासजी ने सब कुछ समझा दिया है।

सर्वज्ञ कथित शास्त्र में अत्यन्त विशद रीति से आचार्यों ने और अन्य विद्वानों ने भी पुण्य-पाप के एकत्व को समझाया है, तो भी अज्ञानी अपने दीर्घ संसार के कारण इस सत्य को मानते नहीं हैं, यह खेद का विषय है।

आत्मस्वरूप में अवस्थित योगी को मुक्ति की प्राप्ति –

(हरिणी)

विषय-सुखतो व्यावृत्य स्व-स्वरूपमवस्थित-
स्त्यजति धिषणां धर्माधर्म-प्रबन्ध-निबन्धिनीम्।।
जनन-गहने दुःखव्याघ्रे प्रवेशपटीयसीं।
कलिल-विकलं लब्ध्वात्मानं स गच्छति निर्वृत्तिम्।।१९०।।

अन्वय :– विषय-सुखतः व्यावृत्य स्व-स्वरूपं अवस्थितः (य : योगी) धर्म-अधर्म-प्रबन्ध-निबन्धिनीं दुःख-व्याघ्रे जनन-गहने प्रवेश-पटीयसीं धिषणां त्यजति सः (योगी) कलिल-विकलं आत्मानं लब्ध्वा निर्वृतिं गच्छति।

सरलार्थ :– जो योगी विषय-सुख से निवृत्त होकर अपने आत्मस्वरूप में अवस्थित होते हैं और धर्माधर्मरूप पुण्य-पाप के बन्ध की कारणभूत उस बुद्धि का त्याग करते हैं, जो बुद्धि दुःख-व्याघ्र से व्याप्त गहन संसार-वन में प्रवेश करानेवाली है, वे कर्मरहित विविक्त अर्थात् शुद्ध आत्मा को पाकर मुक्ति को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ :– यह बन्धाधिकार के उपसंहार का श्लोक है। जिस बुद्धि का इस पूरे अधिकार में विस्तार से वर्णन किया है, उसी का इस श्लोक में संक्षेप से उल्लेख है और उसे पुण्य-पाप का बन्ध करानेवाली तथा दुःखरूप व्याघ्र-समूह से व्याप्त गहन संसार-वन में प्रवेश करानेवाली लिखा है। इस बुद्धि को वे ही योगी त्यागने में समर्थ होते हैं, जो इन्द्रिय-विषयों के सुख को वास्तविक सुख न मानते हुए उससे विरक्त एवं निवृत्त होकर अपने आत्म-स्वरूप में स्थित होते हैं, वे ही कर्मकलंक से रहित शुद्धात्मतत्त्व को प्राप्त होकर मुक्ति को प्राप्त होते हैं – बन्धन से सर्वथा छूट जाते हैं।

इस श्लोक में प्रयुक्त हुआ 'धर्म' शब्द पुण्य का 'अधर्म' शब्द पाप का और 'कलिल' शब्द कर्मफल का वाचक है।

इसप्रकार श्लोक क्रमांक १५० से १९० पर्यन्त ४१ श्लोकों में यह चौथा 'बन्ध-अधिकार' पूर्ण हुआ।

●●●

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

५

संवर-अधिकार

संवर का लक्षण और उसके भेद –

कल्मषागमनद्वार-निरोधः संवरो मतः।
भाव-द्रव्यविभेदेन द्विविधः कृतसंवरैः॥१९१॥

अन्वय :– कृतसंवरैः (अरहंतादिभिः) कल्मष-आगमन-द्वार-निरोधः संवरः भाव-द्रव्य-विभेदेन द्विविधः मतः।

सरलार्थ :– अपने जीवन में संवर व्यक्त करनेवाले अरहन्तों ने मिथ्यात्वरूप पाप के आगमन के निरोध/रोकने को संवर कहा है। संवर के दो भेद हैं – १. भावसंवर २. द्रव्यसंवर।

भावार्थ :– संवराधिकार का प्रारम्भ करते हुए यहाँ सबसे पहले संवर तत्त्व का लक्षण दिया है और फिर उसके द्रव्यसंवर तथा भावसंवर ऐसे दो भेद किये गये हैं। 'कल्मषों के आगमन-द्वार का निरोध' यह संवर का लक्षण है। इसमें 'कल्मष' शब्द मिथ्यात्व-कषायादि सारे मोह कर्म-मलों का वाचक है और 'आगमनद्वार' शब्द आत्मा में कर्म-मलों के प्रवेश के लिये हेतुभूत जो मन-वचन-काय योगों का व्यापाररूप आस्रव है उसका द्योतक है। इसीसे मोक्षशास्त्र में सूत्ररूप से **आस्रवनिरोधः संवरः** इतना ही संवर का संक्षिप्त तथापि महत्त्वपूर्ण लक्षण दिया है; आगमाभ्यासी जिससे परिचित हैं।

समयसार गाथा १८६, उसकी टीका एवं भावार्थ में संवर के उत्पत्ति का उपाय शुद्धात्मा को जानना अर्थात् अनुभवना ही बताया है। समयसार कलश १२९ में तो संवर के इस उपाय को ही अत्यंत विशदरूप से परिभाषित किया है; उसे आचार्य अमृतचंद्र के शब्दों में ही देखिए –

संपद्यते संवर एष साक्षात्।
शुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात्॥

श्लोकार्थ :– यह साक्षात् संवर वास्तव में शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि से होता है।

अतः संवर प्रगट करने का एकमात्र उपाय शुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति करना ही है, अन्य कुछ उपाय नहीं।

संवर के भेदों का लक्षण –

रोधस्तत्र कषायाणां कथ्यते भावसंवरः।
दुरितास्रवविच्छेदस्तद्रोधे द्रव्यसंवरः॥१९२॥

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्वय :– तत्र कषायाणां रोधः भावसंवरः कथ्यते। तद्रोधे दुरित-आस्रव-विच्छेदः द्रव्यसंवरः (कथ्यते)।

सरलार्थ :– मिथ्यात्वादि कषाय परिणामों के निरोध को भावसंवर कहते हैं और मिथ्यात्वादि कषायों के निरोध होने पर ज्ञानावरणादि कर्मों का जो आस्रव अर्थात् आगमन का विच्छेद होता है, उसे द्रव्यसंवर कहते हैं।

भावार्थ :– पिछले श्लोक में संवर के जिन दो भेदों का नामोल्लेख किया गया है, इस श्लोक में उनका ही स्वरूप दिया गया है। मिथ्यात्व क्रोधादिरूप कषायों के निरोध को 'भावसंवर' बतलाया है और कषायों का निरोध (भावसंवर) होनेपर जो पौद्गलिक कर्मों का आत्म-प्रवेशरूप आस्रव रुकता है, उसे 'द्रव्यसंवर' घोषित किया है।

सम्यक्त्व प्राप्त होते ही मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी के अभाव के कारण संवर प्रगट होता है। यह संवरतत्त्व सर्व प्रथम चौथे गुणस्थान में प्रगट होता है।

भाव एवं द्रव्यकर्म के अभाव से पूर्ण शुद्धि –

कषायेभ्यो यतः कर्म कषायाः सन्ति कर्मतः।
ततो द्वितयविच्छेदे शुद्धिः संपद्यते परा॥१९३॥

अन्वय :– यतः कषायेभ्यः कर्म, कर्मतः कषायाः सन्ति। ततः द्वितयविच्छेदे (सति) परा शुद्धिः संपद्यते।

सरलार्थ :– कषायादि विकारी भावों के निमित्त से द्रव्यकर्म का बन्ध और मोहनीयादि द्रव्यकर्म के उदय/निमित्त से कषायादि भावकर्म उत्पन्न होते हैं। इसलिए भाव तथा द्रव्यकर्मों के विच्छेद अर्थात् विनाश होने पर आत्मा में परम विशुद्धि/पूर्ण वीतरागता प्रगट होती है।

भावार्थ :– आत्मा में परम शुद्धि के विधान की व्यवस्था बताते हुए उसके विरोधी दो कारणों को नष्ट करने की बात कही गयी है – एक कषाय भावों की और दूसरी-द्रव्यकर्मों की; क्योंकि एक के निमित्त से दूसरे का उत्पाद होता है। जब दोनों ही नहीं रहेंगे, तभी आत्मा में पूर्ण शुद्धि बन सकेगी।

सर्वोत्तम शुद्धि तो आत्मा में आत्मा से ही होगी; यह बात परम सत्य होनेपर भी उस सर्वोत्तम शुद्धि के/वीतरागता के प्रगट होने में विभाव भाव एवं द्रव्यकर्मों का अभाव भी होता ही है।

मोह से आत्मबोध का नाश –

कषायाकुलितो जीवः परद्रव्ये प्रवर्तते।
परद्रव्यप्रवृत्तस्य स्वात्मबोधः प्रहीयते॥१९४॥

अन्वय :– कषाय-आकुलितः जीवः परद्रव्ये प्रवर्तते। परद्रव्य-प्रवृत्तस्य स्व-आत्मबोधः प्रहीयते।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :– कषाय अर्थात् मोह से आकुलित जीव दुःखी होता है और दुःखी जीव दुःख मिटाने की भावना से परद्रव्य में प्रवृत्त होता है। परद्रव्य में प्रवृत्ति के कारण ही जीव का आत्मज्ञान नष्ट होता है; इसतरह मोह ही आत्मज्ञान के नाश का कारण है।

भावार्थ :– मोह के कारण ही अज्ञानी जीव अनादिकाल से संसार में परद्रव्य से सुख मिलेगा, इस मिथ्या मान्यता से ही दुःखी है। यह मिथ्या मान्यता जितनी दृढ रहती है, उतनी मात्रा में जीव दुःखी रहता है। स्वयं के सुखमय स्वरूप को नहीं मानना ही मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्व का नाश तो यथार्थ मान्यता से होता है। इसलिये **मैं स्वयं सुखस्वरूप हूँ;** इस मान्यता को स्वीकार करना चाहिए। अध्यात्म शास्त्र ही नहीं, चारों अनुयोगों का मूल प्रयोजन आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान करना ही है।

आत्मबोध के अभाव से मिथ्यात्ववर्धन –

प्रहीण-स्वात्म-बोधस्य मिथ्यात्वं वर्धते यतः।
कारणं कर्मबन्धस्य कषायस्त्यज्यते ततः॥१९५॥

अन्वय :– **यतः प्रहीण-स्व-आत्म-बोधस्य कर्म-बन्धस्य कारणं मिथ्यात्वं वर्धते, ततः कषायः त्यज्यते।**

सरलार्थ :– जिसका स्वात्मज्ञान विनष्ट होता है, उसका मिथ्यात्व बढ़ता रहता है और मिथ्यात्व से ही ज्ञानावरणादि आठों कर्मों का दुःखदायक बन्ध होता है। अतः **सुख-प्राप्ति के लिये मोह का ही त्याग करना चाहिए।**

भावार्थ :– मोह के नाश के लिये आचार्य कुंदकुंद ने प्रवचनसार की गाथा ८० में उपाय बताया है –

जो जाणदि अरहन्तं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥

गाथार्थ :– जो अरहन्त को द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य लय को प्राप्त होता है।

इस उपाय का अवलम्बन करना प्रत्येक संज्ञी जीव को और उनमें भी मनुष्य को तो सहज-साध्य है।

कषाय-क्षपण में समर्थ जीव का स्वरूप –

निष्कषायो निरारम्भः स्वान्य-द्रव्यविवेचकः।
धर्माधर्म-निराकाङ्क्षो लोकाचार-निरुत्सुकः॥१९६॥
विशुद्धदर्शन- ज्ञान- चारित्रमयमुज्ज्वलम्।
यो ध्यायत्यात्मनात्मानं कषायं क्षपयत्यसौ॥१९७॥

अन्वय :– **निष्कषायः, निरारम्भः, स्व-अन्य-द्रव्यविवेचकः, धर्म-अधर्म-निराकांक्षः, लोकाचार-निरुत्सुकः यः विशुद्ध-दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयं उज्वलं आत्मानं आत्मना ध्यायति असौ कषायं क्षपयति।**

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :– जो साधु कषायहीन अर्थात् कथंचित् वीतरागी हुए हैं, आरम्भ-परिग्रह से रहित हैं, स्व-परद्रव्य के विवेक को लिये हुए अर्थात् भेदज्ञानी हैं, पुण्य-पापरूप धर्म-अधर्म की आकांक्षा नहीं रखते एवं लोकाचार के विषय में निरुत्सुक अर्थात् उदासीन हैं; इतना ही नहीं जो विशुद्ध दर्शन ज्ञान-चारित्रमय निज निर्मल/शुद्ध आत्मा को आत्मा के द्वारा ध्याते हैं, वे साधु कषाय को नष्ट करते हैं।

भावार्थ :– इस श्लोक में एकवचन का प्रयोग होने पर भी सरलार्थ में आदरार्थक बहुवचन का प्रयोग किया है कौन साधु कषाय का पूर्ण नाश करने में समर्थ होते हैं? यह एक प्रश्न है, इसके उत्तर में इन दोनों श्लोकों का अवतार हुआ जान पड़ता है।

१९६ वें श्लोक में तो प्रमत्तविरतरूप सामान्य मुनि जीवन/अवस्था का कथन किया है। चरणानुयोग सापेक्ष मुनिराज का जीवन तो तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक शुद्धपरिणति सहित शुभोपयोगरूप रहता है। किन्तु वह शुद्धपरिणति कषाय के क्षपणा में उतनी समर्थ नहीं है; जिससे कषाय का **पूर्ण क्षय** हो जाय।

कषाय के पूर्ण क्षय के लिये तो श्रेणिगत शुद्धोपयोग ही आवश्यक रहता है। इस बढ़ते हुए शुद्धोपयोगरूप परिणाम से ही कषायों का क्षय होता है, जिसका वर्णन सातवें श्लोक में आया है। क्षपक श्रेणी के अपूर्वकरण गुणस्थान में तो कषायों का विशेषरूप से क्षय प्रारम्भ होता है। नौवें गुणस्थान में चारित्रमोहनीय की २० प्रकृतियों का क्षय हो जाता है। दसवें के अन्तिम समय में शेष सूक्ष्म लोभ का भी नाश होकर मुनिराज बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय में क्षीणमोही अर्थात् पूर्ण वीतरागी हो जाते हैं।

कषाय के अभाव का वास्तविक प्रारम्भ तो चौथे गुणस्थान में अनंतानुबंधी के विसंयोजनापूर्वक ही होता है और अगले गुणस्थानों में भूमिका के अनुसार बढ़ता रहता है।

प्रथम कषाय चौकडी और मिथ्यात्व का भी अभाव निज शुद्धात्मा के ध्यान से ही होता है। पूर्ण कषायों का अभाव भी निजशुद्धात्मा के ध्यान से ही होता है, दूसरा कोई उपाय नहीं है।

यहाँ छठवें श्लोक में प्रयुक्त धर्म-अधर्म शब्द पुण्य-पाप के वाचक हैं और लोकाचार शब्द लौकिकजनोचित प्रवृत्तियों का द्योतक है।

मूर्त पुद्गलों में राग-द्वेष करना मूढ़बुद्धि –

वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-शब्द-युक्तैः शुभाशुभैः।
चेतनाचेतनैर्मूर्तैरमूर्तः पुद्गलैरयम् ॥१९८॥
शक्यो नेतुं सुखं-दुखं सम्बन्धाभावतः कथम्।
रागद्वेषौ यतस्तत्र क्रियेते मूढ़मानसैः॥१९९॥

अन्वय :– शुभ-अशुभैः वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-शब्द-युक्तैः चेतन-अचेतनैः मूर्तैः पुद्गलैः

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अयं अमूर्तः (आत्मा) कथं सुखं दुःखं नेतुं शक्यः? यतः तत्र (मूर्तामूर्तेषु) सम्बन्ध-अभावतः मूढ़-मानसैः (पुद्गलेषु) राग-द्वेषौ क्रियेते।

सरलार्थ :– सचेतन मूर्तिक पुद्गल अर्थात् पुत्र-कलत्रादि शरीर के संबंधी और अचेतन मूर्तिक पुद्गल अर्थात् अन्न, वस्त्र, दुकान-मकान आदि जड़ पदार्थों के मनोज्ञ तथा अमनोज्ञ स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्दों से अमूर्तिक आत्मा सुख-दुःख को कैसे प्राप्त कर सकता है? क्योंकि मूर्तिक-अमूर्तिक में परस्पर सम्बन्ध का अभाव है; ऐसा वस्तु-स्वरूप होने पर भी मूढ़बुद्धि जीव मूर्त्त पुद्गलों में राग-द्वेष करते हैं।

भावार्थ :– यहाँ १९८ वें श्लोक में जिस सम्बन्ध के अभाव का उल्लेख है वह तादात्म्य सम्बन्ध है, जिसे एक का दूसरे से मिलकर तद्रूप हो जाना कहते हैं। अमूर्तिक आत्मा के साथ मूर्तिक पुद्गलों का यह सम्बन्ध कभी नहीं बनता। तादात्म्य संबंध दो द्रव्यों में नहीं होता।

ऐसी स्थिति में जिन पुद्गलों का आत्मा में अभाव ही है, वे पुद्गल जीव को सुख कैसे दे सकते हैं? अर्थात् सुख दे नहीं सकते और आत्मा उनसे सुख प्राप्त कर नहीं सकता। जैसे रेत में तेल नहीं है तो रेत से तेल कैसे निकाला जा सकता है? नहीं निकाला जा सकता।

आत्मा स्वयमेव सुखस्वभावी है। आत्मा अपने में से ही सुख प्राप्त कर सकता है, यह यथार्थ वस्तुस्वरूप है। आचार्य अमृतचंद्र ने समयसार गाथा ७४ की टीका में आत्मा को सुखस्वभावी कहा है।

राग-द्वेष न करने की सहेतुक प्रेरणा –

निग्रहानुग्रहौ कर्तुं कोऽपि शक्तोऽस्ति नात्मनः।
रोष-तोषौ न कुत्रापि कर्तव्याविति तात्त्विकैः ॥२००॥

अन्वय :– आत्मनः निग्रह-अनुग्रहौ कर्तुं कः अपि शक्तः न अस्ति इति तात्त्विकैः कुत्रापि रोष-तोषौ न कर्तव्यौ।

सरलार्थ :– विश्व में जीवादि अनन्तानन्त द्रव्य हैं, उनमें से कोई भी द्रव्य किसी भी जीव का अच्छा अथवा बुरा करने में समर्थ नहीं है; इसलिए इस वास्तविक तत्त्व के जाननेवाले को जीवादि किसी भी परद्रव्य में राग अथवा द्वेष नहीं करना चाहिए।

भावार्थ :– कोई भी पुद्गल, परजीव अथवा परद्रव्य (सम्बन्धाभाव के कारण) आत्मा का उपकार या अपकार करने में समर्थ नहीं हैं, इसलिए जो तत्त्वज्ञानी हैं, वे व्यवहार में उपकार या अपकार के होने पर किसी भी परद्रव्य में राग-द्वेष नहीं करते। राग-द्वेष के न करने से उनके आत्मा में कर्मों का आना रुकेगा; संवर होगा और इस तरह आत्मा की शुद्धि होगी।

सर्वज्ञ भगवान के उपदेशानुसार वस्तुगत स्वाभाविक स्वरूप से विश्व में स्थित प्रत्येक द्रव्य अन्य द्रव्यों से सर्वथा भिन्न ही है। वस्तु-स्वभाव की और गहराई में जाने पर तो प्रत्येक द्रव्य में जो

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनन्तानन्त गुण हैं, वे गुण भी एक-दूसरे से कथंचित् भिन्न हैं; क्योंकि प्रत्येक गुण का लक्षण भिन्न-भिन्न है। इतना ही नहीं, प्रत्येक गुण में उत्पन्न होनेवाली जो अनन्तानन्त पर्यायें हैं, वे पर्यायें भी आपस में एक-दूसरे से कथंचित् भिन्न हैं; क्योंकि प्रत्येक पर्याय अपने-अपने काल में अपने-अपने कारण से उत्पन्न होती है। वस्तु-व्यवस्था की इस सूक्ष्म जानकारी के लिए प्रवचनसार शास्त्र के दूसरे ज्ञेयाधिकार के अध्ययन की आवश्यकता है। इस अध्याय में भी मुख्यता से ९९ से १०१ इन तीन गाथाओं को टीका और भावार्थ के साथ अवश्य देखें। पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट से प्रकाशित 'पदार्थ-विज्ञान' पुस्तक का अध्ययन भी उपयोगी रहेगा।

राग-द्वेष किस पर करें?

परस्याचेतनं गात्रं दृश्यते न तु चेतनः।
उपकारेऽपकारे क्व रज्यते क्व विरज्यते॥२०१॥

अन्वय :– परस्य अचेतनं गात्रं (तु) दृश्यते; चेतनः तु न (दृश्यते)। (ततः) उपकारे-अपकारे (सति) क्व रज्यते (च) क्व विरज्यते ?

सरलार्थ :– (उपकार-अपकार न करनेवाला) दूसरे का जड-शरीर तो दिखाई देता है और (उपकार अथवा अपकार करनेवाला,) चेतन आत्मा तो दिखाई नहीं देता। इसलिए किसी से भी उपकार अथवा अपकार होने पर किस पर राग किया जाय और किस पर द्वेष? अर्थात् समताभाव स्वीकार करना ही योग्य है।

भावार्थ :– पर का चेतन आत्मा जो दिखाई नहीं देता, वह तो राग-द्वेष का पात्र नहीं है। जो शरीर दिखाई देता है, वह तुम्हारे राग-द्वेष को कुछ समझता नहीं, अतः व्यवहार में उपकार-अपकार के बनने पर किसी पर भी राग-द्वेष करना व्यर्थ है, वीतराग भाव ही सुखदायक है; अतः उसका स्वीकार करना चाहिए। ज्ञानी जीव यही काम करते हैं।

शरीर का उपकार और अपकार करनेवालों पर राग-द्वेष कैसे?

शत्रवः पितरौ दाराः स्वजना भ्रातरोऽङ्गजाः।
निगृह्णन्त्यनुगृह्णन्ति शरीरं चेतनं न मे॥२०२॥
मत्तश्च तत्त्वतो भिन्नं चेतनात्तदचेतनम्।
द्वेषरागौ ततः कर्तुं युक्तौ तेषु कथं मम॥२०३॥

अन्वय :– मत्तः चेतनात् तत् अचेतनं शरीरं तत्त्वतः भिन्नं (अस्ति)। पितरौ दाराः स्वजनाः भ्रातराः (च) अङ्गजाः शरीरं अनुगृह्णन्ति (च) शत्रवः निगृह्णन्ति, मे चेतनं न; ततः तेषु (स्वजनेषु-शत्रुषु च) मम द्वेषरागौ कर्तुं कथं युक्तौ ?

सरलार्थ :– मुझ चेतन आत्मा से जो यह अचेतन शरीर वास्तविक भिन्न है, उस शरीर पर ही ये माता-पिता, स्त्री, भाई, पुत्र, स्वजन उपकार करते हैं और शत्रु अपकार करते हैं; इस कारण

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्वजनादि पर राग और शत्रुओं पर द्वेष करना कैसे उचित होगा? क्योंकि ये स्वजनादि और शत्रु मेरे चेतन आत्मा का उपकार अथवा अपकार करते ही नहीं।

भावार्थ :– लौकिक जीवन में लौकिक जन शरीर पर उपकार करनेवालों को मित्र और शरीर पर अपकार करनेवालों को शत्रु मानते हैं; क्योंकि वे शरीर को आत्मा मानते हैं।

यहाँ अलौकिक जीवन की चर्चा है, इसलिए सम्यग्दृष्टि साधक आदि की मान्यता लौकिकजनों से विपरीत होना स्वाभाविक है। वे सोचते हैं कि जब जन्म से साथ रहनेवाला यह शरीर भी मेरा नहीं है तो इस शरीर पर किये गये उपकार के बारे में सोचना निरर्थक है। मैं तो चेतन आत्मा अनादि-अनंत, अनंतगुणों का गोदाम सुखमय हूँ, मात्र-जानना ही मेरा काम है।

शरीर जड़ होने के कारण किसी जीव को शत्रु अथवा किसी को मित्र मानकर उनसे राग-द्वेष करना विवेकी जीव को निरर्थक लगता है।

आचार्य पूज्यपाद ने समाधिशतक ग्रंथ के श्लोक ४६ में यही भाव प्रगट किया है –

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः॥

श्लोकार्थ – ये शरीरादि दृश्यपदार्थ चेतनारहित जड़ हैं और चैतन्यरस आत्मा इन्द्रिय-अगोचर है, इसलिए मैं किसपर द्वेष करूँ ? और किसपर राग करूँ। अत: मैं मध्यस्थ होता हूँ। इसप्रकार अंतरात्मा विचार करता है।

अमूर्त आत्माओं पर अपकार और उपकार कैसे?

पश्याम्यचेतनं गात्रं यतो न पुनरात्मनः।
निग्रहानुग्रहौ तेषां ततोऽ हं विदधे कथम्॥२०४॥

अन्वय :– यत: (अहं शत्रु-स्वजनादीनां) अचेतनं गात्रं पश्यामि ,पुन: (तेषाम्) आत्मन: न (पश्यामि), तत: अहं तेषां (स्व-परजनानां) निग्रह-अनुग्रहौ कथं विदधे?

सरलार्थ :– क्योंकि मैं उन शत्रु-मित्रादि के अचेतनस्वरूप शरीर को तो देखता हूँ; परन्तु उनकी आत्माओं को देख नहीं पाता, इसलिए मैं उनका अपकार अथवा उपकार कैसे करूँ? अर्थात् मैं किसी का अच्छा अथवा बुरा कर ही नहीं सकता, यह निर्णय है।

भावार्थ :– ज्ञानी जीव अपने जीवन में समताभाव बना रहे, ऐसा विचार करता रहता है और उसके लिये तत्त्व का मजबूत आधार अवश्य लेता है। अज्ञानी जिनको भ्रम से शत्रु-स्वजनादिक मानता है, उसकी इस मिथ्या मान्यता की व्यर्थता को ज्ञानी स्पष्ट जानते हैं। अज्ञानी जिन आत्माओं का अपकार-उपकार करना चाहता है, उनको वह देख ही नहीं सकता तो अपकार-उपकार कैसे कर सकेगा ? अतः इन विकल्पों से अतीत होकर मध्यस्थ होना ही श्रेयस्कर है।

आचार्य कुंदकुंद ने मोक्षपाहुड गाथा २९ में बताया है –

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जं मया दिस्सदे रूव तं ण जाणादि सव्वहा।
जाणगं दिस्सदे णेव तम्हा जंपेमि केण हं॥

गाथार्थ :- जिस रूप को मैं देखता हूँ, वह रूप मूर्तिक वस्तु जड़ है, अचेतन है, किसी भी तरह से कुछ भी जानता नहीं है और जो वह ज्ञायक है, अमूर्तिक है, वह किसी को दिखाई नहीं देता; इसलिए मैं किससे बोलूँ?

यही भाव पूज्यपाद आचार्य के समाधिशतक श्लोक १८ में भी आया है।

अपकार और उपकार करने की भावना व्यर्थ –

स्वदेहोऽपि न मे यस्य निग्रहानुग्रहे क्षमः।
निग्रहानुग्रहौ तस्य कुर्वन्त्यन्ये वृथा मतिः॥२०५॥

अन्वय :– मे स्वदेहः अपि यस्य (मम आत्मनः) निग्रह-अनुग्रहे क्षमः न तस्य निग्रह-अनुग्रहौ अन्ये कुर्वन्ति (इति) मतिः वृथा।

सरलार्थ :– जहाँ मेरा शरीर भी मुझ आत्मा पर अपकार-उपकार करने में समर्थ नहीं है, वहाँ अन्य कोई जीव अथवा पुद्गल द्रव्य मुझ आत्मा पर अपकार अथवा उपकार करते हैं, यह मान्यता सर्वथा व्यर्थ/असत्य है।

भावार्थ :– संसारी जीव को अत्यन्त समीप का कोई साथी/संबंधी हो तो वह शरीर ही है; क्योंकि जिस आकाश-क्षेत्र में जीव विद्यमान है उसी आकाश-क्षेत्र में उसका शरीर भी विद्यमान है। इससे अधिक समीपता कैसी और कौन-सी हो सकती है? इतना सब कुछ होने पर भी किसी का भी समर्थ-असमर्थ शरीर, धर्म या पुण्य करने में मदद करता हो, अथवा धर्म या पुण्य में बाधा डालता हो, ऐसा नहीं है।

यदि अनुकूल शरीर धर्म अथवा पुण्य में उपयोगी होता तो देव के अथवा मनुष्य के समर्थ शरीर से धर्म अथवा पुण्य ही होना चाहिए; लेकिन ऐसा देखने में नहीं आता है।

यदि प्रतिकूल शरीर भी बाधक हो तो नारकी तथा तिर्यंच को धर्म व पुण्य होना ही नहीं चाहिए; तथापि अनेक नारकी एवं तिर्यंच जीव भी धर्म एवं पुण्य करते हुए देखे जाते हैं। इससे यह निर्णय हमें सहज और स्पष्टरूप से होना चाहिए कि कोई किसी का उपकार अथवा अपकार कर ही नहीं सकता। इसलिए उपकार-अपकार के विकल्प में उलझना समझदारी का कार्य नहीं है। अपना आत्मकल्याण मुख्य रखने से ही आत्म-कल्याण होता है, अन्यथा नहीं।

कोई किसी के गुणों को करने-हरने में समर्थ नहीं –

शक्यन्ते न गुणाः कर्तुं हर्तुमन्येन मे यतः।
कर्तुं हर्तुं परस्यापि न पार्यन्ते गुणा मया॥२०६॥
मयान्यस्य ममान्येन क्रियतेऽक्रियते गुणः।
मिथ्यैषा कल्पना सर्वा क्रियते मोहिभिस्ततः॥२०७॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्वय :– यत: मे गुणा: अन्येन कर्तुं हर्तुं न शक्यन्ते (तथा) मया अपि परस्य गुणा: कर्तुं हर्तुं न पार्यन्ते।

मया अन्यस्य अन्येन मम गुण: क्रियते-अक्रियते एषा सर्वा कल्पना मिथ्या अस्ति तत: मोहिभि: क्रियते।

सरलार्थ :– कोई भी परद्रव्य मेरे गुणों का हरण नहीं कर सकता, न उनको उत्पन्न कर सकता है। मैं किसी भी परद्रव्य के गुणों को उत्पन्न नहीं कर सकता अथवा उनका नाश भी नहीं कर सकता।

इसलिए मैंने किसी पर उपकार अथवा किसी पर अपकार किया, ये सब कल्पनाएँ मिथ्या हैं। मोह अर्थात् मिथ्यात्व से प्रभावित मिथ्यादृष्टि जीव ही ऐसी खोटी कल्पनाएँ करता है; अन्य ज्ञानी/सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा नहीं करता।

भावार्थ :– इस संसार में अनेक भोले-भाले जीव धर्म के नाम पर परोपकार करने न करने के विकल्पों में उलझकर अपना अमूल्य मनुष्य-जीवन तत्त्वज्ञान से रहित व्यर्थ ही बिताते हैं। ऐसे भद्र जीवों का परम हित हो, इस भावना से प्रेरित होकर आचार्य वस्तु-व्यवस्था की सूक्ष्मता को स्पष्ट कर रहे हैं।

जहाँ कोई भी द्रव्य किसी भी अन्य द्रव्य के गुणों को न हरण कर सकता है, न उत्पन्न कर सकता है अथवा न नाश कर सकता है; ऐसा वास्तविक वस्तुगत व्यवस्था का ज्ञान होते ही मैं किसी का अच्छा अथवा बुरा कर सकता हूँ; यह मिथ्या मान्यता निकल जाती है और पात्र जीव आत्मकल्याण के कार्य में संलग्न हो जाता है। आचार्य अपने जीवन के समान अन्य जीवों का भी परम कल्याण हो, इस भावना से अकारण करुणापूर्वक समझाते हैं।

सम्यग्दर्शनादि पर्यायों का कोई भी कर्ता-हर्ता नहीं –

ज्ञान-दृष्टि-चरित्राणि ह्रियन्ते नाक्षगोचरै:।
क्रियन्ते न च गुर्वाद्यै: सेव्यमानैरनारतम्।।२०८।।
उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति जीवस्य परिणामिन:।
तत: स्वयं स दाता न, परतो न कदाचन।।२०९।।

अन्वय :– ज्ञान-दृष्टि-चारित्राणि अक्षगौचरै: न ह्रियन्ते च अनारतं सेव्यमानै: गुर्वाद्यै: न क्रियन्ते।

परिणामिन: जीवस्य (पर्यायत:) तानि उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति। तत: स: (जीव:) कदाचन स्वयं दाता न (अस्ति)। (च) न परत: (तानि उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति च)।

सरलार्थ :– स्पर्शनेंद्रियादि इंद्रियों के विषयों को भोगने से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्ररूप पर्यायों का हरन अर्थात् नाश नहीं होता। निरन्तर जिनकी सेवा की गई है ऐसे सच्चे गुरु भी अपने शिष्य में सम्यग्दर्शनादि पर्यायों को उत्पन्न नहीं कर सकते।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

परिणमनशील जीव की ये सम्यग्दर्शनादि पर्यायें स्वयं से उत्पन्न होती हैं और स्वयं विनाश को प्राप्त होती हैं। इसलिए जीव द्रव्य भी इन सम्यग्दर्शनादि पर्यायों का दाता अर्थात् कर्ता-हर्ता नहीं है और न कोई परद्रव्य इन सम्यग्दर्शनादि पर्यायों का उत्पाद तथा व्यय करता है।

भावार्थ :– भोग भोगनेरूप परिणामों से सम्यग्दर्शनादि का नाश नहीं होता, यह कहकर आचार्यों ने कर्मधारा और ज्ञानधारा – दोनों का एक साथ रहने में विरोध नहीं है; इस विषय का खुलासा किया है।

समयसार कलश क्रमांक ११० एवं इसके भावार्थ में यह विषय अत्यन्त स्पष्ट है; उसे अवश्य देखें। वहाँ चारित्रगुण का मिश्रभावरूप परिणमन स्पष्ट किया है।

गुरु भी सम्यग्दर्शनादि उत्पन्न नहीं कर सकते, यह बताकर प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतंत्र होता है, यह स्पष्ट किया है और देव-गुरु की सेवा से मात्र पुण्य होता है, धर्म नहीं; यह भी समझाया है।

सम्यग्दर्शनादि पर्यायें, (पर्यायदृष्टि से) स्वयं ही उत्पन्न होती हैं; इस कथन से प्रत्येक पर्याय का अपना जन्मक्षण होता है; यह बात स्पष्ट की है। इस विषय के लिये प्रवचनसार गाथा ९९ एवं १०२ की टीका अवश्य देखें। समयसार ग्रन्थ में वर्णित ४७ शक्तियों के प्रकरण में १४वीं अकार्य-कारणत्वशक्ति का स्वरूप देखना भी अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगा।

पर्यायों का दाता द्रव्य भी नहीं है, इस विधान से वस्तु-व्यवस्था की सूक्ष्मता एवं यथार्थता को जानकर हमें आनंदित हो जाना चाहिए। सर्वज्ञ भगवान के बिना इतनी सूक्ष्मता का कथन अन्य कोई वक्ता कर ही नहीं सकता।

इसतरह इन दो श्लोकों में अनेक सूक्ष्म भावों का ज्ञान कराने का सफल प्रयास ग्रंथकार ने किया है। पाठकों का कर्तव्य है कि ग्रंथकार का पूर्ण अभिप्राय समझने का प्रयास करें, कठिन जानकर जिनवाणी की उपेक्षा न करें।

व्यवहारनय से शरीरादि आत्मा के कहे जाते हैं, निश्चयनय से नहीं –

शरीरमिन्द्रियं द्रव्यं विषयो विभवो विभुः।
ममेति व्यवहारेण भण्यते न च तत्त्वतः॥२१०॥

अन्वय :– शरीरं, इन्द्रियं, द्रव्यं, विषयः, विभवः च विभुः मम (अस्ति) इति व्यवहारेण भण्यते तत्त्वतः न (भण्यते)।

सरलार्थ :– औदारिकादि शरीर, स्पर्शनेन्द्रियादि इन्द्रियाँ, धनादिद्रव्य, स्पर्शादि इन्द्रियों के विषय, अनेक प्रकार का लौकिक वैभव, स्वामी आदि मेरे हैं; ऐसा व्यवहारनय से कहा जाता है; किन्तु तात्त्विक दृष्टि से/निश्चयनय से शरीरादि मेरे/आत्मा के नहीं हैं।

भावार्थ :– व्यवहारनय और निश्चयनय से शरीर के सन्दर्भ में समयसार गाथा २७ में भी कथन आया है, जो निम्नप्रकार है –

"ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को।
ण दु णिच्छयस्य जीवो देहो य कदा वि एक्कट्ठो॥

गाथार्थ :– व्यवहारनय तो यह कहता है कि जीव और शरीर एक ही है; किन्तु निश्चयनय के अभिप्राय से जीव और शरीर कभी भी एक पदार्थ नहीं हैं।

व्यवहार एवं निश्चयनय संबंधी मोक्षमार्गप्रकाशक के ७वें अध्याय में पृष्ठ २५१ पर किया हुआ कथन अत्यन्त उपयोगी है, उसे यहाँ आगे दे रहे हैं –

"व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को व उनके भावों को व कारणकार्यादि को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है; सो ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है; इसलिए उसका त्याग करना। तथा निश्चयनय उन्हीं को यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता है; सो ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिए उसका (निश्चयनय के विषय का) श्रद्धान करना।"

निश्चयनय से शरीरादि को आत्मा का मानने से आपत्ति –

तत्त्वतो यदि जायन्ते तस्य ते न तदा भिदा।
दृश्यते, दृश्यते चासौ ततस्तस्य न ते मताः॥२११॥

अन्वय :– तत्त्वतः यदि ते (शरीरादयः) तस्य (आत्मनः) जायन्ते, तदा भिदा न दृश्यते। दृश्यते च असौ, ततः ते (शरीरादयः) तस्य (आत्मनः) न मताः।

सरलार्थ :– यदि तत्त्वदृष्टि से अर्थात् निश्चयनय से ये सब शरीर, इन्द्रिय आदि आत्मा के हैं, ऐसा माना जाये तो आत्मा और शरीर आदि में भेद दिखाई नहीं देना चाहिए; परन्तु इनमें भेद तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है; इसलिए शरीरादि आत्मा के नहीं माने गये हैं।

भावार्थ :– इस श्लोक में ग्रंथकार ने व्यवहारनय के कथन में असत्यता का दोष बताकर निश्चयनय के कथन को सत्य सिद्ध किया है। सही देखा जाय तो निश्चयनय के विषयभूत आत्मा के आश्रय से ही धर्म प्रगट होता है, बढ़ता है, पूर्ण होता है और पूर्ण प्रगट हुआ धर्म सदैव बना रहता है, इसी विषय को समयसार गाथा २७२ में कहा भी है –

णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं।

गाथार्थ :- निश्चयनय के आश्रित मुनि निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

इसी प्रसंग में निश्चयनय प्रतिषेधक और व्यवहारनय प्रतिषेध्य है, इस विषय को गाथा २७६, २७७ तथा उसकी टीका एवं भावार्थ के आधार से यथार्थरूप से समझना चाहिए।

दोनों नयों से स्व-पर को जानने का फल –

विज्ञायेति तयोर्द्रव्यं परं स्वं मन्यते सदा।
आत्म-तत्त्वरतो योगी विदधाति स संवरम्॥२१२॥

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्वय :– इति तयो: (आत्म-शरीरयो: भेदं) विज्ञाय सदा स्वं द्रव्यं (स्वं)परं-परं, मन्यते, स: आत्म-तत्त्वरत: योगी संवरं विदधाति।

सरलार्थ :– इसप्रकार व्यवहार तथा निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा और शरीरादि दोनों के भेद को जानकर जो योगी सदा स्वद्रव्य को स्व के रूप में और परद्रव्य को पर के रूप में मानते हैं, वे आत्मतत्त्व में लीन हुए योगी सदा संवर करते हैं/अर्थात् कर्मों के आस्रव को रोकते हैं।

भावार्थ :– श्लोकगत आत्मतत्त्वरत योगी सदा संवर करते हैं; ऐसा कथन जानकर कोई शंका कर सकता है कि जो योगी आहार-ग्रहण करने में लगे हैं, क्या उन्हें आहार लेते समय भी संवर होता रहता है?

उसका समाधान :– हाँ, उन्हें आहार के काल में भी संवर तो होता ही रहता है, इतना ही नहीं, उन्हें भूमिका के अनुसार निर्जरा भी होती ही रहती है। जितनी मात्रा में अर्थात् तीन कषाय चौकडी के अभावपूर्वक जो वीतरागपरिणति प्रगट है, उतनी मात्रा में उन्हें निश्चय चारित्र है और उससे मुनिराज वास्तविक सुखी भी हैं। आहार-ग्रहण करने का परिणाम तो अशुद्धोपयोगरूप है, और उससे उन्हें आस्रव-बन्ध होता है और उसी समय उन्हें जो शुद्धपरिणति है, उससे संवर-निर्जरा भी होती हैं।

इसीतरह चौथे-पाँचवें गुणस्थानवर्ती श्रावक को भी मिश्र परिणाम के कारण आस्रव, बन्ध, संवर और निर्जरा ये चारों तत्त्व भूमिका के अनुसार सदा रहते हैं; क्योंकि सम्यग्दृष्टि आदि जीवों को सदा शुद्धपरिणति अर्थात् वीतरागता भूमिकानुसार यथायोग्य मात्रा में रहती ही है।

पर्याय-अपेक्षा से कर्मफल भोगने का स्वरूप –

विदधाति परो जीव: किंचित्कर्म शुभाशुभम्।
पर्यायापेक्षया भुङ्क्ते फलं तस्य पुन: पर:।।२१३।।

अन्वय :– पर्याय-अपेक्षया पर: (एक:) जीव: किंचित् शुभ-अशुभं कर्म विदधाति पुन: पर: (अन्य: जीव:) तस्य फलं भुङ्क्ते।

सरलार्थ :– पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अन्य जीव कुछ शुभ-अशुभ कर्म करता है और उसका फल अन्य जीव भोगता है।

भावार्थ :– इस श्लोक में पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से किसी के किये हुए शुभ-अशुभ कर्मों के फल का भोक्ता कौन है – इस विषय को स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि पर्याय की अपेक्षा से तो एक जीव कर्म करता है और दूसरा जीव उसके फल को भोगता है, जैसे मनुष्य जीव ने संयम-तप आदि के द्वारा पुण्योपार्जन किया और देव जीव ने उसके फल को भोगा/पर्यायदृष्टि से मनुष्य जीव और देव जीव अलग-अलग हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा फल भोगने की व्यवस्था –

य एव कुरुते कर्म किंचिज्जीव: शुभाशुभम्।
स एव भजते तस्य द्रव्यार्थापेक्षया फलम्।।२१४।।

अन्वय :– द्रव्यार्थ-अपेक्षया य: एव जीव: किंचित् शुभ-अशुभं कर्म कुरुते, स: एव (जीव:) तस्य फलं भजते।

सरलार्थ :– द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से जो जीव जो कुछ शुभ-अशुभ कर्म करता है, वही जीव उसका फल भोगता है।

भावार्थ :– द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से जो जीव शुभ या अशुभ कर्म करता है, वही उसके फल को भोगता है, चाहे किसी भी पर्याय में क्यों न हो। जिस जीव ने मनुष्य पर्याय में तप-संयमादि के द्वारा पुण्योपार्जन किया, वही मरकर देवगति में गया और वहाँ उसने अपने उस पूर्वकृत पुण्य के फल को भोगा।

पर्याय एवं द्रव्य अपेक्षा का उदाहरण –

मनुष्य: कुरुते पुण्यं देवो वेदयते फलम्।
आत्मा वा कुरुते पुण्यमात्मा वेदयते फलम्।।२१५।।

अन्वय :– (यथा) मनुष्य: पुण्यं कुरुते देव: फलं वेदयते। वा आत्मा पुण्यं कुरुते आत्मा (एव) फलं वेदयते।

सरलार्थ :– जैसे मनुष्य पुण्य कर्म करता है और देव उसका फल भोगता है अथवा आत्मा पुण्य-कर्म करता है और आत्मा ही उसके फल को भोगता है।

भावार्थ :– उपरिम श्लोक के भावार्थ में ही इस श्लोक का भी भावार्थ आ चुका है।

द्रव्य-पर्याय अपेक्षा से जीव का स्वरूप –

नित्यानित्यात्मके जीवे तत्सर्वमुपपद्यते।
न किंचिद् घटते तत्र नित्येऽनित्ये च सर्वथा।।२१६।।

अन्वय :– नित्य-अनित्यात्मके जीवे तत् (पूर्वोक्तं) सर्वं उपपद्यते। च सर्वथा नित्ये-अनित्ये तत्र किंचित् (अपि) न घटते।

सरलार्थ :– जीव को कथंचित् नित्य अनित्य मानने पर उक्त सब कथन ठीक/योग्य घटित हो जाता है, सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य मानने पर कुछ भी घटित नहीं होता।

भावार्थ :– जीव को द्रव्यदृष्टि से नित्य और पर्यायदृष्टि से अनित्य मानने पर यह सब कुछ ठीक घटित होता है; परन्तु जीव को सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य मानने पर यह कुछ भी घटित नहीं होता। क्योंकि सर्वथा नित्य में परिणाम, विक्रिया, अवस्था से अवस्थान्तर कुछ भी नहीं बनता और सर्वथा अनित्य में जब जीव का क्षण-भर में मूलतः/निरन्वय विनाश हो जाता है तब वह अपने किये हुये कर्म का फल कैसे भोग सकता है? उसके परलोक गमन तथा अन्य शरीर धारणादि ही नहीं बन

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सकते। और भी कितने ही दोष इस सर्वथा अनित्य (क्षणिकैकान्त) की मान्यता में उत्पन्न होते हैं, जिनकी जानकारी के लिये स्वामी समन्तभद्र के देवागम और उसकी अष्टशती, अष्टसहस्री आदि टीकाओं को देखना चाहिए।

जीव औदयिक भावों के द्वारा कर्म का कर्ता एवं भोक्ता –

चेतनः कुरुते भुङ्क्ते भावैरौदयिकैरयम्।
न विधत्ते न वा भुङ्क्ते किंचित्कर्म तदत्यये॥२१७॥

अन्वय :– अयं चेतनः औदयिकैः भावैः (कर्म) कुरुते (च) भुङ्क्ते । तदत्यये (तस्य औदयिकभावस्य अत्यये) किंचित् कर्म न विधत्ते वा न भुङ्क्ते।

सरलार्थ :– यह चेतन अर्थात् जीव औदयिक भावों के द्वारा अर्थात् कर्मों के उदय का निमित्त पाकर उत्पन्न होनेवाले परिणामों के सहयोग से कर्म करता है और उसका फल भोगता है। औदयिकभावों का अभाव होने पर वह कोई कर्म नहीं करता और कोई फल नहीं भोगता है।

भावार्थ :– यह चेतन आत्मा, किसके द्वारा अचेतन कर्मों का कर्ता तथा भोक्ता है – यह एक प्रश्न है; जिसके समाधानार्थ ही इस श्लोक में बतलाया है कि जीव अपने मोह-राग-द्वेषरूप औदयिक भावों के द्वारा/उनके निमित्त से ही व्यवहार से कर्मों का कर्ता तथा भोक्ता कहा जाता है। औदयिक भावों का अभाव हो जाने पर यह जीव न कोई कर्म करता है और न किसी कर्म के फल को भोगता है।

जीव का इंद्रिय-विषय कुछ नहीं करते –

पञ्चाक्षविषयाः किंचित् नास्य कुर्वन्त्यचेतनाः।
मन्यते स विकल्पेन सुखदा दुःखदा मम॥२१८॥

अन्वय :– अचेतनाः पञ्च-अक्ष-विषयाः अस्य (चेतनस्य) किंचित् (अपि उपकारं अपकारं) न कुर्वन्ति। सः (चेतनः) विकल्पेन (तान् विषयान्) मम सुखदाः दुःखदाः इति मन्यते।

सरलार्थ :– पाँचों इन्द्रियों के स्पर्शादि विषय, जो कि अचेतन हैं, इस आत्मा का कुछ भी उपकार या अपकार नहीं करते। आत्मा विकल्प बुद्धि से/भ्रमवश उन्हें अपने सुखदाता तथा दुःखदाता मानता है।

भावार्थ :– स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। इनके विषय क्रमशः स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द हैं। ये पाँचों इंद्रिय-विषय चेतनारहित जड़ हैं, मूर्तिक हैं और वे चेतनामय अमूर्तिक आत्मा का कुछ भी उपकार या अपकार नहीं करते हैं; फिर भी यह आत्मा विकल्प से/भ्रान्तबुद्धि से इन्हें अपने सुख-दुःख का दाता मानता है।

एक जीव अन्य जीव का अथवा पुद्गलादि का कर्ता-हर्ता नहीं है और पुद्गलादि द्रव्य जीवादि का कर्ता-धर्त्ता-हर्ता नहीं हैं – इस विषय को ग्रंथकार अनेक स्थानों पर पुनः पुनः बताते आये हैं;

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

क्योंकि यह विषय सर्वज्ञ प्रणीत वस्तु-व्यवस्था का प्राण है। जो इस अटल सिद्धान्त को मान्य नहीं करता, वह सर्वज्ञ भगवान के आगम को/उपदेश को नहीं मानता है।

संकल्प बिना द्रव्य, गुण, पर्याय इष्टानिष्ट नहीं –

न द्रव्यगुणपर्यायाः संप्राप्ता बुद्धिगोचरम्।
इष्टानिष्टाय जायन्ते संकल्पेन विना कृताः ॥२१९॥

अन्वय :– बुद्धिगोचरं सम्प्राप्ताः द्रव्य-गुण-पर्यायाः संकल्पेन विना कृताः इष्ट-अनिष्टाय न जायन्ते।

सरलार्थ :– संकल्प अर्थात् भ्रान्त कल्पना के बिना विश्वस्थित बुद्धिगोचर संपूर्ण द्रव्य, गुण, पर्यायों में से कोई भी द्रव्य, गुण अथवा पर्याय इष्ट/सुखदायक या अनिष्ट/दुःखदायक नहीं होते अर्थात् नहीं लगते।

भावार्थ :– संकल्प का अर्थ यहाँ मिथ्यात्व परिणाम लेना चाहिए; क्योंकि अज्ञानी जीव मिथ्यात्व से ही इष्टानिष्ट कल्पना करता है। जो पदार्थ अपने ज्ञान का ज्ञेय बनते हैं; उन्हें यहाँ बुद्धिगोचर में लिया है।

इस षट्द्रव्यमयी विश्व में चेतन-अचेतन, रूपी-अरूपी, क्रियाशील-निष्क्रिय पदार्थों का जैसा विभाजन जानने में आता है; पदार्थों का वैसा इष्ट-अनिष्टरूप विभाजन न तो सर्वज्ञ भगवान ने बताया है और न ज्ञानियों के ज्ञान में प्रत्यक्ष अनुभव में आ रहा है। अज्ञानी अपनी मिथ्याबुद्धि से ही पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानता है।

जैसे वर्षा कृषकादि को इष्ट लगती है और वही वर्षा उसी समय कुंभकारादि को अनिष्ट लगती है। वर्षा न तो इष्ट है न अनिष्ट है। उसे इष्ट या अनिष्ट मानना – यह तो अज्ञानी का मोहरूप परिणाम है।

वचनों से जीव का सम्बन्ध नहीं –

न निन्दा-स्तुति-वाक्यानि श्रूयमाणानि कुर्वते।
संबन्धाभावतः किंचिद् रुष्यते तुष्यते वृथा ॥२२०॥

अन्वय :– श्रूयमाणानि निन्दा-स्तुति-वाक्यानि सम्बन्ध-अभावतः (चेतनस्य) किंचित् न कुर्वते (मूढः तेषु) वृथा रुष्यते तुष्यते।

सरलार्थ :– सुनने को मिले हुए निन्दा अथवा स्तुतिरूप वचन जीव का कुछ भी अच्छा-बुरा नहीं करते; क्योंकि वचनों का जीव के साथ सम्बन्ध नहीं है। अज्ञानी जीव निन्दा अथवा स्तुतिरूप वचनों को सुनकर व्यर्थ ही राग-द्वेष करते हैं।

भावार्थ :– तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जाय तो शब्द अर्थात् वचन, भाषावर्गणा नामक पुद्गल द्रव्य की पर्याय है। इसलिए वचनों का जीव के साथ सम्बन्ध नहीं है। यह जानकर ज्ञानी जीव वचनों के कारण राग-द्वेष नहीं करते, यह मूल तत्त्व इस श्लोक में ग्रंथकार ने बता दिया है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

समयसार गाथा ३७३ से ३७५ एवं इनकी टीका में जो विषय आया है, उसे ग्रंथकार ने यहाँ मात्र एक ही श्लोक में अत्यन्त कुशलतापूर्वक स्पष्ट किया है। विषय को अधिक जानने की भावना वाले पाठक पूर्वोक्त गाथाओं को टीका तथा हिंदी भावार्थ सहित जरूर देखें।

मोह से बाह्य पदार्थ सुख-दुःखदाता –

आत्मनः सकलं बाह्यं शर्माशर्मविधायकम्।
क्रियते मोहदोषेणापरथा न कदाचन।।२२१।।

अन्वय :– मोह-दोषेण सकलं बाह्यं आत्मनः शर्म-अशर्म-विधायकं क्रियते। अपरथा कदाचन न (क्रियते)।

सरलार्थ :– मोहरूपी दोष के कारण ही संपूर्ण बाह्य पदार्थ जीव को सुख-दुःख देने में निमित्त बनते हैं अन्यथा मोहरूपी दोष न हो तो कोई भी बाह्य पदार्थ किसी भी जीव को किंचित् मात्र भी सुख-दुःख देने में निमित्त नहीं होते। इसका अर्थ मोह ही सुख-दुःखदाता है।

भावार्थ :– चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान से लेकर सूक्ष्मसांपराय नामक दसवें गुणस्थान पर्यंत राग-द्वेष घटते जाते हैं; इस कारण ही ऊपर-ऊपर के गुणस्थानवर्ती जीव अधिक-अधिक सुखी होते जाते हैं। ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव मोह-परिणाम से सर्वथा रहित हो जाते हैं; अतः पूर्ण सुखी बन जाते हैं। मोह ही दुःखदाता है। जब मोह रहता है तब बाह्य पदार्थ पर सुख-दुःख में निमित्तपने का आरोप आ जाता है।

प्रश्न :– मोह दुःख में निमित्त है, यह बात तो ठीक; परंतु मोह को सुख में निमित्त क्यों कहते हो?

उत्तर :– सुख अर्थात् इन्द्रियजन्य सुख, जो वास्तविक दुःख ही है; तथापि विशिष्ट इच्छा का शमन होने के कारण उपचार/व्यवहार से मोह को सुख में निमित्त कहा है। मोह तो स्वयमेव दुःखरूप और दुःख में ही निमित्त है; वह न सुखरूप है और न सुख में निमित्त है; क्योंकि मोह स्वयं विकार है और विकार में निमित्त है।

मोह के २८ भेद हैं, जिनका विवरण इसप्रकार है – मोह के मुख्य दो भेद हैं, दर्शनमोह और चारित्रमोह। दर्शन मोह के तीन भेद – १. मिथ्यात्व. २. सम्यग्मिथ्यात्व/मिश्र ३. सम्यक्प्रकृति चारित्रमोह के २५ भेद-अनंतानुबंधी-क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ। नोकषाय नौ हैं – हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद।

वचनों से कोई निंद्य अथवा स्तुत्य नहीं होता –

नाञ्जसा वचसा कोऽपि निन्द्यते स्तूयतेऽपि वा।
निन्दितोऽहं स्तुतोऽहं वा मन्यते मोहयोगतः।।२२२।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्वय :– अञ्जसा वचसा क: अपि (जीव:) न निन्द्यते वा (न) स्तूयते अपि; अहं निन्दित: अहं वा स्तुत: (इति) मोहयोगत: मन्यते।

सरलार्थ :– वास्तविक देखा जाय तो वचनों से कोई निंद्य अथवा स्तुत्य नहीं होता। मोह अर्थात् मिथ्यादर्शन के कारण 'अज्ञानी मेरी निन्दा हो गयी अथवा मैं स्तुत्य बन गया' ऐसा व्यर्थ ही मान लेता है।

भावार्थ :– विपरीत मान्यता को ही मिथ्यादर्शन कहते हैं। अज्ञानी वस्तु-स्वरूप को तो जानता-मानता नहीं है, इसलिए मनमानी करता है। अनादिकाल से जीव किसी न किसी शरीर के साथ ही रहता आया है। मनुष्यादि अवस्था तो असमानजातीय द्रव्य-पर्याय है अर्थात् अनंत पुद्गल परमाणु और एक जीव – इन सबका एक पिण्ड है, उसे मनुष्य मानता है।

लौकिक जीवन में प्रसंगवश कोई सज्जन अच्छे वचनों से अपने साथ मधुर सम्बन्ध रखता है, यह जानकर अज्ञानी जीव मेरी स्तुति हो गयी ऐसा भ्रमवश मानता है। कभी-कभी दुर्जन पुरुष निंदनीय वचनों का प्रयोग करता है, इस कारण मेरी निंदा हो गयी, मेरा अपमान हो गया, ऐसा समझता है।

ये दोनों विषय झूठे हैं; क्योंकि वचनों का मुझ आत्मा के साथ कुछ सम्बन्ध ही नहीं है। इन दोनों के बीच में अत्यंताभाव की वज्र की दीवाल है; तो फिर मैं चेतन अनादि-अनन्त आत्मा हूँ और वचन-पुद्गल द्रव्य की पर्याय है; मेरा उनसे सम्बन्ध कैसा ?

परद्रव्य के गुण-दोषों से जीव को हर्ष-विषाद नहीं –

नानन्दो वा विषादो वा परे संक्रान्त्यभावत:।
परदोष-गुणैर्नूनं कदाचित् न विधीयते।।२२३।।

अन्वय :– पर-दोष-गुणै: परे संक्रांन्त्यभावत: आनन्द: वा विषाद: वा कदाचित् नूनं न विधीयते।

सरलार्थ :– पुद्गलादि अन्य द्रव्य के गुण-दोषों से जीव को हर्ष-विषाद अर्थात् सुख-दु:ख नहीं होते; क्योंकि किसी भी परद्रव्य के गुण अथवा दोषों का जीव द्रव्य में संक्रमण अर्थात् प्रवेश ही नहीं होता।

भावार्थ :– किसी भी परद्रव्य के गुण अथवा दोषों का जीव द्रव्य में प्रवेश ही नहीं होता; इस आगम के महत्वपूर्ण विषय को समझने के लिये समयसार गाथा १०३ जो इसप्रकार है –

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकतो कह तं परिणामए दव्वं।।

गाथार्थ – जो वस्तु जिस द्रव्य में और गुण में वर्तती है, वह अन्य द्रव्य में तथा गुण में संक्रमण को प्राप्त नहीं होती (बदलकर अन्य में नहीं मिल जाती); अन्यरूप से संक्रमण को प्राप्त न होती हुई वह अन्य वस्तु को कैसे परिणमन करा सकती है ?

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

समयसार गाथा ३ की टीका में भी इस विषय पर प्रकाश डाला है, अतः उसे भी अवश्य देखें।

इससे एक जीव द्रव्य के गुण-दोष अन्य जीव द्रव्य में प्रवेश नहीं करते, यह भी समझना चाहिए।

गुण का अर्थ जीव के ज्ञानादि और पुद्गल के स्पर्शादि गुण लेना चाहिए। दोष का अर्थ जीव तथा पुद्गलद्रव्य के विभाव परिणामों को लेना अनुकूल प्रतीत होता है।

इष्टानिष्ट चिन्तन की निरर्थकता –

अयं मेऽनिष्टमिष्टं वा ध्यायतीति वृथा मतिः।
पीड्यते पाल्यते वापि न परः परचिन्तया॥२२४॥

अन्वय :– **अयं मे इष्टं वा अनिष्टं वा ध्यायति इति मतिः वृथा (वर्तते; अतः) परचिन्तया परः न पीड्यते न वा अपि पाल्यते।**

सरलार्थ :– यह मेरे अहित का चिन्तन करता है और यह मेरे हित का चिन्तन करता है, इसप्रकार का विचार निरर्थक है; क्योंकि एक के चिन्तन से किसी दूसरे का पीडित होना अथवा रक्षित होना बनता ही नहीं।

भावार्थ :– एक जीव की इच्छा/अपेक्षा के अनुसार दूसरे जीव का अच्छा-बुरा अथवा हिताहित होने का संसार में नियम बन जाय तो वस्तु-व्यवस्था ही नहीं रहेगी। एक ही व्यक्ति का कुछ लोग हित चाहते हैं और उसी समय अनेक लोग उसका ही अहित भी चाहते हैं – ऐसी परिस्थिति में आखिर निर्णय किसप्रकार होगा अर्थात् किसके आधार से होगा?

दूसरा, प्रत्येक जीव का किया हुआ पुण्य-पाप कर्म भी व्यर्थ सिद्ध होने का प्रसंग प्राप्त होगा।

शास्त्र में जीव का अच्छा-बुरा उसके परिणाम अथवा पूर्वबद्ध कर्मानुसार होता है; यह कथन भी मिथ्या होने की आपत्ति आ जायेगी। इसलिए एक के हिताहित चिन्तन से दूसरे का हिताहित होने की बात सर्वथा मिथ्या ही मानना युक्तिसंगत एवं शास्त्रसम्मत भी है।

विकल्पों की निरर्थकता –

अन्योऽन्यस्य विकल्पेन वर्द्ध्यते हाप्यते यदि।
न सम्पत्तिर्विपत्तिर्वा तदा कस्यापि हीयते॥२२५॥

अन्वय :– **यदि अन्यस्य विकल्पेन अन्यः वर्द्ध्यते हाप्यते; वा तदा कस्यापि सम्पत्तिः विपत्तिः वा न हीयते।**

सरलार्थ :– यदि एक जीव के विकल्पानुसार दूसरा जीव हानि-अथवा वृद्धि को प्राप्त होता है, ऐसा मान लिया जाय तो किसी भी जीव की सम्पत्ति अथवा विपत्ति कभी क्षीण नहीं होगी।

भावार्थ :– यदि पिछले श्लोक में निरूपित सिद्धान्त के विरुद्ध यह माना जाय कि पर की चिन्ता से कोई पीड़ित या पालित अथवा वृद्धि-हानि को प्राप्त होता है तो संसार में किसी की भी सम्पत्ति तथा विपत्ति कभी कम नहीं होनी चाहिए; क्योंकि दोनों की वृद्धि-हानि के चिन्तक सज्जन-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दुर्जन बराबर पाये जाते हैं। प्रत्युत एक के अनिष्ट चिन्तन पर भी दूसरा वृद्धि को और किसी के इष्ट चिन्तन पर भी/रातदिन उसके हित की माला जपने पर भी वह हानि को प्राप्त हुआ देखने में आता है, अतः उक्त मान्यता प्रत्यक्ष के भी विरुद्ध है।

कोई भी द्रव्य इष्ट-अनिष्ट नहीं –

इष्टोऽपि मोहतोऽनिष्टो भावोऽनिष्टस्तथा परः।
न द्रव्यं तत्त्वतः किंचिदिष्टानिष्टं हि विद्यते॥२२६॥

अन्वय :– मोहतः इष्टः भावः अपि अनिष्टः तथा अनिष्टः परः (इष्टः) मन्यते। तत्त्वतः किंचित् (अपि) द्रव्यं इष्ट-अनिष्टं न हि विद्यते।

सरलार्थ :– मोह के कारण अज्ञानी जीव जिस वस्तु को पहले इष्ट मानता था, कुछ काल व्यतीत हो जाने पर उसी वस्तु को अनिष्ट मानने लगता है और जिस वस्तु को पहले अनिष्ट मानता था, उसी वस्तु को इष्ट मानने लगता है। अज्ञानी की इस प्रवृत्ति के कारण यह वास्तविक बात स्पष्ट हो जाती है कि संसार में कोई भी वस्तु इष्ट या अनिष्ट नहीं है।

भावार्थ :– वस्तु सम्बन्धी इष्टानिष्टपने की यह भावना मात्र शास्त्रों में ही बताई जाती है, ऐसा नहीं। हम लौकिक जीवन में भी इस प्रवृत्ति का अनुभव करते हैं। जैसे – पुत्र के जन्म से माता-पिता को विशेष हर्ष होता है। वे पुत्र को अपने प्राणों के समान इष्ट मानते हैं। वही पुत्र जब बड़ा होकर प्रतिकूल हो जाता है तब वह अनिष्ट लगने लगता है। इसतरह के हजारों उदाहरण देखे जा सकते हैं। इससे यही तत्त्व स्पष्ट होता है कि इस दुनिया में कोई वस्तु न इष्ट है न अनिष्ट। इष्टानिष्ट की यह मान्यता मात्र मोह से उत्पन्न होती है।

इस विषय की विशेष जानकारी हेतु मोक्षमार्गप्रकाशक के चौथे अधिकार का 'इष्ट-अनिष्ट की मिथ्या कल्पना' वाला प्रकरण अवश्य देखें।

सम्यक् श्रद्धानादि में जीव स्वयं प्रवृत्त होता है –

रत्नत्रये स्वयं जीवः पावने परिवर्तते।
निसर्गनिर्मलः शङ्खः शुक्लत्वे केन वर्त्यते॥२२७॥

अन्वय :– (यथा) निसर्ग-निर्मलः शङ्खः शुक्लत्वे केन वर्त्यते ? (अन्येन न वर्त्यते तथा) जीवः पावने रत्नत्रये (अपि) स्वयं परिवर्तते।

सरलार्थ :– जैसे स्वभाव से निर्मल शंख स्वयं अपने स्वभाव से ही शुक्लता में परिवर्तित होता है, अन्य किसी से नहीं; वैसे जीव पवित्र रत्नत्रय की आराधना में स्वयं प्रवृत्त होता है; अन्य किसी से नहीं।

भावार्थ :– यहाँ जिस पावन/पवित्र रत्नत्रय में जीव के स्वतः प्रवर्तन की बात कही गयी है, वह निर्मल सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप जीव का स्वभाव है। स्वभाव में प्रवर्तन के लिये किसी दूसरे की आवश्यकता/अपेक्षा नहीं होती।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शुद्ध-पर्यायों का उत्पाद अन्य किसी के अवलम्बन के बिना स्वतः अपने ही षट्कारकों से होता है, यह महत्त्वपूर्ण विषय इस श्लोक में बताया है।

जो विषय आचार्य कुंदकुंद ने प्रवचनसार गाथा १६ एवं आचार्य अमृतचंद्र ने उसकी टीका में स्पष्ट किया है, उसी विषय को ग्रंथकार ने इस श्लोक में बताया है; अतः पाठक उक्त गाथा, उसकी टीका और भावार्थ को सूक्ष्मता से अवश्य देखें।

मिथ्याश्रद्धादि में जीव, स्वयं प्रवृत्त होता है –

स्वयमात्मा परं द्रव्यं श्रद्धते वेत्ति पश्यति।
शङ्ख-चूर्णः किमाश्रित्य धवलीकुरुते परम्॥२२८॥

अन्वय :– (यथा) शङ्ख-चूर्णः किम् आश्रित्य परं धवली कुरुते ? (स्व आश्रित्य एव; तथा) आत्मा स्वयं (पराश्रयं विना) परं द्रव्यं पश्यति वेत्ति श्रद्धत्ते।

सरलार्थ :– जैसे शंख का चूर्ण किसी भी अन्य का आश्रय न लेकर स्वयं दूसरे को धवल करता है; वैसे आत्मा स्वयं परद्रव्य को देखता, जानता और श्रद्धान करता है।

भावार्थ :– शंख-चूर्ण के स्वभाव के उदाहरण से जीव मिथ्या श्रद्धानादि करने में स्वतंत्र है, किसी के सहारे से मिथ्या श्रद्धानादि नहीं करता, यह बता रहे हैं।

प्रश्न :– आप श्रद्धान का मिथ्या विशेषण अपनी ओर से क्यों लगा रहे हो?

उत्तर :– श्लोक में परद्रव्य का श्रद्धानादि बताया है, इससे स्वयं स्पष्ट समझ में आता है कि मिथ्या श्रद्धान की चर्चा है। स्व-स्वभाव के आत्मरूप श्रद्धान का नाम सम्यक्त्व है और पर द्रव्य के आत्मरूप श्रद्धान का नाम मिथ्यात्व है। **यहाँ परद्रव्य के श्रद्धान का अर्थ परद्रव्य के निमित्त से सुख-दुःख की प्राप्ति होती है, ऐसा समझना चाहिए।**

जीव मिथ्यात्वादि विभाव भाव करने में स्वतंत्र है, अन्य किसी पर द्रव्य के कारण जीव मिथ्या श्रद्धानादि करता है, ऐसा नहीं। इसप्रकार विपरीत भाव करने में जीव की स्वतंत्रता इस श्लोक में बतायी।

इस विषय के यथार्थ ज्ञान करने के लिये पंचास्तिकाय संग्रह गाथा ६२ एवं उसकी टीका तथा भावार्थ देखना अति आवश्यक है। इसमें पुद्गल तथा जीव के विभाव परिणाम के षट्कारक स्वतंत्र हैं, ऐसा बताया है।

जीव की मलिनता में मोह ही निमित्त, स्वभाव नहीं –

मोहेन मलिनो जीवः क्रियते निजसंगतः।
स्फटिको रक्त-पुष्पेण रक्ततां नीयते न किम्॥२२९॥

अन्वय :– (यथा) रक्त-पुष्पेण किं स्फटिकः रक्ततां न नीयते? (तथा) मोहेन निज-संगतः जीवः मलिनः क्रियते।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :– जैसे लाल फूल के साथ संगति करने से ही स्वभाव से स्वच्छ/निर्मल स्फटिक लाल होता है; वैसे मोह के साथ संगति करने से ही शुद्ध-स्वभावी जीव मलिन होता है।

भावार्थ :– विकार अर्थात् विभाव परिणाम में निमित्तरूप वस्तु पर ही होती है, स्वभाव से कोई भी वस्तु विभावरूप परिणमन नहीं करती; यह विषय इस श्लोक में ग्रंथकार बताना चाहते हैं।

समयसार गाथा २७८, २७९ तथा इन गाथाओं की टीका में, भावार्थ में और कलश क्रमांक १७५ में भी यही विषय आया है। अतः आत्मार्थी समयसार का पूर्वोक्त अंश सूक्ष्मता से जरूर देखें।

जीव पर का संग करने से ही रागादिरूप परिणमता है, स्वभाव से नहीं; इस कथन को आचार्य अमृतचंद्र ने उपरिम गाथाओं की संस्कृत टीका एवं १७५ तथा १७६ कलशों में वस्तुस्वभाव कहा है।

मोह का नाश होने पर स्वरूप की उपलब्धि –

निजरूपं पुनर्याति मोहस्य विगमे सति।
उपाध्यभावतो याति स्फटिकः स्वस्वरूपताम् ॥२३०॥

अन्वय :– **(यथा) उपाधि-अभावतः स्फटिकः स्वस्वरूपतां याति (तथा) मोहस्य विगमे सति (जीवः) निजरूपं पुनः याति।**

सरलार्थ :– जिसप्रकार लालपुष्पादिरूप संयोगस्वरूप उपाधि का अभाव हो जाने से स्फटिक अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त होता है; उसीप्रकार मोह का नाश हो जाने पर जीव पुनः अपने निर्मलस्वरूप को प्राप्त होता है।

मोह का नाश होने पर सिद्ध-अवस्था की प्राप्ति होती है – ऐसा कहकर यहाँ निमित्त का ज्ञान कराया है। उपादान की अपेक्षा देखा जाय तो जीव जब स्वयं अपनी योग्यता से स्वाभाविक शुद्ध स्वरूप को प्राप्त होता है, तब मोह का स्वयमेव नाश हो जाता है।

मोह का त्यागी साधक ही कर्मों का संवर करता है –

इत्थं विज्ञाय यो मोहं दुःखबीजं विमुञ्चति।
सोऽन्यद्रव्यपरित्यागी कुरुते कर्म-संवरम् ॥२३१॥

अन्वय :– **इत्थं विज्ञाय यः दुःख-बीजं मोहं विमुञ्चति; सः अन्य-द्रव्य-परित्यागी कर्म-संवरं कुरुते।**

सरलार्थ :– इसप्रकार मोह को दुःख का बीज जानकर जो साधक मोह को छोड़ता है, वह परद्रव्य का त्यागी होता हुआ कर्मों का संवर करता है अर्थात् कर्मों के आस्रव को रोकता है।

भावार्थ :– आस्रव एवं बंध के कारण मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग हैं। इन पाँचों में योग को छोड़कर जो चार परिणाम हैं, उनको संक्षेप में मोह कहते हैं। मोह ही आस्रव-बंध का कारण है। इसलिए मोह का अभाव जितनी मात्रा में होता है, उतनी मात्रा में होनेवाला नया

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आस्रव-बन्ध रुकता है, उसे ही संवर कहते हैं। यदि मात्र मिथ्यात्व का अभाव हुआ तो मिथ्यात्वजन्य आस्रव-बन्ध रुक जाता है और यदि मिथ्यात्व एवं अविरति दोनों का अभाव हो जायेगा तो इन दोनों से होनेवाला आस्रव-बन्ध रुक जाता है। इसतरह आगे भी प्रमाद और कषाय के संबंध में भी लगा लेना/समझना आवश्यक है। मोह के अभाव में साता-असाता वेदनीय कर्म का उदय भी जीव को सुख-दुःख देने में असमर्थ है।

प्रश्न :– मोह के अभाव में असाता वेदनीय का उदय कैसे?

उत्तर :– १२वें १३वें एवं १४वें गुणस्थानों में मोह का न आस्रव है न बंध है न सत्ता है; क्योंकि इन तीनों गुणस्थानवर्ती जीव पूर्ण वीतरागी हो गये हैं। इन वीतरागी महापुरुषों को भी पूर्वबद्ध असाता की सत्ता रहती है और यथायोग्य उदय भी आता रहता है; तथापि मोह न होने से असाता के उदय को शास्त्रों में जली हुई रस्सी के समान कहा है और मोह के अभाव में अपने दुःखरूप फल देने में असमर्थ बताया है।

राग-द्वेष सहित तप से शुद्धि नहीं –

शुभाशुभ-पर-द्रव्य-रागद्वेष-विधायिनः।
न जातु जायते शुद्धिः कुर्वतोऽपि चिरं तपः ॥२३२॥

अन्वय :– **शुभ-अशुभ-पर-द्रव्य-राग-द्वेष-विधायिनः चिरं तपः कुर्वतः अपि शुद्धिः जातु न जायते।**

सरलार्थ :– शुभ-अशुभरूप अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल लगनेवाले परद्रव्य को सुख-दुःखदाता मानकर राग-द्वेष करनेवाले जीव के चिरकाल पर्यंत बाह्य तपश्चरण करने पर भी उसे कभी शुद्धि अर्थात् वीतरागता/सच्चा धर्म प्रगट नहीं होता।

भावार्थ :– विपरीत मान्यता अर्थात् मिथ्यात्व के साथ आप चाहे जितना सदाचार पालें अथवा जिनेन्द्रकथित व्यवहारधर्म का भी निरतिचार आचरण करें तो भी उससे शुद्धि प्रगट नहीं होती। वस्तु-व्यवस्था में कोई भी द्रव्य शुभाशुभ है ही नहीं, कोई किसी को सुख-दुःखदाता भी नहीं है तो भी अज्ञानी अपनी मिथ्याबुद्धि से कुछ ना कुछ अन्यथा जानता-मानता रहता है और उससे धर्म मानता है। ऐसे अज्ञानी को कुछ काल पर्यंत स्वर्गादि स्थान मिल सकता है; परन्तु मान्यता बदले बिना धर्म समझ में भी नहीं आयेगा, जीवन में धर्म प्रगट होने की बात तो बहुत दूर की है।

कर्म का कर्ता-भोक्ता जीव, कर्मों को बाँधता है –

कुर्वाणः कर्म चात्मायं भुञ्जानः कर्मणां फलम्।
अष्टधा कर्म बध्नाति कारणं दुःखसन्ततेः ॥२३३॥

अन्वय :– **कर्म कुर्वाणः, कर्मणां च फलं भुञ्जानः अयं आत्मा दुःख-सन्ततेः कारणं अष्टधा कर्म बध्नाति।**

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :– यह अज्ञानी जीव शुभाशुभ परिणामस्वरूप कर्म करता हुआ और पुण्य-पापरूप कर्मों के अनुकूल-प्रतिकूल कर्म-फल को भोगता हुआ दुःख परम्परा का कारण ज्ञानावरणादि आठ प्रकार का नवीन कर्म बांधता है।

भावार्थ :– १. शुभाशुभ परिणाम २. उन परिणामों से पुण्य-पापरूप कर्मबन्धन ३. उन कर्मों के उदय से इष्टानिष्ट संयोग, ४. उन संयोगी पदार्थों के भोग-निमित्त से होनेवाले इष्टानिष्ट परिणाम – इसप्रकार की दुःखदायक परम्परा अज्ञानी के जीवन में चलती ही रहती है। ज्ञानी जीव संयोगी पदार्थों का ज्ञाता-दृष्टा बनकर इस परम्परा को तोड़ता है। यहाँ से पुरुषार्थ अर्थात् धर्म का प्रारम्भ होता है। ज्ञाता-दृष्टा बनना ही पुरुषार्थ और धर्म है।

ज्ञाता-दृष्टा रहना मोक्षमार्ग है –

सर्वं पौद्गलिकं वेत्ति कर्मपाकं सदापि यः।
सर्व-कर्म-बहिर्भूतमात्मानं स प्रपद्यते।।२३४।।

अन्वय :– **यः (ज्ञानी) सर्वं कर्मपाकं अपि सदा पौद्गलिकं वेत्ति। सः सर्व-कर्म-बहिर्भूतं आत्मानं प्रपद्यते।**

सरलार्थ :– जो ज्ञानी जीव, पुण्य-पापरूप संपूर्ण कर्मों के इष्टानिष्ट फल को सदाकाल पुद्गल से उत्पन्न हुआ जानता-मानता है, वह सर्व कर्मों से रहित सिद्ध-समान अपनी (भावी) आत्म-अवस्था को (क्रम से) प्राप्त होता है।

भावार्थ :– जो इष्टानिष्ट पुद्गलमय पदार्थ जीव के संयोग में आते हैं, वे तो वेदनीयादि अघाति कर्मों के उदय का कार्य है; अतः उन पदार्थों को तो पौद्गलिक कहते ही हैं। इतना ही नहीं अध्यात्म की मुख्यता से समयसार गाथा ५० से ५५ तक की टीका में तो यहाँ तक कहा है कि - **वर्ण से लेकर गुणस्थान पर्यंत के सर्व २९ भाव पुद्गल द्रव्य के परिणाममय होने से जीव के नहीं है; क्योंकि ये सर्व अनुभूति से भिन्न हैं** यह वास्तविक दृष्टि जिसे प्राप्त होती है वह ज्ञानी/धर्मात्मा जीव मोक्षमार्गी होता है और क्रम से सिद्ध-अवस्था को प्राप्त करता है।

ज्ञानी मात्र ज्ञाता-दृष्टा –

ज्ञानवांश्चेतनः शुद्धो न गृह्णाति न मुञ्चति।
गृह्णाति मुञ्चते कर्म मिथ्याज्ञान-मलीमसः।।२३५।।

अन्वय :– **शुद्धः ज्ञानवान्-चेतनः (कर्म) न गृह्णाति न मुञ्चति। मिथ्याज्ञान-मलीमसः (जीवः एव) कर्म गृह्णाति (च) मुञ्चते।**

सरलार्थ :– जो आत्मा शुद्ध ज्ञानवान अर्थात् सम्यग्ज्ञानी है, वह परद्रव्य को न ग्रहण करता है और न छोड़ता है। जो मिथ्याज्ञान से मलिन है, वह अज्ञानी जीव कर्म अर्थात् परद्रव्य को ग्रहण करता है तथा छोड़ता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– ज्ञानी जीव, वस्तु-स्वरूप को यथार्थ जानता है, अतः वह परद्रव्य के ग्रहण-त्याग का विकल्प भी नहीं करता; क्योंकि असंभव विषय का अथवा अनुचित बात का विकल्प अज्ञानी ही करते हैं।

प्रश्न :– ज्ञानी परद्रव्य का ग्रहण-त्याग नहीं कर सकता और अज्ञानी जीव करता है; इसका अर्थ ज्ञानी से अज्ञानी जीव अधिक समर्थ हो गया; ऐसा अर्थ प्रतीत होता है।

उत्तर :– ऐसा नहीं है; अज्ञानी अज्ञान के कारण "मैं परद्रव्य का ग्रहण-त्याग कर सकता हूँ"; ऐसी मात्र मिथ्या मान्यता रखता है, यह बात यहाँ कही गयी है। ज्ञानी से अज्ञानी समर्थ है, यह बताने का भाव नहीं और वस्तु-स्वरूप भी ऐसा नहीं है।

सामायिक आदि में प्रवर्तमान साधु को संवर होता है –

सामायिके स्तवे भक्त्या वन्दनायां प्रतिक्रमे।
प्रत्याख्याने तनूत्सर्गे वर्तमानस्य संवरः॥२३६॥

अन्वय :– भक्त्या सामायिके, स्तवे, वन्दनायां, प्रतिक्रमे, प्रत्याख्याने, (च) तनूत्सर्गे वर्तमानस्य (साधोः) संवरः (जायते)।

सरलार्थ :– जो साधु भक्तिपूर्वक सामायिक, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग में प्रवर्तन करते हैं, उनके संवर अर्थात् कर्मास्रव का निरोध होता है।

भावार्थ :– सामायिकादि षट्कर्मों का स्वरूप ग्रन्थकार स्वयं ही आगामी श्लोकों में बता रहे हैं। यहाँ मुनिराज के षट्कर्मों में प्रवृत्त होनेरूप जो पुण्य परिणाम है, उससे संवर होता है; ऐसा अर्थ करना उचित नहीं है; क्योंकि पुण्य-परिणाम से तो नियम से आस्रव-बंध ही होते हैं; संवर निर्जरा नहीं। संवर तो वीतराग परिणाम से होता है और षट्कर्मों में मुनिराज की शुभोपयोगरूप प्रवृत्ति तो प्रमत्तविरत गुणस्थान में आनेपर ही होती है। इसलिए इन शुभ परिणामरूप क्रियाओं को करते समय भी तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक शुद्धपरिणतिरूप जो प्रगट वीतरागता है, उससे संवर होता है ऐसा समझना चाहिए। यहाँ इस श्लोक में व्यवहारनय से सामायिकादि षट्कर्मों से संवर होता है; ऐसा कहा है।

प्रश्न :– आप अपने मन से ही अर्थ कर रहे हो, ऐसा हम क्यों नहीं मानें?

उत्तर :– ऐसा नहीं है। जिनवाणी का असत्य अर्थ करने से होनेवाले पाप से हम बहुत डरते हैं।

प्रश्न :– ऐसा है तो सामायिकादि शुभ क्रियाओं से ही संवर मान लो न, वीतराग परिणाम की शर्त मत लगाओ।

उत्तर :– शर्त लगाने की यह हमारी मर्जी की बात नहीं है। अगले ही श्लोक में व्यक्त अर्थ से आपको मूल ग्रंथकार के भाव का स्पष्ट पता चल जायेगा।

दूसरा महत्त्वपूर्ण विषय यह भी है कि यदि बाह्य अर्थात् व्यवहार सामायिकादि से ही संवर-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निर्जरा मानेंगे तो अभव्य जीव अथवा द्रव्यलिंगी मुनिराजों ने अनन्तबार सामायिकादि षट्कर्मों का आचरण किया, नव ग्रैवेयिक पर्यंत गये; लेकिन उन्हें न संवर-निर्जरा हुए न मोक्ष हुआ। अतः मात्र पुण्यमय षट्कर्मों से संवर नहीं होता है; यह मानना आवश्यक है।

सामायिक का स्वरूप –

यत् सर्व-द्रव्य-संदर्भे राग-द्वेष-व्यपोहनम्।
आत्मतत्त्व-निविष्टस्य तत्सामायिकमुच्यते ॥२३७॥

अन्वय :– आत्मतत्त्व-निविष्टस्य (साधोः) सर्व-द्रव्य-संदर्भे यत् राग-द्वेष व्यपोहनं (अस्ति), तत् सामायिकं उच्यते।

सरलार्थ :– निज शुद्धात्मतत्त्व में मग्न/लीन मुनिराज के जीवादि सर्व द्रव्यों के सम्बन्ध में जो राग-द्वेष का परित्याग अर्थात् वीतरागभाव है, उसे सामायिक कहते हैं।

भावार्थ :– सामायिक की परिभाषा में **आत्मतत्त्व-निविष्टस्य** कहकर यहाँ निजशुद्धात्मतत्त्व में लीनता की बात मुख्यरूप से कही गयी है; क्योंकि उसके बिना राग-द्वेष का परित्याग/वीतरागता शक्य नहीं है। दूसरी बात सर्व द्रव्यों के संबंध में राग-द्वेष का परित्याग बताकर मुनिराज की ओर ही संकेत स्पष्ट होता है; क्योंकि तीन कषाय चौकडी के अभावपूर्वक विशेष वीतरागता मुनिराज के ही जीवन में सम्भव है।

प्रश्न :– इसका अर्थ सामायिक क्या मुनिराज को ही होता है श्रावक को नहीं?

उत्तर :– यहाँ मुनियों के सामायिकादि षट् आवश्यक की बात चल रही है; इसलिए मुनिराज को लेकर सामायिक की चर्चा की है। श्रावक के जीवन में दो कषाय चौकडी के अभावपूर्वक सामायिक शास्त्र में बताया गया है। ग्यारह प्रतिमाओं में सामायिक नाम की तीसरी प्रतिमा भी कही गयी है।

प्रश्न :– जब मुनिराज ध्यान में बैठते हैं, तब ही सामायिक होता है या अन्य आहार-विहारादि कार्यकाल में भी सामायिक होता है?

उत्तर :– ध्यानावस्था में तो सामायिक अर्थात् समताभाव/वीतरागभाव विशेष रूप से उग्र होने से सामायिक घटित होता ही है और आहार-विहारादि शुभ क्रिया के समय में भी विशिष्ट वीतरागतारूप परिणति जीवन में सतत बनी रहती है, इसलिए मुनिराज का जीवन ही सामायिकमय है।

सामायिक पाठ बोलना आदि तो पुण्यपरिणाम तथा पुण्यक्रिया है, वास्तविक सामायिक नहीं। सामायिक का विशेष स्वरूप जानने के लिये समयसार गाथा १५४ की टीका तथा नियमसार गाथा १२५ से १३३ पर्यंत के सर्व प्रकरण को जरूर देखें।

स्तव का स्वरूप –

रत्नत्रयमयं शुद्धं चेतनं चेतनात्मकम्।
विविक्तं स्तुवतो नित्यं स्तवजैः स्तूयते स्तवः ॥२३८॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्वय :– (साधव:) चेतनात्मकं रत्नत्रयमयं शुद्धं विविक्तं चेतनं नित्यं स्तुवत: स्तवज्ञै: स्तव: स्तूयते।

सरलार्थ :– निजशुद्धात्म तत्त्व में लीन मुनिराज चेतन गुण विशिष्ट, रत्नत्रयमय और कर्मरूपी कलंक से रहित शुद्ध चेतन द्रव्य की जो नित्य स्तुति करते हैं, उस स्तुति को स्तव-मर्मज्ञों ने स्तव कहा है।

भावार्थ :– प्रश्न :– निजशुद्धात्म तत्त्व में लीन मुनिराज शब्द श्लोक में है नहीं; आपने अपनी तरफ से क्यों जोडा है?

उत्तर :– सामायिक आदि छह आवश्यक कार्य तो मुनिराज के ही होते हैं, यह तो आप भी आगमानुसार जानते ही हैं। जैन साधु होते हैं, वे सर्व आत्मध्यान में लीनता रखनेवाले ही होते हैं। अतः हमने प्रकरण के अनुसार निज शुद्धात्मतत्त्व में लीन मुनिराज यह वाक्यांश जोड दिया है। दूसरी बात स्वयं ग्रंथकार ने सामायिक के स्वरूप का कथन करते हुए **आत्मतत्त्व-निविष्टस्य** यह विशेषण मुनिराज के लिये लगाया ही है।

प्रश्न :– जब मुनिराज स्तवरूप क्रिया करते हैं, तब तो वे ध्यान से रहित शुभोपयोग अवस्था में प्रवृत्ति करते हैं। आत्मलीन शुद्धोपयोगमय अवस्था तो अप्रमत्तविरत गुणस्थान की है।

उत्तर :– आपका प्रश्न एकदम सही एवं शास्त्रानुकूल ही है। हम यही कहना चाहते हैं। जो पहले शुद्धोपयोग में थे अब शुद्धोपयोग के लिये ही स्तवरूप शुभक्रिया में संलग्न हो गये हैं और अल्पकाल में ही शुद्धोपयोगी बननेवाले हैं। यही सच्चे साधु/मुनिराज का स्वरूप है। इसका स्पष्ट अर्थ यही हुआ कि शुद्धोपयोग मुनिराज का वास्तविक स्वरूप है और जब शुद्धोपयोगरूप अवस्था में रहने के लिये असमर्थ होते हैं, तब कर्मोदय के निमित्त से और पर्यायगत योग्यतानुसार शुभोपयोगमय सामायिकादि शुभ षड् आवश्यक क्रिया में जुड जाते हैं।

वन्दना का स्वरूप –

पवित्र- दर्शन- ज्ञान- चारित्रमयमुत्तमम्।
आत्मानं वन्द्यमानस्य वन्दनाकथि कोविदै: ।।२३९।।

अन्वय :– वन्द्यमानस्य पवित्र-दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयं उत्तमं आत्मानं (योगिन:) कोविदै: वन्दना अकथि।

सरलार्थ (१) :– मुनिराज जब पवित्र अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र को प्राप्त शुद्धात्मा को नमस्कार करते हैं, तब उस नमस्कार करनेरूप शुभक्रिया और शुभ परिणाम को विज्ञ/तत्त्वज्ञ पुरुष (व्यवहार से) वन्दना कहते हैं।

सरलार्थ (२) :– जो पुरुष पवित्र दर्शन, ज्ञान और चारित्रस्वरूप उत्तम आत्मा की वन्दना करते हैं, विद्वानों ने उसी वंदना को उत्तम वंदना कहा है। (यहाँ वन्दना का अर्थ शुद्धोपयोगरूप पर्याय द्वारा शुद्धात्मस्वभाव में लीनता ही है।)

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– सरलार्थ में प्रथम अर्थ पर्याय की मुख्यता से है और दूसरा अर्थ द्रव्य की मुख्यता से है। यह वन्दनारूप आवश्यक कार्य मुनिराज के जीवन में प्रमत्तविरत गुणस्थान में शुभोपयोगी मुनिराज को ही होता है। अर्थात् शुद्धोपयोगरूप अप्रमत्तविरत अवस्था से जो शुभोपयोग में आये हैं उन्हें होता है। जिसे शुद्धोपयोग के बिना ही जीवन में मात्र शुभभाव ही होता है, ऐसे मुनिराज को कोई भी आवश्यक नहीं होता।

प्रतिक्रमण का स्वरूप –

कृतानां कर्मणां पूर्वं सर्वेषां पाकमीयुषाम्।
आत्मीयत्व-परित्यागः प्रतिक्रमणमीर्यते ।।२४०।।

अन्वय :– **पूर्वं कृतानां पाकं ईयुषां (च) सर्वेषां कर्मणां आत्मीयत्व-परित्यागः प्रतिक्रमणं ईर्यते।**

सरलार्थ :– पूर्व अर्थात् भूतकाल में स्वयं किये हुए (पुण्य-पापरूप भावकर्मों से प्राप्त) द्रव्यकर्मों के उदय से प्राप्त फल पुण्य-पापरूप भाव – इन सब द्रव्य-भावकर्मों के सम्बन्ध में अपनेपन के सर्वथा त्याग को प्रतिक्रमण कहते हैं।

भावार्थ :– संक्षेप में कहना हो तो पिछले पाप से हटने को ही प्रतिक्रमण कहते हैं।

प्रश्न :– आपने सरलार्थ में पुण्य के भी त्याग की बात क्यों कही?

उत्तर :– अध्यात्म-शास्त्र में पुण्य-पाप दोनों को समान ही माना जाता है; क्योंकि दोनों कर्म बंधनरूप हैं। दूसरी बात यह भी हमें समझना चाहिए कि पूर्वबद्ध कर्म के उदय से मिलनेवाला फल पुण्य-पाप दोनोंरूप ही होता है।

प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमण को समझने के लिये समयसार गाथा ३०६, ३०७ एवं उसकी टीका तथा वहीं आये हुए कलशों का अध्ययन अवश्य करें। नियमसार के परमार्थ प्रतिक्रमण अधिकार का अध्ययन भी उपयोगी होगा।

प्रत्याख्यान का स्वरूप –

आगाम्यागो निमित्तानां भावानां प्रतिषेधनम्।
प्रत्याख्यानं समादिष्टं विविक्तात्म-विलोकिनः ।।२४१।।

अन्वय :– **विविक्त-आत्म-विलोकिनः आगाम्यागः निमित्तानां भावानां प्रतिषेधनं प्रत्याख्यानं समादिष्टं।**

सरलार्थ :– शुद्धात्मा के अनुभवी जीव भविष्यकाल में उत्पन्न होनेवाले पुण्य-पापरूप द्रव्य कर्मों का और उनके निमित्त से होनेवाले भावी पुण्य-पापरूप परिणामों का त्याग करते हैं, उस त्याग को प्रत्याख्यान कहते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– प्रत्याख्यान में भावी अशुद्ध परिणामों का त्याग होता है।

प्रश्न :– जो परिणाम अभी हुए ही नहीं, उनका त्याग कैसे किया जाता है?

उत्तर :– जीव को परिणामों के लिये बाह्य वस्तु की कहाँ आवश्यकता है? क्या महादरिद्री जीव परिग्रह पाप का भाव नहीं कर सकता? वास्तविक देखा जाय तो पुण्य, पाप एवं धर्म के लिये परिणाम ही कारण है, जो बाह्य वस्तु के बिना भी होते रहते हैं। जैसे तन्दुलमत्स्य, सातवें नरक में जानेवाले महामत्स्य के समान पाप किये बिना ही सातवें नरक में चला जाता है।

विविक्तात्म-विलोकिनः यह श्लोकांश विशेष महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि शुद्धात्मा के अनुभवी जीव को प्रत्याख्यान होता है, अन्य जीव को नहीं। सूक्ष्मता से जिनवाणी पढ़ने के बाद प्रत्येक आत्मार्थी को यह सहज समझ में आना चाहिए कि आत्मानुभव के बिना किसी को न धर्म हुआ है, न होगा और न किसी को हो रहा है।

प्रत्याख्यान का अर्थ त्याग है। समयसार गाथा ३४ तथा उसकी टीका में ज्ञान को ही प्रत्याख्यान कहा है। इसलिए प्रत्याख्यान को इस गाथा तथा टीका से भी समझना उपयोगी है। नियमसार के निश्चय प्रत्याख्यान अधिकार का भी अध्ययन अवश्य करें।

कायोत्सर्ग का स्वरूप –

ज्ञात्वा योऽ चेतनं कायं नश्वरं कर्म-निर्मितम्।
न तस्य वर्तते कार्ये कायोत्सर्गं करोति सः ॥२४२॥

अन्वय :– यः (योगी) कायं अचेतनं नश्वरं (च) कर्म-निर्मितं ज्ञात्वा तस्य कार्ये न वर्तते सः कायोत्सर्गं करोति।

सरलार्थ :– काय अर्थात् शरीर को अचेतन, नाशवान एवं कर्म से उत्पन्न जानकर उस शरीर के कार्य में मुनिराज प्रवृत्त नहीं होते, अर्थात् शरीर का कर्ता अपने को नहीं मानते (केवल ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं) इस अकर्तापन को ही कायोत्सर्ग कहते हैं।

भावार्थ :– अभ्यन्तर तपों के मुख्य छह भेद हैं, उनमें व्युत्सर्ग तप पाँचवें क्रमांक का है। व्युत्सर्ग तप से श्रेष्ठ मात्र ध्यानतप ही है। व्युत्सर्ग तप के दो भेद हैं १. बाह्य उपधिव्युत्सर्ग और २. अभ्यंतर उपधि-व्युत्सर्ग। व्युत्सर्ग शब्द का अर्थ त्याग है। उपधि शब्द का अर्थ परिग्रह है। बाह्य उपधि/परिग्रह के दस भेद हैं और अन्तरंग उपधि के चौदह भेद हैं, उनमें मिथ्यात्व उपधि/परिग्रह प्रथम क्रमांक का है। अतः मिथ्यात्वरूप उपधि के त्याग बिना कोई धर्म किसी को होता ही नहीं। इसलिए मिथ्यात्व के त्याग करने का बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ/प्रयास प्रथम करना चाहिए। मिथ्यात्व को छोडे बिना कषाय का त्याग भी नहीं हो सकता।

प्रश्न :– आहार-विहारादि शारीरिक क्रियाओं को करते हुए मुनिराज को हमने प्रत्यक्ष देखा है और यहाँ श्लोक में शरीर के कार्य में मुनिराज प्रवृत्त नहीं होते ऐसा कथन आया है। वह कैसे?

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उत्तर :– बाह्य में शरीर की क्रिया करते हुए मुनिराज देखने में आते हैं; तथापि मुनिराज तो इन क्रियाओं के मात्र ज्ञाता हैं, क्योंकि उन्हें शरीर में एकत्व-ममत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्वबुद्धि किंचित् भी नहीं है।

शरीर तो आहारवर्गणारूप पुद्गलों से बना है। उसका कर्ता तो मात्र अचेतन पुद्गल है। ज्ञानघनपिण्ड चेतन का तो पुद्गलमय शरीर में अत्यन्त अभाव है। अतः शरीर की क्रिया का कर्ता जीव कभी भी नहीं हो सकता।

शरीर एवं शरीर की क्रियाओं के मुनिराज मात्र ज्ञाता रहते हैं, कर्ता नहीं, यह अकर्तापना ही कायोत्सर्ग है।

संवरक योगी का स्वरूप –

यः षडावश्यकं योगी स्वात्मतत्त्व-व्यवस्थितः।
अनालस्यः करोत्येव संवृतिस्तस्य रेफसाम्।।२४३।।

अन्वय :– स्व-आत्म-तत्त्व-व्यवस्थितः अनालस्यः यः योगी षट् आवश्यकं करोति तस्य एव रेफसां (पुण्य-पाप-कर्मणां) संवृतिः (जायते)।

सरलार्थ :– जो योगी अर्थात् मुनिराज निज शुद्धात्म तत्त्व में विशेषरूप से अवस्थित अर्थात् लीन रहते हैं और प्रमाद से रहित होकर सामायिक आदि षट् आवश्यकों को करते हैं, उनके पुण्य-पापरूप कर्मों का संवर होता है।

भावार्थ :– इस श्लोक में योगी के जो दो विशेषण दिये गये हैं, वे विशेष हैं – पहला **स्वात्मतत्त्व-व्यवस्थितः** और दूसरा **अनालस्यः**। ये दोनों विशेषण मुनिराज की अप्रमत्त अवस्था का ज्ञान कराते हैं। अविरत सम्यक्त्व नामक चौथे गुणस्थान से ही संवर का प्रारम्भ होता है। यहाँ अप्रमत्तविरत नामक सातवें एवं उससे आगे के गुणस्थानों की ओर संकेत मुख्यरूप से है। अतः इन गुणस्थानवर्ती महापुरुषों को तो विशेष संवर होता ही है। सम्यक्दृष्टि को तो मात्र एक कषाय चौकडी के अभावपूर्वक संवर/वीतरागता होती है और अप्रमत्तविरतादि गुणस्थान में तीन कषाय चौकडी के अभावपूर्वक विशेष वीतरागता निरन्तर होती है; अतः इन जीवों को संवर उत्तरोत्तर अधिक होना स्वाभाविक है। क्षपकश्रेणी के अपूर्वकरणादि तीन गुणस्थानवर्ती जीवों की ओर संकेत करने का ग्रंथकार का भाव है; ऐसा यहाँ प्रतीत होता है।

प्रश्न :– जब मुनिराज अप्रमत्तादि गुणस्थान में विराजमान हैं, तब उन्हें सामायिक आदि षट् आवश्यक क्रिया करने का विकल्प कैसे सम्भव है? तथापि इस श्लोक में योगी षट् आवश्यकों को करते हैं, ऐसा लिखा है, यह कैसे घटित होता है?

उत्तर :– यहाँ निश्चय षडावश्यक क्रियाओं को ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि अप्रमत्तादि गुणस्थानों में व्यवहार षडावश्यक पालने का बुद्धिपूर्वक क्रियात्मक रागभाव का अस्तित्व ही नहीं है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मज्ञानी ही संवर करते हैं, अन्य नहीं –

मिथ्याज्ञानं परित्यज्य सम्यग्ज्ञानपरायणः।
आत्मनात्मपरिज्ञायी विधत्ते रोधमेनसाम् ॥२४४॥

अन्वय :– मिथ्याज्ञानं परित्यज्य सम्यग्ज्ञानपरायणः, आत्मना आत्म-परिज्ञायी (योगी) एनसां रोधं विधत्ते।

सरलार्थ :– मिथ्याज्ञान का विशेषरूप से त्याग कर जो साधक सम्यग्ज्ञान में तत्पर अर्थात् आत्मज्ञान में लीन रहते हैं तथा आत्मा से आत्मा को जानते हैं, वे कर्मों का निरोध अर्थात् संवर करते हैं।

भावार्थ :– साक्षात् सर्वज्ञ बनने के पूर्व की अवस्था अर्थात् क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती जीव के लिये इस श्लोक का कथन लागू होता हुआ प्रतीत होता है। आगे के श्लोकों से भोजक-अभोजकरूप से विषय की भिन्नता भी स्पष्ट है। अतः सर्वज्ञ होने से पूर्व साधक के अंतिम अवस्थारूप का वर्णन होना भी स्वाभाविक लगता है।

सामान्य अपेक्षा से सोचा जाय तो भूमिकानुसार चौथे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान पर्यंत भी अथवा अपूर्वकरण से क्षीणमोह गुणस्थान पर्यंत भी कर्मों के संवर की बात लागू हो सकती है।

भोक्ता-अभोक्ता का निर्णय –

द्रव्यतो भोजकः कश्चिद्भावतोऽस्ति त्वभोजकः।
भावतो भोजकस्त्वन्यो द्रव्यतोऽस्ति त्वभोजकः ॥२४५॥

अन्वय :– कश्चित् (ज्ञानी जीवः) द्रव्यतः भोजकः भावतः तु अभोजकः अस्ति। अन्यः (अज्ञानी जीवः) तु भावतः भोजकः द्रव्यतः तु अभोजकः अस्ति।

सरलार्थ :– कोई ज्ञानी जीव द्रव्य से भोक्ता है, वही जीव भाव से अभोक्ता है। दूसरा मिथ्यादृष्टि/अज्ञानी जीव भाव से भोक्ता है और वही जीव द्रव्य से अभोक्ता है।

भावार्थ :– जो जीव किसी पदार्थ के भोग में प्रवृत्त है उसे 'भोजक' और जो भोग से निवृत्त है उसे 'अभोजक' कहते हैं। यहाँ द्रव्य तथा भाव से भोजक-अभोजक की व्यवस्था बताते हुए यह सूचित किया है कि जो द्रव्य से भोजक है, वह भाव से भी भोजक हो अथवा जो भाव से भोजक है, वह द्रव्य से भी भोजक हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। एक ज्ञानीजीव बाह्य में द्रव्य से भोजक होते हुए भी भाव से भोजक नहीं होता और दूसरा अज्ञानी भाव से भोजक होते हुए भी बाह्य में द्रव्य से भोजक नहीं होता।

अध्यात्म ज्ञान की विशिष्ट दृष्टि के बिना इस श्लोक का भाव समझना कठिन है। इस श्लोकगत विषय का मर्म समझने के लिये समयसार गाथा १९५, १९६ तथा १९७ को एवं इन गाथाओं की टीका तथा भावार्थ को भी सूक्ष्मता से पढ़ना आवश्यक है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कौन किससे पूजनीय –

द्रव्यतो यो निवृत्तोऽस्ति स पूज्यो व्यवहारिभिः।
भावतो यो निवृत्तोऽसौ पूज्यो मोक्षं यियासुभिः ।।२४६।।

अन्वय :– यः द्रव्यतः निवृत्तः सः व्यवहारिभिः पूज्यः अस्ति। यः भावतः निवृत्तः असौ मोक्षं यियासुभिः पूज्यः (अस्ति)।

सरलार्थ :– जो द्रव्य से निवृत्त अर्थात् अभोजक हैं वे व्यवहारियों से पूज्य हैं। जो भाव से निवृत्त अर्थात् अभोजक/अभोक्ता हैं, वे मुमुक्षुओं से पूज्य/पूजा को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ :– जो द्रव्य से बाह्य पदार्थों का त्याग करके उनके भोग से निवृत्त होते हैं, वे व्यवहारी जीवों के द्वारा पूजे जाते हैं; क्योंकि व्यवहारी जीवों की बाह्य दृष्टि होती है, वे दूसरे के अन्तरंग को नहीं परख पाते। वस्तुतः जो भाव से भोगों से विरक्तचित्त होकर निवृत्त होते हैं वे मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा रखनेवाले मुमुक्षुओं के द्वारा पूजे जाते हैं; क्योंकि मुमुक्षु अन्तरात्माओं को आन्तरिक दृष्टि होने के कारण वे दूसरे के अन्तरंग को परख लेते हैं।

इस श्लोक में निवृत्त शब्द आया है, उसका अर्थ अंतरंग-बहिरंगरूप से त्याग है। वह त्याग जिनेन्द्र कथित चरणानुयोग के अनुसार हो, अपनी कल्पना से मात्र दिखावा न हो।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अष्टपाहुड ग्रन्थ के भावपाहुड गाथा ७१ में मात्र दिखावा करनेवाले को नटश्रमण कहा है। उनका जीवन गन्ने के फूल के समान व्यर्थ बताया है।

भावपूर्वक त्याग से संवर –

द्रव्यमात्रनिवृत्तस्य नास्ति निर्वृतिरेनसाम्।
भावतोऽस्ति निवृत्तस्य तात्त्विकी संवृतिः पुनः ।।२४७।।

अन्वय :– द्रव्य-मात्र-निवृत्तस्य (जीवस्य) एनसां निवृत्तिः न अस्ति। पुनः भावतः निवृत्तस्य (जीवस्य) तात्विकी संवृतिः अस्ति।

सरलार्थ :– जो जीव अन्तरंग परिणाम के बिना मात्र बाहर से ऊपर-ऊपर से भोग्य वस्तु का त्याग करते हैं, उनके कर्मों का संवर नहीं होता और जो जीव अन्तरंग परिणाम से अर्थात् भाव से/मनःपूर्वक भोग्य वस्तु का त्याग करते हैं; उनके कर्मों का संवर होता है।

भावार्थ :– यहाँ पिछले कथन को संवर तत्त्व के साथ सम्बद्ध जोड़ते हुए लिखा है कि जो द्रव्य मात्र से निवृत्त है अर्थात् बाह्य में किसी वस्तु के भोग का बुद्धिपूर्वक त्याग किये हुए हैं; परन्तु अन्तरंग में उसके भोग की वासना/लालसा बनी हुई है, उसके कर्मों का संवर नहीं होता। जो भाव से निवृत्त है अर्थात् हृदय में उस पदार्थ के भोग का कभी विचार तक भी नहीं होता – उसके वास्तविक संवृति बनती है। इससे स्पष्ट जाना जाता है कि जो भाव से त्याग है, वही कल्याणकारी है। लोकदिखावे के रूप में जो भी त्यागवृत्ति है, वह कल्याणकारिणी नहीं है, इस कारण ही जीव को द्रव्यलिंगी मुनि अवस्था का स्वीकार करने पर भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो पाई।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भाव से निवृत्त होने की प्रेरणा –

विज्ञायेति निराकृत्य निवृत्तिं द्रव्यतस्त्रिधा।
भाव्यं भाव-निवृत्तेन समस्तैनो निषिद्धये॥२४८॥

अन्वय :– इति निवृत्तिं विज्ञाय द्रव्यत: त्रिधा निराकृत्य समस्त-एन: निषिद्धये (त्रिधा) भाव-निवृत्तेन भाव्यम्।

सरलार्थ :– इसप्रकार द्रव्य-भावरूप दोनों निवृत्ति को अर्थात् त्याग को यथार्थ जानकर और द्रव्य निवृत्ति को मन-वचन-काय से छोड़कर अर्थात् उपादेय न मानकर/हेय मानकर ज्ञानावरणादि समस्त कर्मों को दूर करने के लिये त्रियोगपूर्वक भाव से निवृत्त होना चाहिए।

भावार्थ :– पिछले श्लोकानुसार जब द्रव्य मात्र की निवृत्ति से कर्मों की निवृत्ति न होकर भाव से निवृत्ति होने पर कर्मों की निवृत्ति होती है, तब फलितार्थ यह निकला कि द्रव्य निवृत्ति का आग्रह न रखकर – उसे हेय मानकर अर्थात् द्रव्यनिवृत्ति का ज्ञाता-दृष्टा होकर – भाव से निवृत्तिरूप होना चाहिए, ऐसा होने से समस्त कर्मों की निवृत्ति होती है; यही निष्कर्ष इस श्लोक में सूचित किया गया है।

श्लोक में द्रव्य निवृत्ति को ऐसा जो शब्द प्रयोग में आया है, उसका यथार्थ भाव समझना चाहिए। द्रव्य-त्याग का भी अपना स्थान है, वह धर्म को उत्पन्न नहीं करता, यह सत्य होने पर भी उस बुद्धिपूर्वक द्रव्यनिवृत्ति के बिना भाव निवृत्ति हो नहीं सकती, यह भी वस्तुस्वरूप है। इस कारण ही अप्रमत्त गुणस्थान की प्राप्ति के पहले पात्र श्रावक को मुनिराज के २८ मूलगुणरूप द्रव्यलिंग का स्वीकार अनिवार्य है। इस विषय को स्पष्ट करने के लिये ही आचार्य कुंदकुंद ने **णग्गो ही मोक्खमग्गो नग्नता ही मोक्षमार्ग हैं'** ऐसा वचन व्यवहार से कहा है।

द्रव्यलिंग का भावलिंग के साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। कोई भी मुनिपद का अंगीकार करता है तो उसे द्रव्यलिंगपूर्वक ही भावलिंग की प्राप्ति होती है। प्रथम, चतुर्थ अथवा पंचम गुणस्थान में जो भव्य महापुरुष द्रव्यलिंग का स्वीकार करते हैं, उन्हें ही निजशुद्धात्मा के विशिष्ट ध्यान से सीधा अप्रमत्तविरत गुणस्थानरूप भावलिंगपना प्राप्त होता है।

शरीरात्मक लिंग से मुक्ति नहीं –

शरीरमात्मनो भिन्नं लिङ्गं येन तदात्मकम्।
न मुक्तिकारणं लिङ्गं जायते तेन तत्त्वत:॥२४९॥
यन्मुक्तिं गच्छता त्याज्यं न मुक्तिर्जायते तत:।
अन्यथा कारणं कर्म तस्य केन निवर्तते॥२५०॥

अन्वय :– येन शरीरं आत्मन: भिन्नं तदात्मकं लिङ्गं (च) तेन तत्त्वत: लिङ्गं मुक्ति-कारणं न जायते।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मुक्तिं गच्छता यत् (लिङ्गम्) त्याज्यं (अस्ति) ततः मुक्तिः न जायते; अन्यथा तस्य (लिङ्गस्य) कारणं कर्म केन निवर्तते ?

सरलार्थ :– शरीर आत्मा से भिन्न है और लिंग शरीरात्मक है; इसलिए वस्तुतः लिंग मुक्ति का कारण नहीं होता। जो शरीर/लिंग मुक्ति को जानेवालों से त्याज्य हैं, उस शरीर से मुक्ति नहीं होती।

यदि लिंग को मुक्ति का कारण माना जायेगा तो लिंग के लिये कारण होनेवाले नामकर्म को किस साधन से दूर किया जायेगा? अर्थात् किसी से भी नामकर्म का दूर किया जाना नहीं बनता।

भावार्थ :– इन दोनों श्लोकों में युक्तिपुरस्सर यह प्रतिपादित किया गया है कि कोई भी लिंग अथवा वेष वस्तुतः मुक्ति का कारण नहीं है; क्योंकि वह शरीरात्मक है और शरीर आत्मा से भिन्न है। जो शरीर तथा वेष मुक्ति को जानेवाले/प्राप्त होनेवालों के द्वारा त्यागा जाता है, वह मुक्ति का कारण नहीं हो सकता।

यदि शरीर अथवा तदाश्रित लिंग को मुक्ति का कारण माना जायेगा तो फिर शरीर का कारण जो नामकर्म है, वह किसी के द्वारा भी दूर नहीं किया जा सकेगा और कर्म के साथ में रहने पर मुक्ति कैसी होगी ? अतः शरीरात्मक द्रव्यलिंग को मुक्ति का कारण मानना तर्कसंगत नहीं – अनुचित है। श्री पूज्यपादाचार्य ने अपने समाधितंत्र के ८७ वें श्लोक में इसी बात की स्पष्ट घोषणा की है :–

लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिङ्गकृताग्रहाः॥

श्लोकार्थ :– लिंग (नग्नता इत्यादि) शरीराश्रित है और शरीर आत्मा का भव/संसार है; अतः जो लिंग का आग्रह रखते हैं वे संसार से मुक्त नहीं हो पाते। एक भव से दूसरा भव धारण करते हुए संसार में ही परिभ्रमण करते रहते हैं। जब लिंग आदि का आग्रह छूटता है, तब ही मुक्ति का स्वामित्व प्राप्त होता है। शरीर अचेतन है इसलिए चेतन आत्मा को शरीर का आग्रह नहीं रखना चाहिए।

लिंग सम्बन्धी अत्यन्त संतुलित कथन समयसार गाथा ४०८ से ४१४ पर्यंत है। इन गाथाओं की टीका तथा भावार्थ में भी यही विषय अत्यंत स्पष्टरूप से आया है, उसे जरूर देखें।

मुमुक्षु के लिए हेय तथा उपादेय तत्त्व –

अचेतनं ततः सर्वं परित्याज्यं मुमुक्षुणा।
चेतनं सर्वदा सेव्यं स्वात्मस्थं संवरार्थिना॥२५१॥

अन्वय :– **ततः संवरार्थिना मुमुक्षुणा सर्वं अचेतनं परित्याज्यं (च) स्व-आत्मस्थं चेतनं सर्वदा सेव्यं।**

सरलार्थ :– अतः जो मोक्ष का अभिलाषी एवं संवर का अर्थी है, उसके लिये समस्त अचेतन

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पदार्थ समूह त्यजनीय अर्थात् हेय है और अपना अनादि-अनंत चेतनरूप जीव तत्त्व सदा ही ध्येयरूप से सेवनीय/उपादेय है।

भावार्थ :– इस श्लोक में ग्रंथकार इस अधिकार का सम्पूर्ण मर्म ही समझा रहे हैं। मुमुक्षु को संवर प्रगट करने के लिये, संवर बढ़ाने के लिये और संवर तत्त्व की पूर्णता के लिये तथा मोक्ष-प्राप्ति के लिये भी जो ध्यान का ध्येय निज भगवान आत्मा है, उसकी निरन्तर सेवा/उपासना करने की सीधी प्रेरणा दी है।

शीघ्र संवर करनेवालों का परिचय –

(स्वागता)

आत्मतत्त्वमपहस्तित-रागं ज्ञान-दर्शन-चरित्रमयं यः।
मुक्तिमार्गमवगच्छति योगी संवृणोति दुरितानि स सद्यः।।२५२।।

अन्वय :– यः योगी अपहस्तितरागं आत्म-तत्त्वं, च ज्ञान-दर्शन-चारित्रमयं मुक्तिमार्गं (च) अवगच्छति सः सद्यः दुरितानि (कर्माणि) संवृणोति।

सरलार्थ :– जो योगी अर्थात् महामुनिराज राग-रहित/वीतरागस्वभावी त्रिकाली निज शुद्ध आत्मतत्त्वरूप द्रव्य को और सम्यक्ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप मोक्षमार्गस्वरूप पर्याय को जानते/पहिचानते हैं, वे कर्मों का शीघ्र अर्थात् पूर्ण संवर करते हैं।

भावार्थ :– इस पाँचवें संवराधिकार का यह उपसंहाररूप श्लोक है, अतः इसमें परिपूर्ण संवर करनेवालों का परिचय ग्रंथकार करा रहे हैं। अब यहाँ पुण्य-पापरूप सर्व प्रकार के आस्रव के आगमन का निरोधरूप संवर हो गया है, इसलिए इस अवस्था को प्राप्त मुनिराज के बन्ध का अभाव होने से शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

इसप्रकार श्लोक क्रमांक १९१ से २५२ पर्यन्त ६२ श्लोकों में यह पाँचवाँ 'संवर-अधिकार' पूर्ण हुआ।

●●●

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

६

निर्जरा-अधिकार

निर्जरा का लक्षण और भेद –

पूर्वोपार्जित-कर्मैक-देश-संक्षय-लक्षणा।
निर्जरा जायते द्वेधा पाकजापाकजात्वतः॥२५३॥

अन्वय :– पूर्व-उपार्जित-कर्म-एकदेश-संक्षय-लक्षणा निर्जरा; (या) पाकजा-अपाकजात्वतः द्विधा जायते।

सरलार्थ :– पूर्व अर्थात् पहले/भूतकालीन जीवन में बन्धे हुए ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों का आंशिक विनाश हो जाना जिसका लक्षण है, उसे निर्जरा कहते हैं; उसके पाकजा निर्जरा और अपाकजा निर्जरा इसतरह दो भेद हैं।

भावार्थ :– जीव अनादिकालीन द्रव्य है और जीव को अनादिकाल से ही मोह-राग-द्वेष के निमित्त से कर्म का बन्ध निरन्तर हो रहा है। इसतरह प्रत्येक संसारी जीव के साथ पूर्वबद्ध कर्म हैं और उसका हर समय उदय में आकर खिर जाने का कार्य भी हो रहा है।

निर्जरा अधिकार का प्रारम्भ करते हुए यहाँ सबसे पहले निर्जरा का लक्षण दिया है और वह लक्षण है **पूर्वोपार्जित कर्मों का एकदेश विनाश।** पूर्वोपार्जित कर्मों में पूर्व जन्मों के तथा इस जन्म में किए हुए कर्म भी शामिल हैं। कर्म के एकदेश संक्षय का अर्थ है **आंशिक-विनाश** पूर्णतः विनाश नहीं; क्योंकि कर्मों के पूर्णतः विनाश होने का नाम तो **मोक्ष** है, निर्जरा नहीं। जबतक नये कर्मों का एकदेश आस्रव नहीं रुकता और बन्ध-हेतुओं का एकदेश अभाव नहीं होता, तबतक होनेवाली निर्जरा को निर्जरातत्त्व नहीं कहते। उक्त निर्जरा के दो भेद हैं – एक **पाकजा** , दूसरी **अपाकजा।** इन दोनों का स्वरूप अगले श्लोक में दिया ही है।

दोनों निर्जरा का स्वरूप –

प्रक्षयः पाकजातायां पक्वस्यैव प्रजायते।
निर्जरायामपक्वायां पक्वापक्वस्य कर्मणः॥२५४॥

अन्वय :– पाकजातायां पक्वस्य एव (कर्मणः) प्रक्षयः प्रजायते। अपक्वायां निर्जरायां पक्व-अपक्वस्य कर्मणः (प्रक्षयः प्रजायते)।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :– पाकजा निर्जरा में पके हुए अर्थात् उदय काल को प्राप्त ज्ञानावरणादि आठों कर्मों का विनाश होता है। अपाकजा निर्जरा में पके-अपके अर्थात् काल प्राप्त-अकालप्राप्त दोनों प्रकार के ज्ञानावरणादि आठों कर्मों का विनाश होता है।

भावार्थ :– पाकजा निर्जरा को अन्य शास्त्र में सविपाक निर्जरा नाम से भी कहा गया है।

जब कर्म का स्थितिबन्ध का काल पूरा हो जाने के कारण कर्म, फल देकर निकल जाते हैं, उसे ही पाकजा निर्जरा, काल प्राप्त निर्जरा अथवा सविपाक निर्जरा कहते हैं। जब कालप्राप्त निर्जरा से जो कर्म निकल जाता है, तब वह पीछे अपनी परम्परा को छोड़कर जाता है; क्योंकि उस समय जीव कर्मोदयानुसार मोहादि परिणाम के कारण नये कर्म का बन्ध कर लेता है। यह पाकजा निर्जरा एकेन्द्रिय से लेकर सभी ज्ञानी-अज्ञानी जीवों को होती है। यह कार्य धर्मरूप पुरुषार्थ और संवर के बिना सहज होता है। इस निर्जरा को निर्जरा तत्त्व नहीं कहते।

अपाकजा निर्जरा को अन्य शास्त्र में अविपाक निर्जरा नाम से भी कहा गया है। जब मोक्षमार्गस्थ जीव अनुकूल-प्रतिकूल अवस्था में ज्ञाता-दृष्टारूप पुरुषार्थ के कारण पूर्वबद्ध कर्मों की उदीरणा करके अकाल में उदय में लाकर कर्मों को निर्जरित करता है, उसे अविपाक निर्जरा अथवा अपाकजा निर्जरा कहते हैं और इसे ही अकालप्राप्त निर्जरा भी कहते हैं। यह निर्जरा अपनी परम्परा पीछे छोड़कर नहीं जाती; क्योंकि जीव ज्ञाता-दृष्टारूप परिणत होने से नये कर्मों का बंध नहीं करता। यह निर्जरा सम्यग्दृष्टि आदि ज्ञानी जीव ही अपने पुरुषार्थ के अनुसार करते हैं। इस निर्जरा को निर्जरा तत्त्व में गिना जाता है और यह निर्जरा संवरपूर्वक होती है।

अपाकजा निर्जरा का उदाहरण –

शुष्काशुष्का यथा वृक्षा दह्यन्ते दव-वह्निना।
पक्वापक्वास्तथा ध्यान-प्रक्रमेणाघसंचयाः ।।२५५।।

अन्वय :– **यथा दव-वह्निना शुष्क-अशुष्काः वृक्षाः दह्यन्ते; तथा ध्यानप्रक्रमेण पक्व-अपक्वाः अघसंचयाः (दह्यन्ते)।**

सरलार्थ :– जिसप्रकार दावानलरूपी अग्नि से सूखे वृक्षों की तरह गीले वृक्ष भी जलकर नष्ट होते हुए राख बन जाते हैं; उसीप्रकार अत्यन्त निर्मल ध्यानरूपी अग्नि से कालप्राप्त तथा अकालप्राप्त कर्मसमूह भस्म हो जाते हैं।

भावार्थ :– अत्यन्त प्रज्वलित तीक्ष्ण अग्नि का नाम 'दावानल' है, जो वन को भस्म कर देती है। सूखे की तरह गीले-हरे वृक्ष भी उसकी लपेट में आकर भस्म होने से बच नहीं पाते। एकाग्रचिन्तारूप ध्यान भी ऐसी ही प्रबल अग्नि है, उसकी लपेट में आया हुआ कोई भी कर्म चाहे वह उदय के योग्य हो या न हो, उदीरणा को प्राप्त होने से निर्जरित होकर नष्ट हो जाता है। इस तरह यहाँ पिछले श्लोक में उल्लिखित **अपाकजा** निर्जरा की शक्ति को दावानल के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वीतरागता के निमित्त से अकाल प्राप्त कर्मों की उदीरणा होकर उदय में आने का क्रम चालू रहता है। पूर्वबद्ध कर्मों के स्थिति-अनुभाग के घटने को अपकर्षण कहते हैं और बढ़ने को उत्कर्षण कहते हैं। ध्यानावस्था में बढ़ती हुई वीतरागता के निमित्त से पूर्वबद्ध कर्म निश्चित समय के पहले फल देकर निकल जाते हैं – इसप्रकार अपाकजा निर्जरा होती है।

ध्यान से ही सर्वोत्तम निर्जरा –

दूरीकृत-कषायस्य विशुद्धध्यान-लक्षणः।
विधत्ते प्रक्रमः साधोः कर्मणां निर्जरां पराम् ॥२५६॥

अन्वय :– दूरीकृतकषायस्य साधोः विशुद्ध-ध्यान-लक्षणः प्रक्रमः कर्मणां परां निर्जरां विधत्ते।

सरलार्थ :– जिन मुनिराज ने क्रोधादि कषाय परिणामों को दूर किया है, उन मुनिराज ने विशुद्धध्यानरूप लक्षणवाला प्रक्रम/उपक्रम अर्थात् कार्य किया है। (यह कार्य ही भावनिर्जरा है)। इससे ज्ञानावरणादि आठों द्रव्यकर्मों की सर्वोत्तम निर्जरा होती है।

भावार्थ :– कषायों को दूर करने का कार्य तो मुनिराज के जीवन का प्राण/मुख्य ध्येय है। छठवें गुणस्थान में कषाय का मात्र कण ही विद्यमान रहता है, ऐसा कथन आचार्य अमृतचन्द्र ने प्रवचनसार की ५वीं गाथा की टीका में किया है। क्षपक श्रेणी के आठवें गुणस्थान में तो कषायों को दूर करने का कार्य अति तीव्र गति से होता है। उसी काल में विशुद्ध ध्यानरूप कार्य भी समय-समय प्रति बढ़ता रहता है और द्रव्यकर्मों की निर्जरा भी असंख्यात गुणी होती जाती है। बारहवें गुणस्थान के पूर्व कषाय-नोकषायों का सम्पूर्ण क्षय ही हो जाता है। वहाँ की निर्जरा उत्कृष्ट समझना चाहिए।

सर्वोत्तम निर्जरा का स्वामी –

आत्मतत्त्वरतो योगी कृत-कल्मष-संवरः।
यो ध्याने वर्तते नित्यं कर्म निर्जीर्यतेऽमुना ॥२५७॥

अन्वय :– यः कृत-कल्मष संवरः आत्म-तत्त्व-रतः योगी नित्यं ध्याने वर्तते अमुना कर्म निर्जीर्यते।

सरलार्थ :– जो मुनिराज निज शुद्ध आत्मतत्त्व में सदा लवलीन रहते हैं, जिन्होंने सकल कषाय-नोकषायरूप पाप का संवर किया है तथा जो सदा मात्र ध्यान में प्रवृत्त रहते हैं, वे ही कर्मों की उत्कृष्ट निर्जरा करते हैं, अन्य कोई नहीं।

भावार्थ :– पिछले श्लोक में कथित विषय को यहाँ और दृढ़ता से कहते हुए उत्कृष्ट निर्जरा के स्वामी का ज्ञान कराया है। श्लोक में **आत्मतत्त्वरतः** और **ध्याने नित्यं वर्तते** इसतरह आत्मध्यान का विषय दो-दो बार कहते हुए क्षपकश्रेणी आरूढ़ मुनिराज की ओर ही स्पष्ट संकेत किया है। श्रेणी के अन्य गुणस्थानों को गौण करते हुए मात्र क्षीणमोही मुनिराज को ही सर्वोत्तम निर्जरा का स्वामी ग्रहण करना उचित प्रतीत होता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

संवर के बिना निर्जरा नहीं –

संवरेण बिना साधोर्नास्ति पातकनिर्जरा।
नूतनाम्भ:प्रवेशोऽस्ति सरसो रिक्तता कुत: ।।२५८।।

अन्वय :– **(यथा) नूतन-अम्भ:प्रवेश: अस्ति (तर्हि) सरस: रिक्तता कुत: (जायते) ? (तथा) संवरेण बिना साधो: (कर्मणां) पातक-निर्जरा न अस्ति।**

सरलार्थ :– जैसे सरोवर में नये जल के प्रवेश को रोके बिना सरोवर को जल से रहित नहीं किया जा सकता, वैसे ही मिथ्यात्वादि के संवर के बिना साधु के पाप कर्मों की अपाकजा/ अविपाक निर्जरा नहीं हो सकती; (अत: पहले मिथ्यात्व का संवर करना चाहिए।)

भावार्थ :– मुनिराज का प्रकरण होने से श्लोक में साधु को निर्जरा नहीं हो सकती (साधो: पातक-निर्जरा नास्ति) ऐसा लिखा है। वास्तविक देखा जाय तो श्रावक को तथा अविरत सम्यग्दृष्टि को भी मिथ्यात्व के संवर बिना निर्जरा तत्त्व प्रगट नहीं होता।

निर्जरा अधिकार में तो ग्रंथकार को निर्जरातत्त्व का कथन करना है, सविपाक निर्जरा का नहीं; क्योंकि धर्म-क्षेत्र में सविपाक निर्जरा को कोई स्थान ही नहीं है।

एकाग्र चित्त साधु ही कर्मों के नाशक –

रत्नत्रयमयं ध्यानमात्मरूपप्ररूपकम्।
अनन्यगतचित्तस्य विधत्ते कर्मसंक्षयम्।।२५९।।

अन्वय :– **अनन्यगतचित्तस्य (योगिन:) आत्मरूप-प्ररूपकं रत्नत्रयमयं ध्यानं कर्म-सक्षयं विधत्ते।**

सरलार्थ :– अनन्य चित्तवृत्ति के धारक अर्थात् एकाग्रचित्तवृत्तिवाले मुनिराज का आत्मस्वरूप का प्रतिपादक रत्नत्रयमयी ध्यान कर्मों का विनाश करता है।

भावार्थ :– मूल विषय यह है कि ध्यान ही कर्मों का विनाश करता है, अन्य कोई नहीं। वह ध्यान रत्नत्रयमय अर्थात् सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान और चारित्रमय है, अन्य क्रियाकाण्डमय अथवा शुभपरिणामस्वरूप नहीं। वह रत्नत्रय आत्मस्वरूप का प्ररूपक है। उस रत्नत्रय के धारक मुनिराज नियम से ध्यान के समय एकाग्रचित्तवाले ही होते हैं, चंचलचित्तवाले नहीं। मात्र ध्यान से ही कर्मों का नाश होता है, ऐसा कहना अलग बात है और ध्यान के यथार्थ स्वरूप को समझना अलग बात है।

संपूर्ण कर्म-मल को धो डालनेवाले का स्वरूप –

त्यक्तान्तरेतरग्रन्थो निर्व्यापारो जितेन्द्रिय:।
लोकाचारपराचीनो मलं क्षालयतेऽखिलम्।।२६०।।

अन्वय :– **त्यक्त-अन्तर-इतर-ग्रन्थ:, निर्व्यापार:, जितेन्द्रिय: लोकाचारपराचीन: (साधु:) अखिलं (कर्म) मलं क्षालयते।**

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :– जो मुनिराज मिथ्यात्व-कषायादि अन्तरंग परिग्रह तथा क्षेत्र-वास्तु आदि बहिरंग परिग्रह के संपूर्ण त्यागी; असि, मसि आदि षट्कर्मों से रहित एवं जितेन्द्रिय हैं और लोकाचार से पराङ्मुख होकर अलौकिक हो गये हैं, वे महान योगी सम्पूर्ण कर्म-मल को धो डालते हैं।

भावार्थ :– मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद ये चौदह अन्तरंग परिग्रह हैं। क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन-धान्य, दासी-दास, वस्त्र और बर्तन ये दस बाह्य परिग्रह हैं। मुनिराज इन २४ परिग्रहों के त्यागी हैं। इन परिग्रहों के त्याग का मर्म समझने के लिये पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट से प्रकाशित 'धर्म के दशलक्षण' पुस्तक का 'आकिंचन्यधर्म' वाला निबन्ध अवश्य पढ़ें।

असि, मसि, कृषि, सेवा, शिल्प, वाणिज्य इन षट्कर्मों को भी मन-वचन-काय से तथा कृत, कारित, अनुमोदना से मुनिराज ने छोड़ दिया है। स्पर्श, रस आदि इन्द्रियों के विषयों की भोग-लालसा मुनिराज के जीवन में लेशमात्र भी नहीं है। शादी/विवाह, जन्म-मरण के प्रसंग पर दूसरे के घर जानेरूप लोकाचार छोड़कर मुनिराज अलौकिक हो गये हैं। इसतरह जिनका जीवन हो गया है, वे ही महामानव संपूर्ण कर्मों की निर्जरा करने के लिए पात्र/समर्थ हैं।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक १६ में आचार्य अमृतचन्द्र ने मुनियों के जीवन को **अलौकिकी वृत्ति** कहा है। इस श्लोक की पंडित प्रवर टोडरमलजी रचित टीका पढ़ने से अलौकिक वृत्ति का सही परिचय होता है, अतः उसे अवश्य पढ़ें।

विशुद्धभावधारी कर्मक्षय का अधिकारी –

शुभाशुभ-विशुद्धेषु भावेषु प्रथम-द्वयम्।
यो विहायान्तिमं धत्ते क्षीयते तस्य कल्मषम्।।२६१।।

अन्वय :– शुभ-अशुभ-विशुद्धेषु भावेषु प्रथम-द्वयं विहाय यः (साधकः) अन्तिमं (विशुद्ध-भावं) धत्ते तस्य कल्मषं क्षीयते।

सरलार्थ :– जीव के शुभ, अशुभ एवं विशुद्ध इसतरह तीन भाव हैं। इनमें से पहले शुभ-अशुभ-इन दो भावों को छोड़कर अर्थात् हेय मानते हुए/गौण करके अंतिम अर्थात् तीसरे विशुद्ध भावों को जो धारण करते हैं, वे साधक कषायों का नाश करते हैं।

भावार्थ :– जीव के तीन प्रकार के परिणाम हैं – १. शुभ, २. अशुभ और ३. विशुद्ध। इन तीनों को अशुद्ध और शुद्ध दो में भी विभाजित कर सकते हैं। अशुद्ध में शुभ और अशुभ दोनों गर्भित हैं। शुभ परिणाम से पुण्य कर्म का बंध होता है। अशुभ परिणाम से पाप कर्म का बंध होता है और शुभ-अशुभ से रहित शुद्ध/विशुद्ध परिणाम से कर्म का बंध तो होता ही नहीं, संवर एवं निर्जरा होते हैं। परिणाम और कर्म का ऐसा संबंध होने पर भी अज्ञानी को पुण्य परिणाम में धर्म का भ्रम होता है। शुभाशुभ परिणाम दुःखरूप तथा दुःख का कारण हैं। विशुद्ध/शुद्ध परिणाम सुखरूप

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तथा सुख का कारण है। अन्य शब्दों में शुभाशुभ परिणाम संसार एवं संसार के कारण हैं और विशुद्ध परिणाम संवर, निर्जरा एवं मोक्ष के कारण हैं।

शास्त्र में अनेक स्थान पर व्यवहारनय से शुभ परिणाम एवं पुण्य को धर्म भी कहा है, वहाँ विवक्षा समझ लेना आवश्यक है।

प्रश्न :– श्लोक में शुभ एवं अशुभ भावों को छोड़कर शुद्धभाव को धारण करने की बात कही है; उसका मर्म हमें समझ में नहीं आया; हमें क्या करना चाहिए?

उत्तम :– छोड़कर शब्द का प्रयोग किया है, लेकिन यहाँ दोनों – शुभाशुभ परिणामों को हेय मानना ऐसा अर्थ करना चाहिए; क्योंकि किसी भी साधक के जीवन में शुभाशुभ परिणामों का सर्वथा त्याग नहीं हो सकता। अपनी भूमिका के अनुसार कुछ शुभाशुभ परिणाम होते ही रहते हैं।

प्रश्न :– आप शब्द के अर्थ को बदलकर मर्म समझने की बात क्यों करते हो? जो शब्द आया है उसका सीधा अर्थ लगाकर ही सर्व समझना चाहिए, ऐसा क्यों नहीं कहते?

उत्तर :– शास्त्र के अर्थ समझने की पद्धति ही यह है कि प्रकरण वश जिसका जो अर्थ करने से मूल भाव स्पष्ट होता है, वही करना चाहिए, मात्र शब्द-म्लेच्छ बनकर शब्द के पीछे नहीं पड़ना चाहिए। लौकिक जीवन में भी हम शब्द के सीधे अर्थ को छोड़कर प्रकरणानुसार अर्थ करके अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं। जैसे – घी का घड़ा आदि।

शुद्ध आत्मतत्त्व को न जाननेवाले के सर्व तप व्यर्थ :–

बाह्यमाभ्यन्तरं द्वेधा प्रत्येकं कुर्वता तपः।
नैनो निर्जीर्यते शुद्धमात्मतत्त्वमजानता ।।२६२।।

अन्वय :– शुद्धं आत्मतत्त्वं अजानता बाह्यं आभ्यन्तरं द्वेधा प्रत्येकं तपः कुर्वता (अपि) एनः न निर्जीर्यते।

सरलार्थ :– जो जीव निज शुद्ध आत्मतत्त्व को न जानते हुए जिनेन्द्र कथित अनशनादि छहों बाह्य तप और प्रायश्चित्तादि छहों अंतरंग तप – इनमें से प्रत्येक तप का आचरण करता है, तो भी उस जीव के किसी भी कर्म की निर्जरा नहीं होती।

भावार्थ :– मोक्षशास्त्र में 'तपसा निर्जरा च' इस सूत्र के द्वारा यह प्रतिपादन किया गया है कि तप से निर्जरा तथा संवर दोनों होते हैं। यहाँ एक खास मौलिक बात और कही गयी है और वह यह कि जबतक योगी/तपस्वी शुद्ध आत्मतत्त्व को नहीं जानते/पहचानते, तबतक उसके बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार के तपों में से किसी भी प्रकार का तप करते हुए कर्मों की निर्जरा नहीं होती।

संवर अधिकार में जिस प्रकार संवराधिकारी के लिये आत्मतत्त्व को जानने और उसमें स्थित होने की बात कही गयी है; उसीप्रकार निर्जराधिकारी के लिये भी उसे समझना चाहिए। जो आत्मा को ही नहीं समझता उसका बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार का तप, जिसमें ध्यान भी शामिल है, एक प्रकार से निरर्थक होता है अर्थात् उससे न संवर होता है और न निर्जरा।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मतत्त्व में लवलीन संयमी को कर्म की निर्जरा –

कर्म निर्जीर्यते पूतं विदधानेन संयमम्।
आत्मतत्त्वनिविष्टेन जिनागमनिवेदितम् ।।२६३।।

अन्वय :– **जिनागम-निवेदितं पूतं संयमं विदधानेन आत्म-तत्त्व-निविष्टेन कर्म निर्जीर्यते।**

सरलार्थ :– जिनागम-कथित पवित्र संयम का आचरण करते हुए जो मुनिराज अनादि-अनंत, निज, शुद्ध आत्मतत्त्व में लवलीन रहते हैं, उनके ज्ञानावरणादि आठों कर्म निर्जरा को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ :– श्लोक में व्यवहार एवं निश्चय चारित्र का कथन किया है। संयम के आचरण की बात करते समय संयम को दो विशेषण दिये हैं, जो महत्त्वपूर्ण हैं। संयम को जिनागम कथित बताया, इसका अर्थ अन्यमत प्रतिपादित अथवा मनोकल्पना से स्वीकृत संयम का निषेध किया है। पूतं (पवित्र) विशेषण देकर संयम विषयक बहुमान स्पष्ट किया है।

व्यवहार चारित्र के कारण मुनिराज के जो शुभभाव होता है, उससे तो पुण्यबंध होता है, यह समझना चाहिए। इस पुण्यरूप आचरण के समय कषायों के अभावपूर्वक जो शुद्धपरिणति रहती है, उससे अथवा अप्रमत्तविरत गुणस्थान में प्रवेश होने से जो **आत्मा में लवलीनता** का शुद्धोपयोगरूप कार्य होता है, उससे आठों कर्म की निर्जरा होती है, इसतरह यथायोग्य समझना चाहिए।

कर्म-रज को धो डालनेवाले मुनिराज का स्वरूप –

अन्याचारपरावृत्तः स्वतत्त्वचरणादृतः।
संपूर्णसंयमो योगी विधुनोति रजः स्वयम् ।।२६४।।

अन्वय :– **अन्य-आचार-परावृत्तः स्व-तत्त्व-चरणादृतः सम्पूर्ण-संयमः योगी स्वयं (कर्म) रजः विधुनोति।**

सरलार्थ :– शुभाशुभरूप अन्य आचरण से सर्वथा विमुख, स्वतत्त्व अर्थात् निज भगवान आत्मा में आचरण करने में सावधान एवं उत्साही, परिपूर्ण संयमी योगिराज अन्य की सहायता के बिना स्वयं कर्मरूपी रज को विशेष रीति से धो डालते हैं।

भावार्थ :– इस श्लोक में क्षीणमोही गुणस्थानवर्ती मुनिराज के जीवन की ओर संकेत कर रहे हैं। शुभाशुभ परिणामों का यहाँ सर्वदृष्टि से सदा के लिये अभाव हो गया है, जिसे अन्य आचरण से परावृत्त शब्द से स्पष्ट किया है। **स्वतत्त्वचरणादृतः** शब्द से अब योगिराज को सर्वोत्तम शुद्धोपयोग में उत्साह है, अन्य किसी में नहीं, इस विषय को बता दिया है। **संपूर्ण संयम** – शब्द से क्षायिक यथाख्यात चारित्र का ज्ञान करा दिया है। **विधुनोति** शब्द का प्रयोग चारों घाति कर्मों के नाश में तत्परता को सूचित करता है। अब इस साधक को मात्र अरहंत पद की ही प्राप्ति होना बाकी रहा है।

लोकाचार अपनाने से संयम हीन होता है –

हित्वा लोकोत्तराचारं लोकाचारमुपैति यः।
संयमो हीयते तस्य निर्जरायां निबन्धनम्।।२६५।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्वय :– यः (योगी) लोकोत्तरं आचारं हित्वा लोकाचारं उपैति; तस्य निर्जरायां निबन्धनं संयमः हीयते।

सरलार्थ :– जो मुनिराज लोकोत्तर आचार अर्थात् अलौकिक वृत्ति को छोड़कर लोकाचार/लोकरंजक लौकिक आचरण को अपनाते हैं, उनका निर्जरा का कारणरूप संयम हीन हो जाता है।

भावार्थ :– मुनिराज की वृत्ति तो अलौकिक ही होती है, इसकी चर्चा इसी अध्याय के ८वें श्लोक एवं भावार्थ में आई है। भगवती आराधना, मूलाराधना, अनगारधर्मामृत आदि चरणानुयोग के ग्रंथों को भी आप देख सकते हैं। प्रवचनसार की चरणानुयोगचूलिका भी इस विषय को समझने के लिये अति उपयोगी है।

प्रवचनसार गाथा २५३ और उसकी टीका में रोगी गुरु, बाल तथा वृद्ध श्रमणों की सेवा के निमित्त से शुभोपयोगयुक्त लौकिक जनों के साथ की बातचीत निन्दित नहीं है – ऐसा कहा है। मुनिराज के जीवन का यथार्थ ज्ञान करने के लिये अष्टपाहुड ग्रंथ का अध्ययन भी उपकारक है।

अरहंत-वचनों के श्रद्धान का महत्त्व –

चारित्रं विदधानोऽपि पवित्रं यदि तत्त्वतः।
श्रद्धत्ते नार्हतं वाक्यं न शुद्धिं श्रयते तदा।।२६६।।

अन्वय :– पवित्रं चारित्रं विदधानः अपि (योगी) यदि अर्हतं वाक्यं तत्त्वतः न श्रद्धत्ते तदा शुद्धिं न श्रयते।

सरलार्थ :– जिनागम में प्रतिपादित पवित्र चारित्र का कठोरता से पूर्ण पालन करते हुए भी यदि मुनिराज अरहंत के वचनों का यथार्थ श्रद्धान नहीं करते तो वे शुद्धि को प्राप्त नहीं होते।

भावार्थ :– श्रावक हो अथवा मुनिराज उन्हें जिनवचन का श्रद्धानी होना अत्यंत आवश्यक है। देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा न हो तो व्यवहार जैनपना भी संभव नहीं है। जहाँ व्यवहार जैनपना नहीं है, वहाँ निश्चय/वास्तविक जैनपना की कल्पना करना भी व्यर्थ है। श्रद्धान, धर्म का मूल है; इसलिए आचार्य कुंदकुंद ने अष्टपाहुड के दर्शनपाहुड गाथा २ में **दंसणमूलो धम्मो** कहा है। जिसे जिनवचन का श्रद्धान नहीं है, उसे शास्त्र का श्रद्धान नहीं है, ऐसा समझना चाहिए। देव-शास्त्र-गुरु – इन तीनों में से किसी एक का श्रद्धान न हो तो उसे अन्य दो का भी यथार्थ श्रद्धान नहीं होता।

जिनागम के ज्ञान का महत्त्व –

विचित्रे चरणाचारे वर्तमानोऽपि संयतः।
जिनागममजानानः सदृशो गतचक्षुषः।।२६७।।

अन्वय :– विचित्रे चरणाचारे वर्तमानः अपि जिनागमं अजानानः संयतः गतचक्षुषः सदृशः (भवति)।

सरलार्थ :– अनेक प्रकार के आचरण में प्रवर्तमान होते हुए भी जो संयमी जिनागम को नहीं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जानता, वह चक्षुहीन के समान हैं अर्थात् उसका सर्व आचरण अन्धानुकरण/अन्धाचरण है अर्थात् व्यर्थ है।

भावार्थ :– प्रवचनसार गाथा २३२ से २३७ पर्यंत सात गाथाओं में मुनिराज को आगमज्ञान की विशेष अनिवार्यता बताई गयी है। उन सब गाथाओं का मर्म एक श्लोक में देने का प्रयास यहाँ किया है। इस श्लोक का पूर्ण अभिप्राय जानना हो तो प्रवचनसार की उक्त सब गाथाओं, उनकी टीका और भावार्थ का भी सूक्ष्मता से अध्ययन करना चाहिए। विस्तारभय से हमने यहाँ नहीं लिखा।

भिन्न-भिन्न चक्षुधारक जीव –

साधूनामागमश्चक्षुर्भूतानां चक्षुरिन्द्रियम्।
देवानामवधिश्चक्षुर्निर्वृताः सर्व-चक्षुषः ।।२६८।।

अन्वय :– साधूनां चक्षुः आगमः, भूतानां चक्षुः इन्द्रियं, देवानां चक्षुः अवधिः (भवति)। च निर्वृताः सर्व-चक्षुषः (भवन्ति)।

सरलार्थ :– साधु अर्थात् मुनिराज आगमरूप चक्षुवाले हैं, सर्वजीव (संसारी) इंद्रिय चक्षुवाले हैं, देव अवधिचक्षुवाले हैं और सिद्ध भगवान सर्वतः चक्षु अर्थात् सर्व ओर से चक्षुवाले/सर्वात्मप्रदेशों से चक्षुवाले (सर्वज्ञ) हैं।

भावार्थ :– आचार्य कुंदकुंद के प्रवचनसार गाथा २३४ का यह श्लोक मानों संस्कृत में पद्यानुवादरूप सफल प्रयास ही है। प्रवचनसार की मूलगाथा निम्नानुसार है –

आगमचक्खू साहू, इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा य ओहिचक्खू, सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू।।

साधु को आगमज्ञाता होना और जिनागम के अनुसार आचरण करना, ये दोनों ही अति आवश्यक हैं।

आगम-प्रदर्शित अनुष्ठान का कार्य –

प्रदर्शितमनुष्ठानमागमेन तपस्विनः।
निर्जराकारणं सर्वं ज्ञात-तत्त्वस्य जायते।।२६९।।

अन्वय :– आगमेन प्रदर्शितं सर्वं अनुष्ठानं ज्ञात-तत्त्वस्य तपस्विनः निर्जरा-कारणं जायते।

सरलार्थ :– जिनागम के द्वारा प्रदर्शित अनुष्ठान अर्थात् आचरण-पद्धति तत्त्वज्ञ मुनिराजों के ज्ञानावरणादि कर्मों के निर्जरा का कारण होती है।

भावार्थ :– मुनिराज मोक्ष-प्राप्ति के लिये ही अंतरंग-बहिरंग परिग्रह छोड़कर आत्मध्यान में रत होने का प्रयास करते हैं। उनका यह वर्तमानकालीन जीवन मोक्षमार्गरूप होता है। मोक्षमार्ग में कर्मों की निर्जरा होना आवश्यक है। कर्मों की निर्जरा का प्रयोजन सिद्ध हो जाय, ऐसा आचरण जिनवाणी में बताया है। इसलिए इस श्लोक में स्पष्ट किया गया है कि जिनागम द्वारा प्रदर्शित अनुष्ठान अर्थात्

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आचरण पद्धति कर्मों की निर्जरा का कारण होती है। यदि शास्त्र में कथित आचरण से कर्मों की निर्जरा नहीं होगी तो मुनिराज का जीवन मोक्षमार्गमय नहीं होगा। अतः शास्त्र में कथित आचरण निर्जरा का कारण बताया है। यह कार्य, तत्त्व को जाननेवाले मुनिराज के जीवन में ही होता है, यह विषय भी श्लोक में स्पष्ट किया है।

अज्ञानी तथा ज्ञानी के विषय-सेवन का फल –

अज्ञानी बध्यते यत्र सेव्यमानेऽक्षगोचरे।
तत्रैव मुच्यते ज्ञानी पश्यताश्चर्यमीदृशम्।।२७०।।

अन्वय :– अक्षगोचरे सेव्यमाने यत्र अज्ञानी बध्यते तत्र एव ज्ञानी (बन्धतः) मुच्यते ईदृशं आश्चर्यं पश्यत।

सरलार्थ :– स्पर्शादि इंद्रिय-विषयों के सेवन करने पर जहाँ अज्ञानी/मिथ्यादृष्टि कर्म-बन्ध को प्राप्त होते हैं, वहाँ ज्ञानी/सम्यग्दृष्टि उसी स्पर्शादि इंद्रिय-विषय के सेवन से कर्म-बन्धन से छूटते हैं अर्थात् कर्मों की निर्जरा करते हैं, इस आश्चर्य को देखो।

भावार्थ :– ज्ञानी/सम्यग्दृष्टि विषय-सेवन करने पर भी कर्मों से नहीं बंधते, इसमें ज्ञान और वैराग्य का माहात्म्य है, ऐसा समयसार कलश १३४, १३५, १३६ में स्पष्ट किया है। समयसार गाथा १९३ से २०० पर्यंत आठ गाथाएँ उनकी टीका, कलश और भावार्थ में यह विषय पुनः पुनः आया है। इस समग्र प्रकरण को जरूर देखें।

यहाँ इतना और समझना आवश्यक है कि भोग भोगते समय चारित्रमोह परिणाम से जितना कर्म-बंध गोम्मटसारादि आगम ग्रंथों में बताया है, वह तो होता ही है; तथापि मिथ्यात्व के अभाव के कारण जो प्रगट वीतरागता है, उससे जितने कर्मों का संवर हो चुका है, उन कर्मों का बंध नहीं होता, उसे ही यहाँ बंध नहीं होता, ऐसा समझना। अध्यात्म शास्त्र में मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी के बंध को या इनके साथ-साथ होनेवाले कर्म-बन्ध को ही बंध में गिना जाता है; इस दृष्टि को पाठक यहाँ ख्याल में रखेंगे तो यथार्थ अर्थ समझ में आयेगा; अन्यथा अज्ञानी स्वच्छन्द भी हो सकता है।

इसलिए समयसार ग्रंथ में अनेक स्थान पर स्वच्छंद न होने संबंधी प्रेरणा भी दी है। अतः इस सन्दर्भ में समयसार कलश १३७ को भावार्थसहित देखना लाभप्रद होगा।

निर्विकल्प अर्थात् वीतरागता से निर्जरा –

शुभाशुभ-विकल्पेन कर्मायाति शुभाशुभम्।
भुज्यमानेऽखिले द्रव्ये निर्विकल्पस्य निर्जरा।।२७१।।

अन्वय :– शुभ-अशुभ-विकल्पेन शुभ-अशुभं कर्म आयाति। अखिले द्रव्ये भुज्यमाने (अपि) निर्विकल्पस्य निर्जरा (जायते)।

सरलार्थ :– अज्ञानी/मिथ्यादृष्टि को शुभाशुभ विकल्प अर्थात् राग-द्वेष के कारण पुण्य-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पापरूप कर्म का आस्रव-बंध होता है। सम्पूर्ण द्रव्य समूह अर्थात् स्पर्शादि सर्व विषयों को भोगते हुए भी जो निर्विकल्प अर्थात् कथंचित् वीतरागी है, उसको कर्म की निर्जरा होती है।

भावार्थ :– पिछले श्लोक में कथित विषय को ही इस श्लोक में अधिक स्पष्ट किया है। विकल्प शब्द का अर्थ मिथ्यात्व सहित राग-द्वेषरूप परिणाम करना चाहिए; क्योंकि इसके बिना पुण्य-पाप के आस्रव-बंध की बात घटित नहीं होती।

निर्विकल्प शब्द का अर्थ कथंचित् वीतरागी अर्थात् सम्यग्दृष्टि श्रावक लेना आवश्यक है; क्योंकि इस अर्थ के बिना संपूर्ण द्रव्य को भोगनेवाला, यह अर्थ घटित नहीं हो सकता। मुनिराज द्रव्यों को भोगनेवाले नहीं है; मुनिराज तो भोगों के त्यागी होते हैं।

मुख्यरूप से श्रावकरूप साधक के जीवन में चारित्र गुण की पर्याय मिश्ररूप से चलती है। एक ही पर्याय में दो कषाय चौकड़ी का अभाव हुआ, उसके कारण निरंतर वीतरागता व्यक्त है और जितनी मात्रा में कषायों का उदय है उतनी मात्रा में राग-द्वेष होते हैं। अतः एक ही समय आस्रव-बंध और संवर-निर्जरा चारों तत्त्व व्यक्त रहते हैं। यहाँ साधक के कथंचित् वीतरागता की मुख्यता को लेकर उसे निर्जरा होती है, ऐसा कथन किया है। उसको भूमिका के अनुसार होनेवाले आस्रव-बंध को यहाँ गौण किया है।

अगले श्लोक में योगी की निर्जरा कही गयी हैं, इसकारण भी इस श्लोक में श्रावक की निर्जरा बतलाई गई हैं, यह विषय स्पष्ट हो जाता है।

अपरिग्रही योगीराज की निर्जरा –

अहमस्मि न कस्यापि न ममान्यो बहिस्ततः।
इति निष्किंचनो योगी धुनीते निखिलं रजः ॥२७२॥

अन्वय :– अहं न कस्य अपि अस्मि, न अन्यः बहिः मम (अस्ति), इति ततः (परद्रव्यतः) निष्किंचनः योगी निखिलं रजः धुनीते।

सरलार्थ :– मैं किसी भी पुत्र-कलत्रादि का नहीं हूँ और न अन्य पुत्रादि अथवा धनादि बाह्य पदार्थ मेरे हैं; इसप्रकार किसी भी रूप से पर को न अपनाते हुए अपरिग्रही/निःसंग योगिराज सारे कर्मरूपी रज को नष्ट कर देते हैं।

भावार्थ :– हम न किसी के कोई न हमारा – यह निर्णय तो सम्यग्दृष्टि को भी पक्का ही होता है; तथापि जीवन में भूमिका के अनुसार और कमजोरी के कारण पर-द्रव्य संबंधी मोह देखने में आता है। योगिराज विशेष पुरुषार्थी होते हैं; इसलिए अन्य किसी भी चेतन-अचेतन पदार्थों में उन्हें आसक्ति तो होती ही नहीं, अन्य पदार्थ उनके संयोग में भी नहीं रहते। इसकारण योगिराज यदि उग्र पुरुषार्थ से श्रेणी पर आरूढ़ हो जाते हैं तो वे उसी भव में अरहन्त-सिद्ध हो सकते हैं। मोक्ष-अवस्था की प्राप्ति की संभावना इस श्लोक में बतायी है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शुद्ध आत्मा को छोड़नेवालों की स्थिति –

मुक्त्वा विविक्तमात्मानं मुक्त्यै येऽन्यमुपासते।
ते भजन्ति हिमं मूढा विमुच्याग्निं हिमच्छिदे।।२७३।।

अन्वय :– विविक्तं आत्मानं मुक्त्वा मुक्त्यै ये अन्यं उपासते ते मूढा: हिमच्छिदे अग्निं विमुच्य हिमं (एव) भजन्ति।

सरलार्थ :– विविक्त अर्थात् (द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म से रहित) त्रिकाली, निज शुद्ध, सुख-स्वरूप भगवान आत्मा को छोड़कर जो अन्य (कल्पित रागी-द्वेषी देवी-देवताओं को अथवा अरहंत-सिद्ध आदि इष्ट देवों) की भी मुक्ति के लिये उपासना/ध्यान करते हैं, वे मूढ़ कष्टदायक अति ठंड का नाश करने के लिये अग्नि को छोड़कर शीतलस्वभावी बर्फ का ही सेवन करते हैं, जो नियम से अनिष्ट फल-दाता है।

भावार्थ :– अनंत सर्वज्ञ भगवान की दिव्यध्वनि के उपदेशानुसार मुक्ति-प्राप्ति के लिये अपनी आत्मा को छोड़कर अन्य किसी की भी उपासना, भक्ति अथवा ध्यान उपयोगी तो है नहीं, परन्तु नियम से बाधक हैं; इस निश्चयनय के विषय को मुख्य करके यहाँ ग्रंथकार ने मुक्ति का सीधा उपाय आत्म-उपासना को ही बताया है।

समाधिशतक श्लोक ३१ में आचार्य पूज्यपाद ने भी इसी अभिप्राय को निम्न प्रकार बताया है:–

यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः।।

श्लोकार्थ :– तथा जो स्वानुभवगम्य मैं हूँ वही – परमात्मा है। इसलिए जबकि परमात्मा और आत्मा में अभेद हैं, मैं ही मेरे द्वारा उपासना किये जाने के योग्य हूँ, दूसरा कोई मेरा उपास्य नहीं; ऐसी वस्तुस्थिति है।

अरहंतदेवादि की निरीहवृत्ति से उपासना/ध्यान अथवा भक्ति पुण्य-प्रदाता तो है; लेकिन मुक्ति-प्रदाता नहीं है।

जो अन्यत्र देव को ढूँढता है, उसकी स्थिति –

योऽन्यत्र वीक्षते देवं देहस्थे परमात्मनि।
सोऽन्ने सिद्धे गृहे शङ्के भिक्षां भ्रमति मूढधीः।।२७४।।

अन्वय :– परमात्मनि देहस्थे (सति) यः देवं अन्यत्र वीक्षते सः मूढ़धीः गृहे अन्ने सिद्धे शङ्के (सति) भिक्षां भ्रमति।

सरलार्थ :– वास्तविक देखा जाय तो अपने ही देहरूपी देवालय में परमात्मदेव विराजमान होने पर भी जो अज्ञानी परमात्मदेव को अन्यत्र मंदिर, तीर्थक्षेत्र आदि स्थान में ढूँढता है, मैं अमितगति आचार्य समझता हूँ कि वह मूढ़बुद्धि अपने ही घर में पौष्टिक और रुचिकर भोजन तैयार होने पर भी दीन-हीन बनकर भिक्षा के लिये अन्य के घरों में भ्रमण करता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– पिछले श्लोक का ही मर्म उदाहरण देकर इस श्लोक में ग्रंथकार ने स्पष्ट किया है। ऐसा ही भाव योगीन्दुदेव ने योगसार गाथा ४३ में बताया है, उसका हिन्दी पद्यानुवाद इसप्रकार है –

जिनदेव तनमन्दिर रहे जन मन्दिरों में खोजते।
हँसी आती है कि मानो सिद्ध भोजन खोजते॥

मोह से जीव, कर्मों से बँधता है –

कषायोदयतो जीवो बध्यते कर्मरज्जुभिः।
शान्त-क्षीणकषायस्य त्रुट्यन्ति रभसेन ताः ॥२७५॥

अन्वय :– कषाय-उदयतः (मूढ़ः) जीवः कर्म-रज्जुभिः बध्यते। शान्त-क्षीण-कषायस्य (जीवस्य) ताः (कर्म-रज्जवः) रभसेन त्रुट्यन्ति।

सरलार्थ :– (मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और) कषाय के उदय से अर्थात् मोह-राग-द्वेषरूप परिणामों से यह अज्ञानी जीव आठ कर्मरज्जुरूप बंधनों से बंधता है और जिनके कषायादि विभाव शांत अथवा क्षीण हो जाते हैं, उनके वे कर्म रज्जुबंधन शीघ्र टूट जाते हैं।

भावार्थ :– इस श्लोक में ग्रंथकार कषायों के शांत व क्षीण – इन दो शब्दों से उपशांतमोह और क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती मुनिराजों को नया साम्परायिक आस्रव-बंध नहीं होता, यह विषय स्पष्ट कर रहे हैं।

प्रश्न :– उपशांतमोही मुनिराज ग्यारहवें गुणस्थान से नियम से नीचे गिरते हैं और कोई कदाचित् संसार में पुनः कुछ मर्यादित काल पर्यन्त अटक सकते हैं, ऐसा शास्त्र में हमने पढ़ा है। आप उपशांत मोही के भी कर्म-बंधन टूटते हैं, ऐसा बता रहे हैं, हम क्या समझें?

उत्तर :– मुनिराज जबतक उस उपशांतमोह गुणस्थान में रहते हैं, तबतक नया बंध नहीं होता – ऐसा ग्रन्थकार यहाँ बता रहे हैं; अतः उनकी विवक्षा को समझने से विरोध नहीं लगेगा।

अप्रमादी पापों से छूटते हैं –

सर्वत्र प्राप्यते पापैः प्रमाद निलयीकृतः।
प्रमाददोषनिर्मुक्तः सर्वत्रापि हि मुच्यते ॥२७६॥

अन्वय :– प्रमाद-निलयीकृतः सर्वत्र पापैः प्राप्यते। हि प्रमाद-दोष-निर्मुक्तः सर्वत्र अपि (पापैः) मुच्यते।

सरलार्थ :– जिन्होंने प्रमाद का आश्रय लिया है अर्थात् जो सदा प्रमाद से घिरे/प्रमादी बने रहते हैं; वे सर्वत्र पापकर्मों से गृहीत होते हैं अथवा पापों से बंधते रहते हैं। जो प्रमाद के दोष से रहित अप्रमादी हो जाते हैं, वे सदा एवं सर्वत्र पापों से मुक्त होते रहते हैं।

भावार्थ :– प्रमाद से रहित अप्रमत्त संयत मुनिराज नये पापकर्म के बंधन से रहित होकर विशेष निर्जरा करते हैं, यहाँ यह सूचित करना है। प्रथम गुणस्थान से प्रमत्तविरत गुणस्थान पर्यंत के सर्व जीव प्रमादी हैं; इनको अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार भिन्न-भिन्न पापकर्म का बंध होता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अप्रमत्तविरत गुणस्थान से लेकर उपरिम सर्व गुणस्थानवर्ती सभी जीव अप्रमादी ही हैं, उन्हें प्रमादजन्य पाप का आस्रव-बंध तो होता ही नहीं है और निर्जरा भी अधिक मात्रा में होती है। तदनुसार उन्हें धर्म एवं सुख की प्राप्ति भी विशेष होती है। अप्रमादी मुनिराज यदि क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो जाते हैं तो अल्पकाल में ही वे नियम से अरहंत परमात्मा बन जाते हैं।

स्वतीर्थ-परतीर्थ का स्वरूप –

स्वतीर्थममलं हित्वा शुद्धयेऽन्यद् भजन्ति ये।
ते मन्ये मलिनाः स्नान्ति सरः संत्यज्य पल्वले ।।२७७।।

अन्वय :– ये अमलं स्व (आत्म) तीर्थं हित्वा शुद्धये अन्यत् (तीर्थं) भजन्ति (अहं) मन्ये ते मलिनाः सरः संत्यज्य पल्वले स्नान्ति।

सरलार्थ :– जो अज्ञानी जीव अपने स्वाभाविक तथा अति निर्मल आत्मरूपी तीर्थ को छोड़कर आत्म-शुद्धि अर्थात् परिणामों की निर्मलता के लिये अन्य अतिशयक्षेत्र अथवा सिद्धक्षेत्र रूप तीर्थ को भजते/स्वीकारते हैं; मैं (अमितगति आचार्य) समझता हूँ कि वे मूर्ख जीव निर्मल जलवाले सरोवर को छोड़कर मलिन जलवाले छोटे गड्ढे में स्नान करते हैं।

भावार्थ :– यहाँ आचार्य निश्चयनय की मुख्यता से स्वतीर्थ को ही मुख्य कर रहे हैं। यह जानकर कोई व्यवहार में चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थान में विद्यमान राग के निमित्त से होनेवाली शुभक्रिया तथा शुभपरिणाम का निषेध नहीं समझें। रागजन्य क्रिया और राग परिणामों का तो श्रद्धा में सम्यग्दृष्टि को सदा निषेध ही रहता है और रहना भी चाहिए। यहाँ श्रद्धा में विद्यमान परिणामों को शब्दों में बाँध दिया है। अतः इसे पढ़कर शुभक्रिया और शुभपरिणामों के अस्तित्व का निषेध न समझें। श्रद्धा का अपना कार्य अलग रहता है और उसी काल में साधक के चारित्र में एक ही समय में राग एवं वीतराग परिणाम परस्पर विरोध के बिना विद्यमान रहते हैं; इस विषय को सूक्ष्मता से समझ लेना आवश्यक है।

समयसार कलश ११० का अर्थ और भावार्थ पाठक जरूर पढ़ें एवं मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २२८ पर लिखित शंका समाधान भी देखें। पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट से प्रकाशित जिनधर्म-प्रवेशिका के अगुरुलघुत्व गुण के विवेचन में भी इस विषय का विशेष स्पष्टीकरण आपको मिलेगा।

परीषहजय का लाभ –

स्वात्मानमिच्छुभिर्ज्ञातुं सहनीयाः परीषहाः।
नश्यत्यसहमानस्य स्वात्म-ज्ञानं परीषहात् ।।२७८।।

अन्वय :– स्व-आत्मानं ज्ञातुं इच्छुभिः परीषहाः सहनीयाः। (परीषहान्) असहमानस्य स्व-आत्म-ज्ञानं परीषहात् नश्यति।

सरलार्थ :– अपने आत्मा को जानने के इच्छुक साधुओं को समागत परीषहों को सहन करना

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

चाहिए; क्योंकि यदि सहज उपस्थित परीषहों को मुनिराज सहन नहीं करते हैं, तो उनका प्राप्त किया हुआ आत्म-ज्ञान परीषहों के उपस्थित होनेपर स्थिर नहीं रहता अर्थात् नाश को प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ :– तत्त्वार्थ सूत्र के नौवें अध्याय के आठवें सूत्र में कहा है कि **मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः** अर्थात् संवर के मार्ग से च्युत न होने और कर्मों की निर्जरा के लिये परीषह सहन करना चाहिए। परीषहों को सहन करना चाहिए; यह चरणानुयोग के अनुसार उपदेश की भाषा में कही गयी बात है। परीषहों को सहन करना, यह तो मुनिराजों के स्वरूप में ही गर्भित है। आत्मा को जानने के इच्छुक यह विशेषण भी भूतनैगमनय की दृष्टि से कहा है ऐसा समझें; क्योंकि मुनिराज तो आत्मा को जानते ही हैं अथवा आत्मज्ञान के साथ २८ मूलगुणों को पालनेवालों को ही साधु अथवा मुनिराज कहते हैं।

क्षुधा, पिपांसा, शीत, उष्ण, डाँस-मच्छर, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन – ये २२ परीषह हैं। इनका स्वरूप तत्त्वार्थसूत्र शास्त्र की टीका सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रंथों में है, जिज्ञासु वहाँ से जानें।

प्रश्न :– परीषह और परीषहजय किसे कहते हैं?

उत्तर :– मुनिराज के जीवन में सहज प्राप्त दुःख या कष्ट को/प्रतिकूलता को परीषह कहते हैं। यदि दुःख के कारण मिलने पर भी दुःखी न हो तथा सुख के कारण मिलने पर भी सुखी न हो; किन्तु ज्ञेयरूप से उनका जाननेवाला ही रहे, तभी वह परीषहजय हैं।

आचार्य पूज्यपाद ने भी समाधिशतक श्लोक १०२ में लिखा है कि –

"अदुःखभावितं ज्ञानं, क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः॥

श्लोकार्थ :- जो भेदविज्ञान दुःखों की भावना से रहित है - उपार्जन के लिये कुछ कष्ट उठाये बिना हि सहज सुकुमार उपायों द्वारा बन जाता है-वह परीषह-उपसर्गादिक दुःखों के उपस्थित होने पर नष्ट हो जाता है। इसलिए अन्तरात्मा योगी को अपनी शक्ति के अनुसार दुःखों के साथ आत्मा की शरीरादि से भिन्न भावना करनी चाहिए।"

प्राप्त सुख-दुःख में समताभाव से निर्जरा –

अनुबन्धः सुखे दुःखे न कार्यो निर्जरार्थिभिः।
आर्तं तदनुबन्धेन जायते भूरिकर्मदम्॥२७९॥

अन्वय :– **निर्जरार्थिभिः सुखे-दुःखे अनुबन्धः न कार्यः तदनुबन्धेन भूरिकर्मदं आर्तं (ध्यानं) जायते।**

सरलार्थ :– निर्जरातत्त्व के इच्छुक साधकों को सहजरूप से प्राप्त सुख-दुःख में अनुबन्ध

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थात् अनुवर्तनरूप प्रवृत्ति नहीं रखना चाहिए; क्योंकि उस आसक्ति से ही आर्तध्यान होता है, जो अनेक कर्मों के बंध का दाता है।

भावार्थ :– जो कर्मों की निर्जरा के इच्छुक हैं, उन्हें आचार्य महोदय ने यहाँ एक बड़ा ही सुन्दर एवं हितकारी उपदेश दिया है और वह यह है कि उन्हें परीषहों के उपस्थित होने पर जो दुःख होते हैं और परीषहों के अभाव में जो सुख प्राप्त होता है उन सुख-दुःख दोनों के साथ अपने को बाँधना नहीं चाहिए अर्थात् सुखी-दुःखी नहीं होना चाहिए, क्योंकि सुखी-दुःखी होने से आर्त-रौद्रध्यान होता है, जो बहुत अधिक कर्मबन्ध का कारण होता है और उससे निर्जरा का लक्ष्य नष्ट हो जाता है। पिछले श्लोक (६) में कहा भी है कि यदि सरोवर में नये जल का प्रवेश हो रहा है तो सरोवर की रिक्तता कैसी? अतः नये कर्मबन्ध को प्राप्त न हों और पुराने कर्मों का विच्छेद हो जाये तभी निर्जरा की सार्थकता है। इसके लिये उदय को प्राप्त हुए कर्मों में राग-द्वेष न करके समता भाव रखने की बहुत जरूरत है।

यह समताभाव ही वीतरागता है; जो धर्म है। मुनिजीवन में यह वीतराग-भाव मिथ्यात्व एवं तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक प्रगट होता है, इससे संवर-निर्जरा होते हैं। अविरत सम्यक्त्व और देशविरत गुणस्थान में क्रमशः एक और दो कषाय चौकडी के अभाव से वीतरागता रहती ही है और उससे इन दोनों गुणस्थानों में यथायोग्य संवर-निर्जरा होती है।

श्रावक भी अपनी भूमिका के अनुसार सुख-दुःख में समताभाव रखता है।

आत्मज्ञान से ही आत्मा शुद्ध होता है –

आत्मावबोधतो नूनमात्मा शुद्ध्यति नान्यतः।
अन्यतः शुद्धिमिच्छन्तो विपरीतदृशोऽखिलाः ॥२८०॥

अन्वय :– **नूनं आत्मा आत्म-अवबोधतः शुद्ध्यति, अन्यतः न। अन्यतः शुद्धिं इच्छन्तः अखिलाः विपरीतदृशः (सन्ति)।**

सरलार्थ :– वास्तविक देखा जाय तो संसार-स्थित अशुद्ध आत्मा निज शुद्धात्मा को प्रत्यक्ष करने से ही/आत्मज्ञान/आत्मानुभव से ही पर्याय में शुद्ध/पवित्र/वीतरागमय हो जाता है; अन्य किसी साधन से नहीं। जो अज्ञानी जीव अन्य साधनों से अर्थात् व्रत, उपवास, पुण्य, पूजा, परोपकार, दान, तप, भक्ति, नाम-स्मरण आदि से आत्मा की शुद्धि चाहते हैं, वे सब जीव मिथ्यादृष्टि हैं।

भावार्थ :– इस श्लोक में ग्रंथकार ने निश्चय/उपादान कारण का कथन करते समय व्यवहारनय से कथित साधनों को गौण करते हुए उनका निषेध किया है। व्रत, उपवास, दान आदि पुण्यपरिणाम और पुण्यक्रियाओं का साधक के जीवन में अस्तित्व ही न मानें, उनको निमित्त भी न मानें तो अनुचित हैं। जो कारण/साधन, कार्य में मात्र निमित्त ही होते हैं, उनको वैसा ही मानना चाहिए। निमित्त कारणों को उपादान कारण अथवा उत्पादक कारण मानना वस्तु-व्यवस्था के विरुद्ध है। अतः यहाँ निमित्तों को निमित्त मानने का निषेध नहीं है; ऐसा यथार्थ जानना/मानना चाहिए।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निमित्त-उपादान के यथार्थ ज्ञान के लिये पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट से प्रकाशित - **निमित्तोपादान** एवं **मूल में भूल** नामक पुस्तकें अवश्य पढ़ें।

सर्व परद्रव्यों से आत्मा का संबंध नहीं –

स्पृश्यते शोध्यते नात्मा मलिनेनामलेन वा।
पर-द्रव्य-बहिर्भूतः परद्रव्येण सर्वथा ॥२८१॥

अन्वय :– मलिनेन वा अमलेन परद्रव्येण आत्मा न स्पृश्यते (न) शोध्यते। (यतः आत्मा) सर्वथा पर-द्रव्य-बहिर्भूतः (अस्ति)।

सरलार्थ :– समल अथवा निर्मल कोई भी परद्रव्य आत्मा को स्पर्श नहीं कर सकता और आत्मा को शुद्ध भी नहीं कर सकता; क्योंकि आत्मा परद्रव्यों से सर्वथा बहिर्भूत अर्थात् भिन्न है।

भावार्थ :– पिछले श्लोक में आत्मा, आत्मज्ञान से ही शुद्ध होता है, यह विषय बताया है। इस श्लोक में भी उसी विषय को और अधिक स्पष्ट किया है।

किसी भी परद्रव्य का आत्मा के साथ तादात्म्य संबंध ही नहीं है इसलिए परद्रव्य चाहे समल हो अथवा निर्मल जब वह आत्मा को स्पर्श ही नहीं कर सकता तब वह आत्मा को शुद्ध कैसे कर सकता है? अर्थात् शुद्ध कर ही नहीं सकता।

आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार गाथा ३ की टीका में इसे विशेष स्पष्ट किया है, उसे अवश्य देखें और समयसार कलश २०० में भी निम्न शब्दों में यही भाव बतलाया गया है।

नास्ति सर्वोऽपि संबंधः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः।
कर्तृकर्मत्वसंबंधाभावे तत्कर्तृता कुतः॥

श्लोकार्थ :– परद्रव्य और आत्मतत्त्व का कोई भी संबंध नहीं है; इसप्रकार कर्तृ-कर्मत्व के संबंध का अभाव होने से आत्मा के परद्रव्य का कर्तृत्व कहाँ से हो सकता है?

निजात्मस्वरूप की भावना भानी चाहिए –

स्वरूपमात्मनो भाव्यं परद्रव्य-जिहासया।
न जहाति परद्रव्यमात्मरूपाभिभावकः॥२८२॥

अन्वय :– परद्रव्य-जिहासया आत्मनः स्वरूपं भाव्यं।(यः) परद्रव्यं न जहाति (सः) आत्मरूप-अभिभावकः (अस्ति)।

सरलार्थ :– अपने संयोग में प्राप्त परद्रव्य के त्याग की भावना से निज आत्म-स्वरूप की भावना भानी चाहिए। जो परद्रव्यों को नहीं छोड़ते अर्थात् उनके संबंध में अपना रागभाव नहीं छोड़ते, वे अपने शुद्धात्मस्वरूप का **अनादर** करते हैं।

भावार्थ :– परद्रव्य के त्याग की भावना से आत्मस्वरूप की भावना भाने की प्रेरणा ग्रंथकार इस श्लोक में दे रहे हैं।

प्रश्न :– परद्रव्य के साथ आत्मा का कुछ संबंध ही नहीं यह विषय पिछले श्लोक में ही बताया

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

और अब परद्रव्य की त्याग की बात कैसे और क्यों बता रहे हैं? जहाँ परद्रव्य के साथ आत्मा का कुछ संबंध ही नहीं तो हम उसका त्याग भी कैसे करें?

उत्तर :– आपका कहना सही है। परद्रव्य के साथ आत्मा का कुछ संबंध न होने से आत्मा उसका त्याग भी नहीं कर सकता। अज्ञानी मोहवश परद्रव्य को अपना मानता है, उस मिथ्या मान्यता का त्याग करना ही परद्रव्य का त्याग है। परद्रव्य मेरा कुछ नहीं लगता, ऐसा यथार्थ वस्तु-स्वरूप को जानना ही त्याग है। **णाणं पच्चक्खाणं/ज्ञान ही प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग है**, ऐसा कथन समयसार गाथा ३४ और उसकी टीका एवं भावार्थ में भी आया है।

परद्रव्य को अपना मानने में अपने आत्मा का अनादर स्वयं ही हो जाता है।

परद्रव्य को जानने का लाभ –

विज्ञातव्यं परद्रव्यमात्मद्रव्य-जिघृक्षया।
अविज्ञातपरद्रव्यो नात्मद्रव्यं जिघृक्षति॥२८३॥

अन्वय :– आत्मद्रव्य-जिघृक्षया (गृहीतुमिच्छया) परद्रव्यं विज्ञातव्यं। अविज्ञात परद्रव्यः आत्मद्रव्यं न जिघृक्षति।

सरलार्थ :– आत्मद्रव्य को ग्रहण करने की इच्छा से परद्रव्य को जानना चाहिए। जो परद्रव्य के ज्ञान से रहित है वह आत्मद्रव्य के ग्रहण की इच्छा नहीं करता।

भावार्थ :– जैसे जगत में मनुष्य अपने मकान को यह अपना घर है, मैं इसका मालिक हूँ, मुझे इसमें रहने और प्रवेश करने के लिये कोई रोक नहीं सकता – ऐसा जानता है। वैसे आत्मद्रव्य को ग्रहण करने की इच्छा से अर्थात् अपने त्रिकाली शुद्ध आत्मा में रमण करके आनंदित होने के लिये ज्ञानी अपने आत्मा को जानता है। जैसे पड़ौसी के अथवा अपने मोहल्ले और गली में स्थित दूसरे के घर को भी अपने घर का ज्ञान करने के लिये ही जानता है वैसे ही जीवादि अनंतानंत परद्रव्यों को भी अपने निज भगवान आत्मा को जानने के लिये जानता है। आत्मा का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, यह विषय भी इस श्लोक में आया है।

जगत के स्वभाव की भावना का प्रयोजन –

स्व-तत्त्वरक्तये नित्यं परद्रव्य-विरक्तये।
स्वभावो जगतो भाव्यः समस्तमलशुद्धये॥२८४॥

अन्वय :– नित्यं स्व-तत्त्वरक्तये, परद्रव्य-विरक्तये, समस्तमलशुद्धये जगतः स्वभावः भाव्यः।

सरलार्थ :– अनादि-अनंत निज शुद्ध आत्मतत्त्व में लवलीन होने के लिये, विश्व में विद्यमान जीवादि अनंतानंत द्रव्यों से विरक्त होने की भावना से और अपने आत्मा से संबंधित ज्ञानावरणादि आठों कर्मरूपी मल से रहित होकर शुद्ध होने की इच्छा से जगत के स्वभाव की भावना करना योग्य है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ७ के १२वें सूत्र में भी **जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम्** – ऐसा कथन आया है। इस सूत्र में जगत के साथ काय अर्थात् शरीर के स्वभाव की भावना की भी बात कही है; लेकिन यहाँ अमितगति आचार्य ने शरीर को गौण किया है।

भावना के प्रयोजन में थोडा अंतर है, जैसे तत्त्वार्थसूत्र में संवेग/संसार से भय और वैराग्य – ये दो प्रयोजन बतलाये हैं। इस श्लोक में वैराग्य के साथ आत्मतत्त्व में लीन होना और कर्म-मल से शुद्ध होने की बात भी कही है।

एक आश्चर्य की बात –

यत् पञ्चाभ्यन्तरैः पापैः सेव्यमानः प्रबध्यते।
न तु पञ्चबहिर्भूतैराश्चर्यं किमतः परम्॥२८५॥

अन्वय :– **यत् पञ्चाभ्यन्तरैः पापैः सेव्यमानः प्रबध्यते, न तु पञ्चबहिर्भूतैः अतः किम् परम आश्चर्यम्।**

सरलार्थ :– जो जीव अन्तरंग में स्थित पाँच पापों से सेव्यमान है वह तो बन्ध को प्राप्त होता है; किन्तु जो बहिर्भूत पाँचों पापों से सेव्यमान है, वह बन्ध को प्राप्त नहीं होता; इससे अधिक आश्चर्य की बात और क्या है?

भावार्थ :– अन्तरंग सेना के अंगरक्षक जवानों की सेवा को प्राप्त एवं सुरक्षित हुआ राजा शत्रु से बाँधा नहीं जाता; परन्तु जब वे अंगरक्षक उसकी सेवा में नहीं होते और राजा अकेला पड़ जाता है, तब वह शत्रु द्वारा बाँध लिया जाता है।

यहाँ इस लोक-स्थिति के विपरीत यह दिखलाया है कि जो जीव अन्तरंग में स्थित पाँच पापरूप अंगरक्षकों से सेवित है वह तो कर्मशत्रु से बँध जाता है; परन्तु जिसके उक्त पाँच सेवक बहिर्भूत हो जाते हैं – उसकी सेवा में नहीं रहते और वह अकेला पड़ जाता है, उसे कर्मशत्रु बाँधने में असमर्थ हैं।

लोक-व्यवहार एवं प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से इसपर भारी आश्चर्य व्यक्त किया गया है और उसके द्वारा यह सूचित किया गया है कि जिन पापों को तुम अपने संगी-साथी एवं रक्षक समझते हो वे सब वस्तुतः तुम्हारे बन्ध के कारण हैं, उनका साथ छोड़ने पर ही तुम बन्ध को प्राप्त नहीं हो सकोगे।

अज्ञानी प्राणी समझता है कि मैं हिंसा करके, झूठ बोलकर, चोरी करके, विषय सेवन करके और परिग्रह को बढ़ाकर आत्मसेवा करता हूँ – अपनी रक्षा करता हूँ, यह सब भूल है। इन पाँचों पापों से, जो कि वास्तव में सेवक-संरक्षक न होकर अन्तरंग शत्रु हैं, कर्मों का बन्धन दृढ़ करते हैं। अतः जो कर्मों के बन्धन से बँधना नहीं चाहते उन्हें अपने हृदय से इन पाँचों पापों को निकाल बाहर कर देना चाहिए, तभी अबन्धता और अपनी रक्षा हो सकेगी।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जिसकी उपासना उसकी प्राप्ति –

ज्ञानस्य ज्ञानमज्ञानमज्ञानस्य प्रयच्छति।
आराधना कृता यस्माद् विद्यमानं प्रदीयते।।२८६।।

अन्वय :– ज्ञानस्य कृता आराधना ज्ञानं प्रयच्छति। अज्ञानस्य (कृता आराधना) अज्ञानं (प्रयच्छति यत:) यस्मात् (यत्) विद्यमानं (तत् एव) प्रदीयते।

सरलार्थ :– जो विवेकी जीव ज्ञान की अर्थात् ज्ञानस्वभावी आत्मा की उपासना करता है, उसे ज्ञान प्राप्त होता है और जो अविवेकी अज्ञान की अर्थात् अज्ञानस्वभावी जड़ की उपासना करता है, उसे अज्ञान प्राप्त होता है; क्योंकि यह जगप्रसिद्ध सिद्धांत है कि जिसके पास जो वस्तु होती है, वह वही देता है।

भावार्थ :– उपासना और ध्यान का अर्थ ज्ञान करते रहना है। जो ज्ञानी अपने ज्ञान को जानने में जोड़ता है, उसे ज्ञान मिलता है। जो अपने ज्ञान को अज्ञानी अर्थात् पुद्गलादि द्रव्यों को जानने में संलग्न करता है, उसे अज्ञान मिलता है। इससे यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि इस दुनिया में जो जिसको चाहता है, उसे वह मिलता है। शर्त मात्र इतनी सी है – **अपेक्षित वस्तु को अपने ज्ञान का ज्ञेय बनाना चाहिए।** यही विषय इष्टोपदेश श्लोक २३ में भी आया है।

प्रश्न :– हम यदि धन, वैभव आदि को अपने ज्ञान का विषय सदा बनाते रहेंगे तो धनादि ही मिलेंगे ना ?

उत्तर :– आपने ग्रंथकार का अभिप्राय नहीं समझा। भाई! यदि आप धन कमाने में अपने उपयोग को लगाओगे तो अज्ञान की प्राप्ति होगी; क्योंकि धनादि वैभव सब अज्ञानरूप अर्थात् अज्ञानी हैं। धनादि वैभव तो पूर्वपुण्य के उदयानुसार मिलते हैं; चाहने से नहीं मिलता। धनादि की अपेक्षा रखना तो लोभ कषाय है और कषाय-परिणाम से पाप मिलेगा। जो जैसा वस्तु-स्वरूप है, उसे वैसा ही स्वीकार करना आवश्यक है।

ज्ञान को जानने से ज्ञानी जीव का ज्ञान होता है –

न ज्ञान-ज्ञानिनोर्भेदो विद्यते सर्वथा यत:।
ज्ञाने ज्ञाते ततो ज्ञानी ज्ञातो भवति तत्त्वत:।।२८७।।

अन्वय :– यत: ज्ञान-ज्ञानिनो: सर्वथा भेद: न विद्यते। तत: तत्त्वत: ज्ञाने ज्ञाते (सति) ज्ञानी ज्ञात: (इति) भवति।

सरलार्थ :– क्योंकि ज्ञान और ज्ञानी जीव में सर्वथा भेद विद्यमान नहीं है; इसलिए ज्ञान को जानने से वास्तविक देखा जाय तो ज्ञानी जीव का ही ज्ञान होता है।

भावार्थ :– ज्ञान और ज्ञानी एक दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं हैं। ज्ञान गुण है और ज्ञानी गुणी है, और गुण-गुणी में सर्वथा भेद नहीं होता; दोनों का तादात्म्य-सम्बन्ध होता है । इसलिए वास्तव में ज्ञान को जानने पर ज्ञानी (आत्मा) की सत्ता का ज्ञान होता है। यहाँ सर्वथा भेद न होने की जो बात

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कही गयी है वह इस बात को सूचित करती है कि दोनों में कथंचित् भेद है, जो कि संज्ञा (नाम), संख्या, लक्षण तथा प्रयोजनादि की दृष्टि से भेद हुआ करता है, जैसा कि स्वामी समन्तभद्र के देवागम श्लोक ७२ से प्रकट है :–

संज्ञा-संख्या-विशेषाच्च स्वलक्षण-विशेषतः।
प्रयोजनादि-भेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा॥

श्लोकार्थ :– द्रव्य और पर्याय में कथंचित् संज्ञा का भेद हैं, संख्या का भेद है, स्वलक्षण का भेद है और प्रयोजन का भेद है। आदि शब्द से कालादि के भेद का भी ग्रहण किया गया है। यह भेद सर्वथा नहीं है।

ज्ञानवान द्रव्य ही वस्तु को जानता है –

ज्ञानं स्वात्मनि सर्वेण प्रत्यक्षमनुभूयते।
ज्ञानानुभवहीनस्य नार्थज्ञानं प्रसिद्ध्यति॥२८८॥

अन्वय :– सर्वेण स्व-आत्मनि ज्ञानं प्रत्यक्षं अनुभूयते। ज्ञानानुभवहीनस्य अर्थज्ञानं न प्रसिद्ध्यति।

सरलार्थ :– एकेन्द्रियादि प्रत्येक जीव अपनी आत्मा में विद्यमान ज्ञान गुण के जाननरूप कार्य का अनुभव करता है। जो द्रव्य अपने में ज्ञान न होने से जाननरूप अनुभव से रहित है अर्थात् अचेतन है, उसे किसी भी द्रव्य का ज्ञान सिद्ध नहीं होता।

भावार्थ :– एकेन्द्रियादि सर्व जीव अपनी भाव-इंद्रियों के अनुसार ज्ञान का अनुभव करते हैं अर्थात् स्पर्शादि विषयों को और अन्य पदार्थों को भी जानते हैं। वनस्पति जीव है और वह जानता है, यह विषय तो वैज्ञानिकों ने प्रयोग करके भी सिद्ध किया है; परन्तु वे अभी तक भी पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु को जीव नहीं मानते। इसे जिनवाणी में तो पहले से ही स्वीकार किया गया है। पृथ्वीकायिकादि जीव भी एक स्पर्शनेन्द्रिय से जानते हैं। जीव द्रव्य ज्ञानमय है, वह अपने में स्थित ज्ञान की अवस्था को निश्चय से जानता है और अन्य द्रव्यों को भी व्यवहार से जानता है।

पुद्गलादि पाँचों द्रव्य ज्ञानरहित हैं, अतः वे अन्य द्रव्यों को भी नहीं जानते।

परोक्ष ज्ञान से आत्मा की प्रतीति होती है –

प्रतीयते परोक्षेण ज्ञानेन विषयो यदि।
सोऽनेन परकीयेण तदा किं न प्रतीयते॥२८९॥

अन्वय :– यदि परोक्षेण ज्ञानेन विषयः प्रतीयते तदा अनेन परकीयेण (परोक्ष-ज्ञानेन) सः (ज्ञानी आत्मा) किं न प्रतीयते ?

सरलार्थ :– यदि मति-श्रुतरूप परोक्षज्ञान से स्पर्शादि विषयों का स्पष्ट/प्रत्यक्ष (सांव्यवहारिक) ज्ञान होता है तो इस मति-श्रुतरूप परोक्ष ज्ञान से ही ज्ञानमय आत्मा का स्पष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान क्यों नहीं हो सकता? अर्थात् अवश्य हो सकता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– आत्मा, जीव द्रव्य है। जीव के अनंत गुणों में ज्ञान गुण प्रधान हैं। ज्ञान गुण के मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान ऐसे पाँच सम्यग्ज्ञानरूप और कुमति, कुश्रुत एवं विभंगावधि ऐसे तीन मिथ्याज्ञानरूप इसतरह कुल मिलाकर आठ पर्यायरूप भेद हैं। इनमें मति-श्रुतज्ञान परोक्ष ज्ञान हैं। इन्द्रियजनित मतिज्ञान मात्र पुद्गल को जानना है और मनजनित मति-श्रुतज्ञान जीवादि द्रव्यों को जानना है। जब मति-श्रुत ज्ञान अपनी ही आत्मा को जानते-अनुभवते हैं तब इन दोनों को ही स्वानुभव प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं। इसी विषय को पंडित प्रवर टोडरमलजी ने रहस्यपूर्ण चिट्ठी में विशदरूप से समझाया है, उसको अवश्य देखें।

जो जीव अनात्मज्ञानी अर्थात् अधार्मिक और अल्पज्ञ हैं, उसे आत्मज्ञानी और सर्वज्ञ होने का मूल साधन/उपाय उसके पास ही है, अन्य किसीसे कुछ माँगने अथवा लाने की आवश्यकता ही नहीं है, यह महत्त्वपूर्ण तथ्य इस श्लोक में ग्रंथकार बता रहे हैं।

अनादिकाल से प्रत्येक जीव को मति-श्रुतरूप दो ज्ञान होते ही हैं। उन ज्ञानों से ही आत्मा को जानना है।

प्रश्न :– अन्य ज्ञान से आत्मा को जानना क्यों नहीं होता?

उत्तर :– केवलज्ञान मात्र अरहंत-सिद्धों को ही होता है, अतः अल्पज्ञ जीव के पास केवलज्ञान है ही नहीं। अवधिज्ञान एवं मनःपर्ययज्ञान दोनों मात्र पुद्गल द्रव्यों को जान सकते हैं, इसलिए आत्मा को जानने के काम में ये दोनों ज्ञान उपयोगी/काम के नहीं हैं। अतः मतिश्रुतज्ञान आत्मा को जानने में उपयोगी सिद्ध हुए, जो प्रत्येक संसारी जीव के पास नियम से रहते हैं।

हम– आप आत्मज्ञान कर सकते हैं – इसमें युक्ति –

येनार्थो ज्ञायते तेन ज्ञानी न ज्ञायते कथम्।
उद्योतो दृश्यते येन दीपस्तेन तरां न किम्॥२९०॥

अन्वय :– **येन उद्योतः (प्रकाशः) दृश्यते तेन दीपः तरां किं न (दृश्यते)। येन (ज्ञानेन) अर्थः ज्ञायते तेन ज्ञानी कथं न ज्ञायते ?**

सरलार्थ :– जैसे दीपक के प्रकाश को देखनेवाला मनुष्य प्रकाश-उत्पादक उस दीपक को सहजरूप से देखता है। वैसे जो ज्ञान, पदार्थ को जानता है; वही ज्ञान, ज्ञान उत्पादक जीव को भी अवश्य जानता है।

भावार्थ :– पिछले पद्य के विषय को यहाँ दीपक और उसके प्रकाश के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है। जिसप्रकार दीपक के प्रकाश को देखनेवाला दीपक को भी देखता है उसी प्रकार जो ज्ञेय रूप पदार्थ को ज्ञानता है वह उसके ज्ञायक अथवा जीव को भी जानता है।

इस श्लोक में पिछले श्लोक के विषय को मात्र उदाहरण देकर स्पष्ट किया है, नया विषय नहीं है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जो वेद्य को जानता है वह वेदक को जानता ही है –

विदन्ति दुर्धियो वेद्यं वेदकं न विदन्ति किम्।
द्योत्यं पश्यन्ति न द्योतमाश्चर्यं बत कीदृशम्।।२९१।।

अन्वय :– दुर्धियः वेद्यं विदन्ति वेदकं किं न विदन्ति ? द्योत्यं पश्यन्ति द्योतं न बत कीदृशम् आश्चर्यम् (अस्ति)?

सरलार्थ :– दुर्बुद्धि वेद्य को तो जानते हैं वेदक को क्यों नहीं जानते? प्रकाश्य को तो देखते हैं किन्तु प्रकाशक को नहीं देखते, यह कैसा आश्चर्य है?

भावार्थ :– निःसन्देह ज्ञेय को जानना और ज्ञायक को/ज्ञान या ज्ञानी को न जानना एक आश्चर्य की बात है, जिसप्रकार प्रकाश से प्रकाशित वस्तु को तो देखना, किन्तु प्रकाश को न देखना। ऐसे ज्ञायक के विषय में अज्ञानियों को यहाँ दुर्बुद्धि एवं विकार-ग्रसित बुद्धिवाले बतलाया है।

पिछले श्लोक में दीपक और उसके उद्योत की बात को लेकर विषय को स्पष्ट किया गया है, यहाँ उद्योत और उसके द्वारा द्योतित (द्योत्य) पदार्थ की बात को लेकर उसी विषय को स्पष्ट किया गया है। द्योतक, द्योत और द्योत्य का जैसा सम्बन्ध है वैसा ही सम्बन्ध ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का है। एक के जानने-से दूसरा जाना जाता है। जिसे एक को जानकर दूसरे का बोध नहीं होता वह सचमुच दुर्बुद्धि है।

आचार्य माणिक्यनन्दिकृत **परीक्षामुख** के प्रथम समुद्देश के नौवें सूत्र में भी लिखा है – **कर्मवत्कर्तृकरणक्रियाप्रतीतेः** अर्थात् प्रमाण (सम्यग्ज्ञान) के द्वारा जैसे घट-पटादि कर्म का बोध होता है, उसीप्रकार कर्ता (ज्ञाता), करण (ज्ञान) और क्रिया (ज्ञप्ति) का भी बोध होता है।

शुद्ध आत्मा के ध्यान से कर्मों की निर्जरा –

ज्ञेय-लक्ष्येण विज्ञाय स्वरूपं परमात्मनः।
व्यावृत्त्य लक्ष्यतः शुद्धं ध्यायतो हानिरंहसाम्।।२९२।।

अन्वय :– ज्ञेय-लक्ष्येण परमात्मनः स्वरूपं विज्ञाय लक्ष्यतः व्यावृत्त्य शुद्धं ध्यायतः अंहसां हानिः (जायते)।

सरलार्थ :– ज्ञेय के लक्ष्य द्वारा परमात्मा के स्वरूप को जानकर और लक्ष्यरूप से व्यावृत होकर शुद्ध स्वरूप का ध्यान करनेवाले के कर्मों का नाश होता है।

भावार्थ :– जो लोग ज्ञेय को जानने में प्रवृत्त होते हुए भी ज्ञायक को जानने में अपने को असमर्थ बतलाते हैं, उन्हें यहाँ ज्ञेय के लक्ष्य से आत्मा के उत्कृष्ट स्वरूप को जानने की बात कही गयी है। साथ ही यह सुझाया गया है कि इसतरह ज्ञेय के शुद्ध स्वरूप के सामने आने पर ज्ञेय के लक्ष्य को छोड़कर अपने उस शुद्ध स्वरूप का ध्यान करो, जिससे कर्मों की निर्जरा होती है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसीका दृष्टान्तपूर्वक समर्थन करते हैं –

चट्टुकेन यथा भोज्यं गृहीत्वा स विमुच्यते।
गोचरेण तथात्मानं विज्ञाय स विमुच्यते॥२९३॥

अन्वय :– यथा चट्टुकेन भोज्यं गृहीत्वा सः (चट्टुकः) विमुच्यते तथा गोचरेण (ज्ञेय-लक्ष्येण) आत्मानं विज्ञाय सः (गोचरः ज्ञेयः) विमुच्यते।

सरलार्थ :– जिस प्रकार कड़छी/चम्मच से भोजन ग्रहण करके उसे/चम्मच को छोड़ दिया जाता है उसी प्रकार गोचर के - ज्ञेय लक्ष्य-द्वारा आत्मा को जानकर ज्ञेय को छोड़ दिया जाता है।

भावार्थ :– यहाँ कड़छी-चम्मच के उदाहरण द्वारा पूर्व श्लोक में वर्णित विषय को स्पष्ट किया गया है। कड़छी-चम्मच का उपयोग जिसप्रकार भोजन के ग्रहण करने में किया जाता है, उसीप्रकार आत्मा के जानने में ज्ञेय के लक्ष्य का उपयोग किया जाता है। आत्मा के ग्रहण हो जानेपर ज्ञेय का लक्ष्य छोड़ दिया जाता है, और अपने ग्रहीत स्वरूप का ध्यान किया जाता है।

आत्मप्राप्त ज्ञानी सुखी –

उपलब्धे यथाहारे दोषहीने सुखासिकः।
आत्मतत्त्वे तथा क्षिप्रमित्यहो ज्ञानिनां रतिः॥२९४॥

अन्वय :– यथा दोषहीने आहारे उपलब्धे सुखासिकः तथा आत्मतत्त्वे (उपलब्धे) क्षिप्रं (सुखासिकः) इति ज्ञानिनां अहो रतिः!

सरलार्थ :– जिसप्रकार लौकिक जीवन में दोषरहित भोजन मिलने पर मनुष्य को सुख मिलता है, उसीप्रकार शुद्ध आत्मतत्त्व के प्राप्त होने पर ज्ञानी जीव को तत्काल सुख मिलता है। यह ज्ञानियों की आत्म-तत्त्व में आश्चर्यकारी रति (प्रेम) है।

भावार्थ :– इस श्लोक में उदाहरण देकर आत्मोपलब्धि से प्राप्त सुख को ग्रंथकार समझा रहे हैं। मनुष्य मात्र को भोजन-प्राप्त होने पर समाधान होने का अनुभव हमेशा का है। उसीतरह आत्मोपलब्धि से भी तत्काल सुख होने की बात कही है। यहाँ तो स्थूल कथन किया है। भोजन से प्राप्त पराधीन सुख तो तात्कालिक एवं इंद्रियजन्य है और आत्मानुभव का स्वाधीन सुख सार्वकालिक तथा अतीन्द्रिय है। दोनों के सुख में जमीन-आसमान का विष और अमृत के समान भेद है; लेकिन लौकिकजनों को समझाना है; इसलिए स्थूल कथन किया है।

परद्रव्य के त्याग का स्वरूप –

परद्रव्यं यथा सद्भिर्ज्ञात्वा दुःख-विभीरुभिः।
दुःखदं त्यज्यते दूरमात्मतत्त्वरतैस्तथा॥२९५॥

अन्वय :– यथा दुःख-विभीरुभिः सद्भिः परद्रव्यं दुःखदं ज्ञात्वा दूरं त्यज्यते तथा आत्मतत्त्वरतैः (परद्रव्यं त्यज्यते)।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :- जिसप्रकार दुःख से भयभीत सत्पुरुष परद्रव्य को दुःखदायक जानकर दूर से ही छोड़ देते हैं; उसीप्रकार निजशुद्धात्मतत्त्व में मग्न/लीन जीव परद्रव्य को दूर से ही छोड़ देते हैं।

भावार्थ :- ग्रहणपूर्वक ही त्याग होता है, इस नियम के अनुसार सज्जन पुरुषों ने तो पहले परद्रव्य को ग्रहण किया था। तदनंतर राजदण्ड लोकनिंदा, चोरी आदि पाप के भय से भयभीत होकर परद्रव्यों को त्याग दिया है; ऐसा अर्थ यहाँ नहीं समझना चाहिए।

सज्जन अर्थात् सम्यग्दृष्टि परद्रव्य को अपना मानते ही नहीं है। परद्रव्य अपना नहीं है, परद्रव्य में सुख नहीं है, परद्रव्य से सुख नहीं है, परद्रव्यों के साथ मेरा कुछ संबंध ही नहीं है, मैं तो अनादि-अनंत सुखस्वभावी भगवान आत्मा हूँ – ऐसी श्रद्धा और ज्ञान करना ही परद्रव्य का त्याग करना है। समयसार गाथा ३४ में कहा भी है – **णाणं पच्चक्खाणं** अर्थात् ज्ञान ही प्रत्याख्यान है।

जहाँ सम्यग्दृष्टि को ही संपूर्ण परद्रव्य का श्रद्धा अपेक्षा से त्याग रहता है, वहाँ आत्मतत्त्वरत जीव तो और भी आगे बढ़ गया है। उसे तो परद्रव्य में अपनेरूप चारित्र मोहनीय संबंधी भी अस्थिरतारूप व्यक्त राग-द्वेष नहीं होते। अतः उनका त्याग और भी विशेष समझ लेना चाहिए। इस श्लोक में परद्रव्य को तो दूर से ही छोड़ देते हैं, ऐसा कथन व्यवहारनय से किया है।

विशोधित ज्ञान और अज्ञान का स्वरूप –

ज्ञाने विशोधिते ज्ञानमज्ञानेऽज्ञानमूर्जितम्।
शुद्धं स्वर्णमिव स्वर्णे लोहे लोहमिवाश्नुते।।२९६।।

अन्वय :- **(यथा) स्वर्णे (विशोधिते) शुद्धं स्वर्ण इव लोहे (च) लोहं इव अश्नुते। (तथा) ज्ञाने विशोधिते ज्ञानं अज्ञाने (च) अज्ञानं ऊर्जितं भवति।**

सरलार्थ :- जैसे स्वर्ण के विशोधित होनेपर शुद्ध स्वर्ण और लोहे के विशोधित होनेपर शुद्ध लोहा गुणवृद्धि/अतिशय को प्राप्त होता है; वैसे ज्ञान के विशोधित होने पर ज्ञान और अज्ञान के विशोधित होने पर अज्ञान ऊर्जित/अतिशय को प्राप्त होता है।

भावार्थ :- ज्ञान में कुछ अज्ञान मिला हो तो उसको दूर करना 'ज्ञान का विशोधन' और अज्ञान में जो कुछ ज्ञान मिला हो उसका दूर करना 'अज्ञान का विशोधन' कहलाता है।

विशोधित ज्ञान और अज्ञान को समझाने के लिये शुद्ध स्वर्ण और शुद्ध लोहे का उदाहरण दिया है।

मिथ्यात्व और सासादन गुणस्थान में अज्ञान विशोधित है। अविरतसम्यक्त्व गुणत्थान से लेकर आगे सर्व गुणस्थानों में और सिद्ध अवस्था में ज्ञान विशोधित है। सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान में ज्ञान मिश्ररूप है।

मोहरूप परिणाम में कर्म ही निमित्त, जीव-स्वभाव नहीं –

प्रतिबिम्बं यथादर्शे दृश्यते परसंगतः।
चेतने निर्मले मोहस्तथा कल्मषसंगतः।।२९७।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्वय :– यथा आदर्शे परसंगतः प्रतिबिम्बं दृश्यते तथा निर्मले चेतने कल्मष-संगतः मोहः (दृश्यते)।

सरलार्थ :– जिसप्रकार निर्मल दर्पण में परद्रव्य के संयोग से प्रतिबिंब दिखता है, स्वभाव से नहीं; उसीप्रकार अनादि-अनंत निर्मल/शुद्ध चेतन द्रव्य में द्रव्यमोहरूप पापकर्म के उदय से मोह परिणाम दिखता है, स्वभाव से नहीं।

भावार्थ :– 'चेतनद्रव्य में द्रव्यमोहरूप पापकर्म के उदय से मोह परिणाम दिखता है' अर्थात् चेतन के ज्ञान गुण की पर्याय में मोह परिणाम जानने में आता है; ऐसा अर्थ करना चाहिए। विकार अर्थात् विभाव परिणमन में निमित्तरूप वस्तु पर ही होती है, स्वभाव से कोई भी वस्तु विभावरूप परिणमन नहीं करती।

समयसार गाथा २७८-२७९ एवं इनकी टीका तथा भावार्थ में और कलश १७५ में भी यही विषय आया है। अतः आत्मार्थी समयसार का यह अंश सूक्ष्मता से अवश्य देखें।

जीव पर का संग करने से ही रागादिरूप परिणमता है, स्वभाव से नहीं; इस कथन को आचार्य अमृतचंद्र ने उपरिम गाथाओं की संस्कृत टीका एवं १७५ तथा १७६ कलशों में वस्तुस्वभाव कहा है।

आत्मशुद्धि के लिये ज्ञानाराधना –

धर्मेण वासितो जीवो धर्मे पापे न वर्तते।
पापेन वासितो नूनं पापे धर्मे न सर्वदा।।२९८।।
ज्ञानेन वासितो ज्ञाने नाज्ञानेऽसौ कदाचन।
यतस्ततो मतिः कार्या ज्ञाने शुद्धिं विधित्सुभिः।।२९९।।

अन्वय :– धर्मेण वासितः जीवः नूनं धर्मे वर्तते न पापे, पापेन वासितः (जीवः) सर्वदा पापे (वर्तते) न धर्मे।

यतः ज्ञानेन वासितः (जीवः) ज्ञाने (वर्तते) असौ कदाचन अज्ञाने न; ततः शुद्धिं विधित्सुभिः ज्ञाने मतिः कार्या।

सरलार्थ :– धर्म अर्थात् पुण्य से संस्कारित हुआ जीव निश्चय से पुण्य में सदा प्रवर्तता है, पाप में नहीं। पाप से संस्कारित हुआ जीव निश्चय से सदा पाप में प्रवृत्त होता है, पुण्य में नहीं।

ज्ञान से संस्कारित हुआ जीव सदा ज्ञान में प्रवृत्त होता है, अज्ञान अर्थात् पुण्य-पाप में कदाचित् नहीं। इसलिए शुद्धि/वीतरागता/निर्जरा की इच्छा रखनेवाले को ज्ञान की उपासना/आराधना में बुद्धि लगाना चाहिए।

भावार्थ :– ग्रंथकार यहाँ दोनों श्लोकों में निर्जरातत्त्व का पूर्ण मर्म समझा रहे हैं।

प्रश्न :– आपने यहाँ धर्म का अर्थ पुण्य कैसे किया?

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उत्तर :– धर्म के साथ पाप को जोड़ा है और वास्तविक धर्म की बात को ज्ञान की उपासना शब्द से कहा है, इसकारण धर्म का अर्थ पुण्य किया है, जो प्रकरण के अनुसार योग्य है।

ज्ञान से संस्कारित का अर्थ 'मैं मात्र ज्ञाता-दृष्टा हूँ, पर का मैं किंचित मात्र भी कर्ता-धर्ता-हर्ता नहीं हूँ, ऐसा श्रद्धा और ज्ञान में स्वीकार करना ही समझना है। ज्ञान में ही प्रवृत होना – अर्थात् निज शुद्धात्मा में लीन होने का कार्य करना है। पर्याय में वीतरागता प्रगट करना है। ज्ञान का अर्थ शुद्धात्मा करते ही अज्ञान का अर्थ पुण्य-पाप हो ही जाता है।

''ज्ञान की आराधना में बुद्धि लगाने'' का अर्थ अपने पास जो व्यक्त वर्तमानकालीन विकसित ज्ञान है, उसका ज्ञेय मात्र निज शुद्धात्मा को ही बनाना है। निर्जरा के लिये अपने ज्ञान को अपने स्वभाव में लगाने की प्रेरणा दी है; यही पुरुषार्थ है।

संक्षेप में पुण्य-पाप में प्रवृत्ति कर्म-बंध का कारण है और ज्ञान अर्थात् आत्मा में प्रवृत्ति निर्जरा का कारण है।

ज्ञानी अज्ञान को नहीं अपनाता –

ज्ञानी निर्मलतां प्राप्तो नाज्ञानं प्रतिपद्यते।
मलिनत्वं कुतो याति काञ्चनं हि विशोधितम् ।।३००।।

अन्वय :– निर्मलतां प्राप्तः ज्ञानी अज्ञानं न प्रतिपद्यते। हि विशोधितं काञ्चनं मलिनत्वं कुतः याति ? (नैव याति)।

सरलार्थ :– जैसे पूर्ण रीति से शुद्ध किया हुआ सुवर्ण मलिनता को प्राप्त नहीं होता, वैसे पूर्ण निर्मलता को प्राप्त हुआ ज्ञानी अज्ञान को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ :– ज्ञानी का अर्थ अध्यात्म शास्त्र में सम्यग्दृष्टि से लेकर आगे के सभी गुणस्थानवर्ती साधक जीवों को लिया जाता है। यहाँ पूर्ण निर्मलता की बात लेंगे तो क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती अथवा अरहंत भगवान को ही समझना आवश्यक है। मोह पूर्ण नष्ट हो जाने पर पुनः अज्ञान (मोह-राग-द्वेष) की प्राप्ति करने लायक परिणाम नहीं होते। सर्वज्ञ होने के बाद तो पुनः अज्ञान (अल्पज्ञता) को प्राप्त करने का प्रश्न ही नहीं। इस कारण ही जिनेन्द्र भगवान के उपदेशानुसार एक बार अरहंत या सिद्ध परमेष्ठी होने के बाद पुनः संसार में अवतार लेने की बात ही नहीं है।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि भी पुनः मिथ्यादृष्टि नहीं बनेगा, इस अपेक्षा से वह भी अज्ञान (मिथ्यात्व) को प्राप्त नहीं हो सकता, यह विवक्षा भी शास्त्रानुकूल ही है।

विद्वानों के लिये ग्रंथकार का दिशानिर्देश –

(मन्दाक्रान्ता)

अध्येतव्यं स्तिमितमनसा ध्येयमाराधनीयं
पृच्छ्यं श्रव्यं भवति विदुषाभ्यस्यमावर्जनीयम्।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वेद्यं गद्यं किमपि तदिह प्रार्थनीयं विनेयं
दृश्यं स्पृश्यं प्रभवति यतः सर्वदात्मस्थिरत्वम् ।।३०१।।

अन्वय :– इह विदुषा तद् किमपि स्तिमितमनसा अध्येतव्यं ध्येयं आराधनीयं पृच्छ्यं श्रव्यं अभ्यस्यं आवर्जनीयं वेद्यं गद्यं प्रार्थनीयं विनेयं दृश्यं स्पृश्यं भवति यतः सर्वदा आत्मस्थिरत्वं प्रभवति।

सरलार्थ :– इस लोक में विद्वानों के लिये वह कोई भी पदार्थ स्थिर चित्त से अध्ययन के योग्य, ध्यान के योग्य, आराधन के योग्य, पूछने के योग्य, सुनने के योग्य, अभ्यास के योग्य, संग्रहण के योग्य, जानने के योग्य, कहने के योग्य, प्रार्थना के योग्य, प्राप्त करने के योग्य, देखने के योग्य और स्पर्श के योग्य होता है, जिसके अध्ययनादि से आत्मस्वरूप की स्थिरता सदा वृद्धि को प्राप्त होती है।

भावार्थ :– इस श्लोक में विद्वान् के लिये अध्ययनादि-विषयक जीवन के लक्ष्य को बड़ी सुन्दरता के साथ व्यापक रूप में व्यक्त किया है। वह लक्ष्य है अपने आत्मस्वरूप में स्थिरता की उत्तरोत्तर वृद्धि का। यदि उक्त लक्ष्य नहीं है तो अध्ययनादि सभी व्यर्थ हैं।

विद्वान का अर्थ यहाँ श्रावक और साधु दोनों को भी ले सकते हैं। इस श्लोक के आधार से हमें यह भी समझना आवश्यक है कि जो कोई शास्त्र का वक्ता है, उसे कथाकथन, प्रवचन, चर्चा में हमेशा अपना आत्मकल्याण का लक्ष्य मुख्य रखना चाहिए। यदि प्रवचन में वीतरागतारूप आत्मकल्याण का विषय किसी न किसी रूप से आता ही नहीं हो तो वह कथन जिनधर्म का नहीं माना जा सकता।

योगी का स्वरूप और उसके जीवन का फल –

(मन्दाक्रान्ता)

इत्थं योगी व्यपगतपर-द्रव्य-संगप्रसङ्गो
नीत्वा कामं चपल-करण-ग्राममन्तर्मुखत्वम्।
ध्यात्वात्मानं विशदचरण-ज्ञान-दृष्टिस्वभावं,
नित्यज्योतिः पदमनुपमं याति निर्जीर्णकर्मा ।।३०२।।

अन्वय :– **इत्थं व्यपगत पर-द्रव्य-संगप्रसङ्ग निर्जीर्णकर्मा योगी कामं चपल-करण-ग्रामं-अन्तर्मुखत्वं नीत्वा विशदचरण-ज्ञान-दृष्टिस्वभावं आत्मानं ध्यात्वा नित्यज्योतिः अनुपमं पदं याति।**

सरलार्थ :– इस प्रकार पर-द्रव्य के संग-प्रसंग से रहित हुए कर्मों की निर्जरा करनेवाले योगी चंचल इन्द्रिय समूह को यथेष्ट (अथवा पर्याप्त) अन्तर्मुख करके और विशुद्ध-दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभावरूप आत्मा का ध्यान करके अनुपम, शाश्वत ज्योतिरूप परमात्मपद को प्राप्त होते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– इस श्लोक में छठे अधिकार का उपसंहार करते हुए कर्मों की निर्जरा करनेवाले योगी के स्वरूप को, ध्यान के विषय को और ध्यान के फल को संक्षेप में स्पष्ट किया गया है।

परद्रव्य के संग-प्रसंग से रहित – क्षेत्र-वास्तु आदि १० प्रकार के बहिरंग परिग्रह से रहित मुनिपने का स्वीकार करते ही वे साधक हो गये। १४ अंतरंग परिग्रह से भी मुनिराज रहित हुए हैं। मिथ्यात्व तथा तीन कषाय चौकड़ी के कषाय-नोकषाय का त्याग हो ही गया है। शेष कषाय-नोकषाय के सर्वथा त्याग के लिये श्रेणी चढ़कर क्षीणमोही बनकर १२वें गुणस्थान में सर्व अंतरंग परिग्रह से भी सर्वथा रहित हुए हैं। इसप्रकार पूर्वबद्ध कर्मों गुणश्रेणी की निर्जरा मुनि-जीवन में लगातार होती ही रहती है।

इसप्रकार श्लोक क्रमांक २५३ से ३०२ पर्यन्त ५० श्लोकों में यह छठा 'निर्जरा-अधिकार' पूर्ण हुआ।

●●●

सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी कहा है और ज्ञानी के राग-द्वेष-मोह का अभाव कहा है; इसलिए सम्यग्दृष्टि विरागी है। यद्यपि उसके इन्द्रियों के द्वारा भोग दिखाई देता हो; तथापि उसे भोग की सामग्री के प्रति राग नहीं है। वह जानता है कि "यह (भोगों की सामग्री) परद्रव्य है, मेरा और इसका कोई संबंध नहीं है; कर्मोदयके निमित्त से इसका और मेरा संयोग-वियोग है।" जबतक उसे चारित्रमोह का उदय आकर पीड़ा करता है और स्वयं बलहीन होने से पीड़ा को सहन नहीं कर सकता, तबतक जैसे रोगी रोग की पीड़ा को सहन नहीं कर सकता, तब उसका औषधि इत्यादि के द्वारा उपचार करता है। इसीप्रकार भोगोपभोग सामग्री के द्वारा विषयरूप उपचार करता हुआ दिखाई देता है; किन्तु जैसे रोगी रोग को या औषधि को अच्छा नहीं मानता, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि चारित्रमोह के उदय को या भोगोपभोग सामग्री को अच्छा नहीं मानता। और निश्चय से तो ज्ञातृत्व के कारण सम्यग्दृष्टि विरागी उदयागत कर्मों को मात्र जान ही लेता है, उनके प्रति उसे राग-द्वेष-मोह नहीं है। इसप्रकार राग-द्वेष-मोह के बिना ही उनके फल को भोगता हुआ दिखाई देता है, तो भी उसके कर्म का आस्रव नहीं होता, कर्मास्रव के बिना आगामी बन्ध नहीं होता और उदयागत कर्म तो अपना रस देकर खिर ही जाते हैं; क्योंकि उदय में आने के बाद कर्म की सत्ता रह ही नहीं सकती। इसप्रकार उसके नवीन बंन्ध नहीं होता और उदयागत कर्म की निर्जरा हो जाने से उसके केवल निर्जरा ही हुई। इसलिए सम्यग्दृष्टि विरागी के भोगोपभोग को निर्जरा का ही निमित्त कहा गया है। पूर्व कर्म उदय में आकर उसका द्रव्य खिर जाना, सो वह द्रव्यनिर्जरा है।

समयसार, निर्जरा अधिकार, पृष्ठ-३२१

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

७

मोक्ष-अधिकार

मोक्ष का स्वरूप –

अभावे बन्ध-हेतूनां निर्जरायां च भास्वरः।
समस्तकर्म-विश्लेषो मोक्षो वाच्योऽपुनर्भवः ॥३०३॥

अन्वय :– बन्ध-हेतूनां अभावे च निर्जरायां (सत्यां) समस्तकर्म-विश्लेषः भास्वरः अपुनर्भवः वाच्यः मोक्षः।

सरलार्थ :– नये कर्मबंध के कारणों का सर्वथा अभाव और पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा होनेपर आत्मा से संपूर्ण कर्मों का जो विश्लेष अर्थात् पृथक होना, वह प्रकाशमान मोक्ष है, जिसे अपुनर्भव भी कहते हैं।

भावार्थ :– मोक्ष अधिकार का प्रारम्भ करते हुए सबसे पहले मोक्ष का स्वरूप दिया गया है। आत्मा से समस्त कर्मों का पूर्णतः सम्बन्धाभाव ही मोक्ष है, जिसे यहाँ 'विश्लेष' तथा तत्त्वार्थसूत्र में 'विप्रमोक्ष' शब्द से कहा गया है। वह मोक्ष तभी बनता है जब बन्ध के मिथ्यादर्शनादि वे सभी हेतु नष्ट हो जाते हैं, जिनका आस्रव तथा बन्ध अधिकारों में वर्णन है। साथ ही पूर्वसंचित कर्मों की पूर्णतः निर्जरा भी हो जाती है, जिससे न कोई नया कर्म, आस्रव तथा बन्ध को प्राप्त हो सकता है और न कोई पुराना कर्म अवशिष्ट ही रहता है। इस तरह सर्व प्रकार के समस्त कर्मों का जो सदा के लिये सम्बन्धाभाव हो जाता है उसे 'मोक्ष' कहते हैं।

इसका दूसरा नाम यहाँ 'अपुनर्भव' बतलाया है; क्योंकि भवप्राप्ति अथवा संसार में पुनः जन्म लेने का कारण कर्मरूपी बीज था, वह जब जलकर नष्ट हो गया तब फिर उसमें अंकुर नहीं उगता। ऐसा ही आचार्य अमृतचन्द्र ने तत्त्वार्थसार के आठवें अध्याय के सातवें श्लोक में कहा है :–

दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।
कर्म-बीजे तथा दग्धे न प्ररोहति भवाङ्कुरः॥

अर्थ :– जिसप्रकार बीज के अत्यंत जल जाने पर अंकुर उत्पन्न नहीं होता, उसीप्रकार कर्मरूपी बीज के अत्यंत जल जाने पर संसाररूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता।

तत्त्वार्थसूत्र के दसवें अध्याय के दूसरे सूत्र में ऐसा ही कथन निम्न शब्दों में आया है – '**बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः** – बन्ध हेतुओं के अभाव और निर्जरा से सब कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है।'

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निर्दोष आत्मा में केवलज्ञान का उदय –

उदेति केवलं जीवे मोह-विघ्नावृति-क्षये।
भानु-बिम्बमिवाकाशे भास्वरं तिमिरात्यये।।३०४।।

अन्वय :– तिमिर-अत्यये आकाशे भास्वरं भानु-बिम्बं इव मोह-विघ्नावृति-क्षये जीवे केवलं (ज्ञानं) उदेति।

सरलार्थ :– जिसप्रकार रात्रि का घोर अंधकार दूर होने पर आकाश में तेजस्वी सूर्यबिंब स्वयं उदय को प्राप्त होता है; उसीप्रकार मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अंतराय कर्मों का क्षय हो जाने पर आत्मा में केवलज्ञान स्वयं उदय को प्राप्त होता है।

भावार्थ :– यहाँ 'मोह' शब्द से सम्पूर्ण मोहनीय कर्म विवक्षित है, जिसकी मिथ्यात्व तथा कषायादि के रूप में २८ उत्तर प्रकृतियाँ हैं। 'विघ्न' शब्द से सारा अन्तराय कर्म विवक्षित है, जिसकी दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय नाम से ५ उत्तर प्रकृतियाँ हैं। 'आवृति' शब्द से आवरण विवक्षित है, जो ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्म के रूप में दो प्रकार का है। इसतरह जिन चार मूल प्रकृतियों का यहाँ उल्लेख है, उन्हें घाति कर्म प्रकृतियाँ कहा जाता है।

बारहवें गुणस्थान के प्रारंभ से मुनिराज क्षीणमोही हो गये हैं और तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय से चारों घातिकर्मों के नाश से केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है। यह सर्व व्यवहारनय की मुख्यता से कथन है। वास्तविक देखा जाय तो जब जीव के ज्ञानगुण की पूर्ण निर्मल पर्याय केवलज्ञान प्रगट होती है; उस समय चारों घाति कर्मों का अपने आप अर्थात् स्वयं ही अभाव हो जाता है।

इस श्लोकगत विषय को तत्त्वार्थसूत्र के दसवें अध्याय के प्रथम सूत्र में निम्नप्रकार कहा है – **मोहक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।**

मलिन आत्मा में केवलज्ञान नहीं –

न दोषमलिने तत्र प्रादुर्भवति केवलम्।
आदर्शे न मलग्रस्ते किंचिद् रूपं प्रकाशते।।३०५।।

अन्वय :– (यथा) मलग्रस्ते आदर्शे तत्र किंचित् (अपि) रूपं न प्रकाशते तथैव दोषमलिने (आत्मनि) केवलं (ज्ञानं) न प्रादुर्भवति।

सरलार्थ :– जैसे धूल से धूसरित दर्पण में किसी भी पदार्थ का रूप दिखाई नहीं देता; वैसे ही ज्ञानावरणादि कर्मरूप दोषों से दूषित/मलिन हुए आत्मा में केवलज्ञान प्रगट नहीं होता।

भावार्थ :– इस श्लोक में केवलज्ञान के प्रगट न होने को उदाहरण से बताया है। किसी भी वस्तु का प्रतिबिम्ब ठीक दिखलाई देने के लिये जिसप्रकार दर्पण का निर्मल होना परमावश्यक है; उसीप्रकार केवलज्ञान के उदय के लिये चार प्रकार के घाति कर्ममल का नाश होना परमावश्यक है।

शुद्धात्मध्यान से मोह का नाश –

न मोह-प्रभृति-च्छेदः शुद्धात्मध्यानतो विना।
कुलिशेन विना येन भूधरो भिद्यते न हि।।३०६।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्वय :– येन कुलिशेन विना भूधरः न हि भिद्यते (तथैव्) शुद्धात्मध्यानतः विना मोह-प्रभृति-च्छेदः न (भवति)।

सरलार्थ :– जिसप्रकार वज्र के बिना पर्वत नहीं भेदा जाता, उसीप्रकार शुद्ध आत्मा के ध्यान के बिना मोहादि कर्मों का छेद अर्थात् नाश नहीं होता।

भावार्थ :– इस श्लोक में ज्ञानावरणादि आठों कर्मों के नाश के सुनिश्चित निमित्त कारण का ज्ञान कराया है।

प्रश्न :– आठ कर्मों के नामों का उल्लेख ज्ञानावरण से प्रारंभ होता है, फिर श्लोक में ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय, ऐसा क्रम न लेकर मोहादि कर्मों का ऐसा क्रम क्यों लिया है?

उत्तर :– यहाँ कर्मों के स्वरूप का ज्ञान कराने का उद्देश्य नहीं है, अपितु कर्मों के नाश के क्रम का कथन करना है; अतः ग्रंथकार का क्रम सही है; आठों कर्मों में से सबसे पहले मोहनीयकर्म का ही नाश होता है। मोहकर्म का नाश बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय में होता है। तदनंतर एक अंतर्मुहूर्त काल में ज्ञानावरणादि तीनों घातिकर्मों का क्षय/नाश होता है।

ग्रंथकार ने शुद्ध आत्मा के ध्यान को ही कर्मों के नाश का साधन/उपाय बताया है। इससे हमें यह भी समझना आवश्यक है कि सुख का उपाय, धर्म प्रगट करने का उपाय, संवर प्रगट करने का उपाय, निर्जरा प्रारंभ करने का, निर्जरा की वृद्धि का, निर्जरा पूर्ण करके मुक्ति का साधन भी शुद्ध आत्मा का ध्यान ही है, अन्य कुछ नहीं।

मोहादि के नाश में दर्शनमोहनीय अर्थात् मिथ्यात्व का नाश भी गर्भित ही है। अतः सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उपाय भी मात्र ध्यान ही है, अन्य क्रियाकाण्ड अथवा पुण्य नहीं है, यह विषय स्पष्ट है। ध्यान के पूर्व अथवा उससमय पुण्यपरिणाम का निषेध नहीं है तथा व्रतादि क्रिया और पुण्य-परिणाम को निमित्त मानने का भी यहाँ निषेध नहीं है।

ध्यान से अत्यन्त आनंद –

विभिन्ने सति दुर्भेदकर्म-ग्रन्थि-महीधरे।
तीक्ष्णेन ध्यानवज्रेण भूरि-संक्लेश-कारिणि ।।३०७।।
आनन्दो जायतेऽत्यन्तं तात्त्विकोऽस्य महात्मनः।
औषधेनेव सव्याधेर्व्याधेरभिभवे कृते ।।३०८।।

अन्वय :– सव्याधेः औषधेन व्याधेः अभिभवे कृते (सति तस्य) अत्यन्तं आनन्दः जायते इव भूरिसंक्लेशकारिणि दुर्भेदकर्मग्रन्थिमहीधरे तीक्ष्णेन ध्यानवज्रेण विभिन्ने सति अस्य महात्मनः (अत्यंतं) तात्त्विकः (आनन्दः जायते)।

सरलार्थ :– जिसप्रकार औषधि के सेवन से रोगी के रोग दूर होने पर उसे अत्यन्त आनन्द होता है, उसीप्रकार (जीव को) अत्यंत दुःखदायक दुर्भेद कर्मरूपी पर्वत, तीक्ष्ण ध्यानरूपी वज्र से नष्ट होने पर इस महात्मा के अत्यन्त वास्तविक आनन्द होता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– पिछले तथा इस श्लोक में भी पर्वत (जो अत्यन्त कठोर होता है) के स्थानपर कर्म को रखा है और वज्र (जो इंद्र का महान सामर्थ्यशाली अस्त्र माना जाता है, जिससे अति कठोर पर्वत भी भेदा जाता है) के स्थान पर ध्यान को कहा गया है। इससे पता चलता है कि ध्यान वज्र के समान है और वह कर्मरूपी पर्वत को भेदने में नियम से समर्थ है। ध्यान को छोड़कर कर्म-भेदन का अन्य कोई साधन नहीं है।

भव्य जीवों के भाग्यानुसार केवली का उपदेश –

साक्षादतीन्द्रियानर्थान् दृष्ट्वा केवलचक्षुषा।
प्रकृष्ट-पुण्य-सामर्थ्यात् प्रातिहार्यसमन्वितः ।।३०९।।
अवन्ध्य-देशनः श्रीमान् यथाभव्य-नियोगतः।
महात्मा केवली कश्चिद् देशनायां प्रवर्तते।।३१०।।

अन्वय :– केवलचक्षुषा अतीन्द्रियान् अर्थान् साक्षात् दृष्ट्वा प्रकृष्ट-पुण्य-सामर्थ्यात् प्रातिहार्यसमन्वितः श्रीमान् अवन्ध्य-देशनः कश्चित् केवली महात्मा यथाभव्य-नियोगतः देशनायां प्रवर्तते।

सरलार्थ :– केवलज्ञान तथा केवलदर्शरूप चक्षु से अतींद्रिय पदार्थों को साक्षात्/प्रत्यक्ष देखकर जानकर विशेष पुण्य् के सामर्थ्य से अष्ट प्रातिहार्य से सहित अंतरंग तथा बहिरंग-लक्ष्मी से संपन्न – अमोघ देशना-शक्ति को प्राप्त कोई केवली महात्मा, जैसा भव्य जीवों का नियोग अर्थात् भाग्य होता है, तदनुसार देशना अर्थात् धर्मोपदेश देने में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ :– तेरहवें गुणस्थानवर्ती अरहंत भगवान के स्वरूप का कथन इस श्लोक में किया है। अष्ट प्रातिहार्य का निम्न प्रकार आगम में उल्लेख है – १. अशोक वृक्ष, २. पुष्पवृष्टि, ३. दिव्यध्वनि, ४. चंवर, ५. छत्र, ६. सिंहासन, ७. भामण्डल, ८. दुंदुभि। इनका स्वरूप तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ में विस्तार से प्राप्त होता है।

अवंध्य अर्थात् अमोघ। देशना को अमोघ बताकर ग्रंथकार उनके उपदेश को सफल ही बताना चाहते हैं अर्थात् उनके उपदेश से अनेक जीवों को मोक्षमार्ग की नियम से प्राप्ति होती है; ऐसा समझना।

यहाँ 'कश्चिद्' शब्द आया है – उसका भाव यह है कि जो-जो केवली बन गये वे सब उपदेश देते हैं, ऐसा नियम नहीं है। जो मूककेवली, अंतःकृत केवली होते हैं, उनका उपदेश नहीं होता।

आत्मा का स्वरूप ज्ञान है –

विभावसोरिवोष्णत्वं चरिष्णोरिव चापलम्।
शशाङ्कस्येव शीतत्वं स्वरूपं ज्ञानमात्मनः ।।३११।।

अन्वय :– विभावसोः उष्णत्वं इव, चरिष्णोः चापलं इव शशाङ्कस्य (च) शीतत्त्वं इव ज्ञानं आत्मनः स्वरूपं (अस्ति)।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :– जिसप्रकार सूर्य का स्वरूप उष्णपना, वायु का स्वरूप चंचलपना और चन्द्रमा का स्वरूप शीतलपना है; उसीप्रकार आत्मा का स्वरूप ज्ञान है।

भावार्थ :– ज्ञान ही आत्मा का स्वरूप है, इस विषय को अनेक उदाहरण देकर इस श्लोक में बताया है। तत्त्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय के आठवें सूत्र में **'उपयोगो लक्षणम्'** इस सूत्र द्वारा आचार्य उमास्वामी ने ज्ञान-दर्शनस्वरूप उपयोग को ही आत्मा का लक्षण बताया है। आचार्य अमृतचंद्र ने समयसार कलश ६२ में, आचार्य कुंदकुंद ने समयसार गाथा ३८ एवं ७३ में, आचार्य नेमिचंद्र ने द्रव्यसंग्रह गाथा ६ में जीव को ज्ञानमय ही बताया है। वास्तविक देखा जाय तो जीव ज्ञानमय अर्थात् ज्ञाता-दृष्टा है, यह समझाने के लिये ही संपूर्ण जिनवाणी समर्पित है।

निमित्त के सद्भाव से नैमित्तिक कार्य –

चैतन्यमात्मनो रूपं तच्च ज्ञानमयं विदुः।
प्रतिबन्धक-सामर्थ्यान्न स्वकार्ये प्रवर्तते॥३१२॥

अन्वय :– आत्मनः रूपं चैतन्यं (अस्ति) तत् च ज्ञानमयं विदुः, (तत् चैतन्यं) प्रतिबन्धक सामर्थ्यात् स्वकार्ये न प्रवर्तते।

सरलार्थ :– आत्मा का रूप अर्थात् स्वरूप चैतन्य है और वह चैतन्य ज्ञानमय है; तथापि मोहनीय आदि चारों प्रतिबंधक/विरोधक घाति कर्मों के सामर्थ्य से अर्थात् निमित्त से वह चैतन्य अपने केवलज्ञानादि कार्यों में प्रवृत्त नहीं होता।

भावार्थ :– इस श्लोक में ग्रंथकार मोहादि घाति कर्मों का नैमित्तिक कार्य स्पष्ट कर रहे हैं।

प्रश्न :– श्लोक में प्रतिबंधक/विरोधक के सामर्थ्य से ऐसा शब्द है उसका अर्थ आपने निमित्त कर दिया, यह हमें गलत लगता है; जिस शब्द का जो अर्थ है वही करना चाहिए न?

उत्तर :– भाई ! हमने आचार्यों के अभिप्राय को स्पष्ट करने का प्रयास किया है, वह आपको गलत लगता है, तो हम क्या करें? इसी मोक्षाधिकार के दूसरे श्लोक में **मोह-विघ्नावृति-क्षये** इन शब्दों से केवलज्ञान के उदय में बाधक निमित्तरूप कर्मों के क्षय की बात कही है और इस श्लोक में उन ही कर्मों के उदयरूप निमित्त की बात आचार्य समझाते हैं। हमने तो आचार्यों के कथन का भाव/अभिप्राय ग्रहण करके विषय को सुलभ बनाया है।

निमित्त का ज्ञान कराते समय ग्रंथकार निमित्तों को बलवान, समर्थ, अतिसमर्थ, महा सामर्थ्यशाली इत्यादि शब्दों से व्यवहारनय द्वारा समझाते ही हैं। ग्रंथकार का प्रत्येक शब्द की विवक्षा मान्य करके यथार्थ अर्थ समझना आवश्यक है। जीव जब अपने उपादान से अर्थात् अपनी पुरुषार्थहीनता से केवलज्ञान प्रगट नहीं करेगा, तब मोहादि कर्मों का उदय रहेगा ही; इसी परिस्थिति को आचार्यों ने कर्मों का सामर्थ्य बताया है। कार्य के समय परद्रव्य की कार्यानुकूल पर्याय के अस्तित्व को निमित्त कहते हैं। कर्म, जीव के कार्य में अपनी बलवत्ता से कुछ करता है, ऐसा समझना वस्तु-स्वरूप नहीं है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निमित्त के अभाव से नैमित्तिक कार्य –

ज्ञानी ज्ञेये भवत्यज्ञो नासति प्रतिबन्धके।
प्रतिबन्धं विना वह्निर्न दाह्येऽदाहकः कदा ॥३१३॥

अन्वय :– यथा वह्निः दाह्ये प्रतिबन्धं विना अदाहकः कदा (भवति) ? (तथा एव) प्रतिबन्धके न असति ज्ञानी ज्ञेये अज्ञः (कदा भवति?)कदापि न।

सरलार्थ :– जिसप्रकार अग्नि दाह्य अर्थात् सूखे इंधन के समीप उपस्थित होनेपर और प्रतिबंधक/विरोधी निमित्तों का अभाव हो तो अग्नि जलनेयोग्य पदार्थों में अदाहक कब होती है? दाह्य पदार्थों को जलाती ही है। उसीप्रकार ज्ञेय वस्तुओं की उपस्थिति होने पर और जानने में मोहादि कोई कर्म प्रतिबंधक/विरोधी न हो तो ज्ञानी ज्ञेयों के संबंध में अनभिज्ञ नहीं रहता अर्थात् सर्व ज्ञेयों को जानता ही है।

भावार्थ :– पिछले श्लोक के समान इस श्लोक में भी ग्रंथकार निमित्त-नैमित्तिक संबंध को ही बता रहे हैं; अंतर मात्र इतना है कि पिछले श्लोक में मोहादि कर्मोदय के निमित्त से पूर्णज्ञान का अभाव कहा है और इस श्लोक में मोहादि कर्मों के अभाव के निमित्त से पूर्णज्ञान का सद्भाव बता रहे हैं।

प्रश्न :– घातिकर्मों के अभाव ने ही केवलज्ञान को उत्पन्न किया, ऐसा समझने में क्या आपत्ति है?

उत्तर :– बहुत बडी आपत्ति है। जो स्वयं मर रहे हैं वे कर्म दूसरे को जीवनदान दे सकते हैं, यह मानना अति हास्यास्पद है। पुद्गल की कर्मरूप अवस्था का नाश स्वयं हो रहा है, वह केवलज्ञानरूप जीव की अवस्था को कैसे उत्पन्न कर सकेगी ? जीव के ज्ञान गुण को अर्थात् केवलज्ञानरूप पूर्ण एवं शुद्ध पर्याय को जीव ने अथवा ज्ञानगुण ने किया, यह कथन उपादानमूलक होने से यथार्थ है और इस केवलज्ञान पर्याय में मोहादि कर्मों का अभाव निमित्त है, यह निमित्त की अपेक्षा से किया गया व्यवहारनय का कथन है; ऐसा समझना शास्त्रानुकूल है।

केवलज्ञान में क्षेत्रगत दूरी बाधक नहीं है –

प्रतिबन्धो न देशादि-विप्रकर्षोऽस्य युज्यते।
तथानुभव-सिद्धत्वात् सप्तहेतेरिव स्फुटम् ॥३१४॥

अन्वय :– सप्तहेतेः इव अस्य (केवलज्ञानिनः ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञातुं) देशादि-विप्रकर्षः प्रतिबन्धः न युज्यते (यतः) तथा स्फुटं अनुभव-सिद्धत्वात्।

सरलार्थ :– जिसप्रकार पृथ्वी और सूर्य के मध्य की दूरी में – जितने भी छोटे-बड़े जीवादि पदार्थ स्थित हैं, वे सभी सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं, तब दूरी का विषय सूर्य के प्रकाशकत्व में विरोधरूप/बाधक नहीं होता, यह अनुभवसिद्ध है; उसीप्रकार केवलज्ञानी का ज्ञान क्षेत्र की अपेक्षा से दूरवर्ती मेरु पर्वतादि, अन्तरित राम-रावणादि और सूक्ष्म परमाणु-कालाणु आदि ज्ञेय उन सबको केवलज्ञान जब जानता है, तब उस दूरवर्ती पदार्थ की क्षेत्रगत दूरी जानने में बाधक नहीं हो सकती।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– इस श्लोक में ग्रंथकार केवलज्ञान की विशेषता बता रहे हैं। केवलज्ञानी जीव के निकट और दूरवर्ती क्षेत्र में स्थित सभी ज्ञेय ज्ञान के समान रीति से विषय होने से उनके जानने में क्षेत्रगत दूरी को बाधा के लिये कोई स्थान नहीं रहता; यह क्षेत्रगत दूरीरूप बाधा का परिहार हुआ; जो इस श्लोक में बताया है।

इसीतरह काल का अंतर भी जानने में बाधक नहीं होता। जैसे करोड़ों वर्षों पहले राम-रावणादि अथवा आदिनाथ तीर्थंकर आदि इस पृथ्वी पर विराजमान थे। वे काल की अपेक्षा दूर हैं। आज की वस्तु को जानना और करोडों अथवा असंख्यात, अनंत वर्षों के पहले जो वस्तु थी, उसे जानना – दोनों को जानने में स्पष्टता समान है; यह काल से दूरवर्तीपना केवलज्ञानी के लिये कुछ बाधक नहीं है।

द्रव्यगत जो सूक्ष्मता है, वह भी एक अपेक्षा से दूरपना ही है। जैसे कालाणु, परमाणु, प्रदेश आदि सूक्ष्म को और मेरूपर्वत आदि स्थूल दोनों को केवलज्ञानी स्पष्ट ही जानते हैं।

इस विषय को आचार्य समंतभद्र रचित देवागम स्तोत्र के निम्न श्लोक से अधिक स्पष्ट जान सकते हैं –

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद् यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥5॥

अर्थ :– परमाणु आदि सूक्ष्म, राम आदिक अन्तरित एवं मेरु आदि दूरवर्ती पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं; क्योंकि वे अनुमान से जाने जाते हैं। जो-जो अनुमान से जाने जाते हैं, वे किसी के प्रत्यक्ष भी होते हैं। जैसे दूरस्थ अग्नि का हम धूम देखकर अनुमान कर लेते हैं कि कोई उस अग्नि को प्रत्यक्ष भी तो जानता है। उसीप्रकार सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों को हम अनुमान से जानते हैं तो कोई उन्हें प्रत्यक्ष भी जान सकता है। इसप्रकार सामान्य से सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध होती है।

ज्ञेय स्वभाव के कारण आत्मा सर्वज्ञ –

सामान्यवद् विशेषाणां स्वभावो ज्ञेयभावतः।
ज्ञायते स च वा साक्षाद् विना विज्ञायते कथम् ॥३१५॥

अन्वय :– सामान्यवत् विशेषाणां स्वभावः ज्ञेयभावतः ज्ञायते सः (स्वभावः) च साक्षात् (ज्ञानं) विना वा कथं विज्ञायते?

सरलार्थ :– सर्व पदार्थों में ज्ञेयभाव अर्थात् प्रमेयत्वगुण होने से जिसप्रकार वस्तु के सामान्यस्वभाव को ज्ञान जानता है; उसीप्रकार वस्तु के विशेषस्वभाव को भी ज्ञान जानता ही है; केवलज्ञान के बिना सम्पूर्ण पदार्थों को विशद-स्पष्टरूप से कैसे जाना जा सकता है अर्थात् नहीं जाना जा सकता।

भावार्थ :– इस श्लोक में प्रमेयत्व नामक सामान्यगुण के आधार से जीव को सर्वज्ञस्वभावी सिद्ध किया है। श्लोक में ज्ञेयभावतः शब्द का प्रयोग किया है। ज्ञेयभाव और प्रमेयभाव – ये दोनों

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शब्द एकार्थवाची हैं। प्रमेयभाव और प्रमेयत्व गुण दोनों का भी अर्थ एक ही है। प्रमेयत्वगुण, द्रव्य का सामान्यगुण है। प्रमेयत्वगुण के कारण ही जीवादि सर्व द्रव्य, उनके अनंतानंत गुण और उन गुणों की अनंतानंत पर्यायें ज्ञान की ज्ञेय बनती हैं, इसकारण से केवलज्ञान की सिद्धि होती है।

प्रमेयत्व गुण के कारण ही कोई भी द्रव्य, गुण अथवा पर्याय ज्ञान से छिपकर गुप्त नहीं रह सकते। ज्ञान का ज्ञेय बनना पदार्थों के स्वरूप में गर्भित हैं। वे पदार्थ भले सूक्ष्म हों, अंतरित हों अथवा दूर हों, वे सब ज्ञान से जाने ही जाते हैं; यह नियम है।

ज्ञान गुण जाननरूप पर्याय से जानने का काम करता है। जो जाननरूप पर्याय हीनाधिक होती है, वह पूर्ण भी नियम से हो सकती है। इस तर्क के आधार से भी पूर्णज्ञान अर्थात् केवलज्ञान की सिद्धि होती है। जिनधर्म का मूल तो सर्वज्ञता ही है। यदि सर्वज्ञता न मानी जाय तो देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप का अस्तित्व ही नहीं बन सकता। जैन न्यायशास्त्र बहुभाग सर्वज्ञता की सिद्धि के लिये ही समर्पित है।

प्रमेयत्व गुण के कारण ही मिथ्यादृष्टि जीव अपने ज्ञायकस्वभावी भगवान आत्मा को ज्ञान का ज्ञेय बनाकर सम्यग्दृष्टि होता है। प्रमेयत्वगुण की परिभाषा निम्नप्रकार है – जिस शक्ति के कारण द्रव्य ज्ञान का विषय/ज्ञेय होता है, उसे प्रमेयत्वगुण कहते हैं। इसका कथन देवसेन आचार्यकृत आलापपद्धति गुणाधिकार सूत्र-९, एवं गुणव्युत्पत्ति अधिकार सूत्र ९८ में आया है। जिज्ञासु उसे जरूर देखें। पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट से प्रकाशित जिनधर्म-प्रवेशिका में पृष्ठ ३४, ३६ पर भी प्रमेयत्वगुण का कथन आया है, उसे देखें।

ज्ञान के कारण आत्मा सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी –

सर्वज्ञः सर्वदर्शी च ततो ज्ञानस्वभावतः।
नास्य ज्ञान-स्वभावत्वमन्यथा घटते स्फुटम्॥३१६॥

अन्वय :– ततः ज्ञानस्वभावतः (एव आत्मा) सर्वज्ञः सर्वदर्शी च (अस्ति)। अन्यथा (सर्वज्ञत्व-सर्वदर्शित्व-अभावे) अस्य (आत्मनः) स्फुटं ज्ञान-स्वभावत्वं अपि न घटते।

सरलार्थ :– इस ज्ञानस्वभाव के कारण ही आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है। यदि आत्मा को सर्वज्ञ और सर्वदर्शी नहीं माना जाय तो आत्मा का ज्ञानस्वभाव भी घटित नहीं हो सकता।

भावार्थ :– इस श्लोक में आत्मा को ज्ञान स्वभाव के कारण सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी बतला रहे हैं।

प्रश्न :– ज्ञानस्वभाव के कारण आत्मा सर्वज्ञ हो सकता है/ होता है; यह विषय तो हमें समझ में आ गया, लेकिन ज्ञानस्वभाव के कारण ही आत्मा को सर्वदर्शी/केवलदर्शी कैसे माना जा सकता है ?

उत्तर :– आपको सर्वज्ञ मानने में यदि कोई आपत्ति नहीं है तो इस सर्वज्ञत्व की मान्यता में सर्वदर्शित्व मानना भी गर्भित हो गया; क्योंकि केवलज्ञान के साथ-साथ ही केवलदर्शन होने का नियम होने से यह स्वयमेव सिद्ध हो गया कि ज्ञानस्वभाव के कारण आत्मा केवलदर्शी अर्थात् सर्वदर्शी भी है। आगमाभ्यासी यह तो जानते ही हैं कि केवलदर्शन को छोड़कर अन्य तीनों दर्शन

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(चक्षु-अचक्षु और अवधिदर्शन) ज्ञान के पूर्व होते हैं और केवलदर्शन केवलज्ञान के साथ ही होता है।

इस श्लोक के द्वितीय चरण में ग्रंथकार बता रहे हैं – यदि आत्मा को सर्वज्ञ-सर्वदर्शी नहीं माना जायेगा तो आत्मा का ज्ञानस्वभाव भी घटित नहीं होगा। इस श्लोकार्ध में ग्रंथकार कार्य से कारण का ज्ञान करा रहे हैं। केवलज्ञान यह कार्य है और इस कार्य से ही आत्मा को ज्ञानस्वभावी मानना आवश्यक है।

सिद्ध होने का साक्षात् साधन –

वेद्यायुर्नाम-गोत्राणि यौगपद्येन केवली।
शुक्लध्यान-कुठारेण छित्त्वा गच्छति निर्वृतिम् ॥३१७॥

अन्वय :– केवली वेद्य-आयुर्नाम-गोत्राणि (कर्माणि) शुक्लध्यान-कुठारेण यौगपद्येन छित्त्वा निर्वृतिं गच्छति।

सरलार्थ :– केवलज्ञानी अरहंत परमात्मा वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चारों ही अघाति कर्मों को शुक्लध्यानरूपी कुठार से एक साथ छेदकर सिद्ध अवस्था को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ :– ज्ञानावरणादि आठ कर्मों में से अरहंत परमात्मा के मात्र अघाति कर्मों की सत्ता रहती है। केवलज्ञान के कारण अनंतज्ञानादि प्रगट/व्यक्त हो गये हैं; तथापि अभी सिद्ध-अवस्था की प्राप्ति होना बाकी है। तेरहवें गुणस्थान के अन्त में सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और चौदहवें गुणस्थान के अन्त में व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक शुक्लध्यान होते हैं, जिनसे चौदहवें गुणस्थान के उपान्त्य समय में ७२ और अंतिम समय में १३ प्रकृतियों का क्षय करके अरहंत परमात्मा, सिद्ध-पद प्राप्त करते हैं; अब यही सिद्ध अवस्था अनंतकाल पर्यंत रहेगी।

वीतरागी जीव को मुक्ति की प्राप्ति होती है –

कर्मैव भिद्यते नास्य शुक्ल-ध्यान-नियोगतः।
नासौ विधीयते कस्य नेदं वचनमञ्चितम् ॥३१८॥
कर्म-व्यपगमे राग-द्वेषाद्यनुपपत्तितः।
आत्मनः संगरागाद्याः न नित्यत्वेन संगताः ॥३१९॥

अन्वय :– (यदि कोऽपि) (कथयेत्) अस्य (केवलिनः) शुक्ल-ध्यान-नियोगतः कर्म एव न भिद्यते। असौ (मोक्षः च) कस्य (अपि) न विधीयते इदं वचनं न अञ्चितम्।

(यतो हि) आत्मनः संगरागाद्याः नित्यत्वेन न संगताः (सन्ति), कर्म-व्यपगमे राग-द्वेषादि-अनुपपत्तितः।

सरलार्थ :– यदि कोई कहे – अरहंत परमात्मा केवलज्ञानी के शुक्लध्यान के नियोग से कर्म सर्वथा भेद को प्राप्त नहीं होते अर्थात् कर्मों का नाश नहीं होता और किसी भी जीव को कभी मोक्ष प्राप्त नहीं होता है; तो यह कथन असत्य है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

क्योंकि आत्मा के राग-द्वेष-मोह परिणाम अशाश्वत हैं। कर्मों का विनाश होने पर राग-द्वेषादि की उत्पत्ति ही नहीं होती है।

भावार्थ :– शंकाकार ने शुक्लध्यान से कर्मों का भेद (नाश) न होना और मुक्ति की अप्राप्ति की बात की है। ग्रंथकार ने सीधा शंका का समाधान तो नहीं दिया; लेकिन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय कहा कि जीव में उत्पन्न रागादि परिणाम अशाश्वत हैं। जीव स्वभाव से ही अरागी है। अरहंत अवस्था में रागादि के अभाव से नवीन कर्मबन्ध न होने की और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होने की भी बात स्पष्ट की है, जिससे मुक्ति का होना अनिवार्य है।

सिद्ध परमात्मा पुनः संसार में नहीं आते –

न निर्वृतः सुखीभूतः पुनरायाति संसृतिम्।
सुखदं हि पदं हित्वा दुःखदं कः प्रपद्यते।।३२०।।

अन्वय :– (यथा) हि सुखदं पदं हित्वा दुःखदं (पदं) कः प्रपद्यते ? (कः अपि न; तथा एव) सुखीभूतः निर्वृतः (सिद्ध-परमात्मा) संसृतिं पुनः न आयाति।

सरलार्थ :– लौकिक जीवन में जिसतरह कोई भी मनुष्य अपनी इच्छा से सुखदायक पद/स्थान को छोड़कर दुःखदायक स्थान का स्वीकार नहीं करता; उसीतरह अव्याबाध अनंत सुखमय सिद्ध स्थान को छोड़कर सिद्ध परमात्मा संसारी नहीं होते।

भावार्थ :– इस श्लोक में मुक्त जीव पुनः संसारी नहीं होते, इस विषय को स्पष्ट किया है। जीव जहाँ असंतुष्ट होता है, वहाँ से दूसरे स्थान पर जाने का प्रयास करता है, जाता है। मुक्त अवस्था में कुछ असंतोष अथवा अधूरेपने की बात ही नहीं है; अतः फिर संसार में अवतार लेने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

प्रश्न :– अनेक परमात्माओं/भगवन्तों ने दूसरों के उद्धार के लिये अवतार लिया और उद्धार भी किया ऐसा सुनने को मिलता है?

उत्तर :– जो-जो सुनने को मिलता है, वह सत्य ही होता है; ऐसा नियम तो है नहीं। यदि किसी ने सचमुच अवतार लिया ही है तो वे मुक्त ही नहीं हुए थे, ऐसा समझना चाहिए; क्योंकि मुक्त जीव को अवतार लेने की इच्छा ही नहीं होती और आवश्यकता भी नहीं पड़ती। जहाँ से पुनः कहीं भी जाने की इच्छा ही न हो, उसी अवस्था का नाम मुक्त अवस्था है। जिनागम में किसी ने अवतार लिया है, ऐसा कथन भी नहीं मिलता।

वस्तु-व्यवस्था ही इतनी मधुर और अलौकिक है कि दुःखमय संसार अवस्था से अलग होकर मात्र अनंत सुखमय अवस्थारूप मोक्ष तो प्राप्त होता है, लेकिन पुनः सर्वथा सुखमय सिद्धावस्था को छोड़कर दुःखमय संसार में भटकना नहीं होता। जैसे दूध से विशिष्ट प्रक्रियापूर्वक घी तो निकाला जा सकता है; परंतु घी पुनः दूधरूप परिणत नहीं होता। सुवर्ण का दृष्टांत भी प्रसिद्ध ही है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सिद्धात्मा, शरीर ग्रहण नहीं करते –

शरीरं न स गृह्णाति भूयः कर्म-व्यपायतः।
कारणस्यात्यये कार्यं न कुत्रापि प्ररोहति॥३२१॥

अन्वय :– सः (मुक्तात्मा) कर्म-व्यपायतः भूयः शरीरं न गृह्णाति (यतः) कारणस्य अत्यये कार्यं कुत्र अपि न प्ररोहति।

सरलार्थ :– अनंत सुखी एवं शरीर रहित मुक्तात्मा ज्ञानावरणादि आठों कर्मों का विनाश हो जाने से पुनः विनाशीक शरीर को ग्रहण नहीं करते; क्योंकि कारण का नाश हो जाने पर कहीं और कभी भी कार्य उत्पन्न नहीं होता।

भावार्थ :– सिद्धात्मा संसारी नहीं होते – इसीका पुनः खुलासा किया है और इस श्लोक में नामकर्मरूप कारण का अभाव ही हो गया है, अतः शरीर पुनः प्राप्त न होने की बात भी कही है।

ज्ञान, जड़ का धर्म नहीं –

न ज्ञानं प्राकृतो धर्मो मन्तव्यो मान्य-बुद्धिभिः।
अचेतनस्य न ज्ञानं कदाचन विलोक्यते॥३२२॥

अन्वय :– मान्य-बुद्धिभिः ज्ञानं प्राकृतः धर्मः न मन्तव्यः (यतः) अचेतनस्य (पदार्थस्य) ज्ञानं कदाचन न विलोक्यते।

सरलार्थ :– जो मान्यबुद्धि अर्थात् विवेकशील विद्वान् हैं, उन्हें ज्ञान गुण को प्रकृति अर्थात् जड का धर्म नहीं मानना चाहिए; क्योंकि अचेतन पदार्थ में ज्ञानगुण कभी किसी को प्रत्यक्ष में देखने को नहीं मिलता।

भावार्थ :– इस श्लोक में सांख्यमतानुयायी शिष्य को अत्यंत सन्मानपूर्वक समझाने का प्रयास किया है। सांख्य मूल में दो पदार्थ अर्थात् प्रकृति और पुरुष मानते हैं। वहाँ प्रकृति स्वयं जड़ है तथा उसका धर्म ज्ञान है और पुरुष अर्थात् आत्मा ज्ञानगुण से हीन है, ऐसा भी मानते हैं। उन्हें प्रत्यक्षरूप ज्ञान से समझा रहे हैं कि अचेतन में ज्ञान देखने को नहीं मिलता। जो कोई जीव प्रत्यक्षज्ञान से ज्ञात विषय को भी नहीं मानता उसे कौन समझा सकता है ? अर्थात् कोई समझा नहीं सकता।

कर्मों के नाश के समान ज्ञान का नाश नहीं –

दुरितानीव न ज्ञानं निर्वृतस्यापि गच्छति।
काञ्चनस्य मले नष्टे काञ्चनत्वं न नश्यति॥३२३॥

अन्वय :– (यथा) काञ्चनस्य मले नष्टे काञ्चनत्वं न नश्यति (तथा एव) निर्वृतस्य (सिद्धस्य) अपि दुरितानि इव ज्ञानं न गच्छति।

सरलार्थ :– जिसप्रकार अशुद्ध सुवर्ण को शुद्ध करते समय सुवर्ण में से अशुद्धता नष्ट होती है; तथापि सुवर्ण नष्ट नहीं होता, उसीप्रकार मुक्तात्मा/सिद्धात्मा के ज्ञानावरणादि आठों कर्मों के नाश के समान सिद्धों के ज्ञान गुण का नाश नहीं होता।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– यदि कोई वैशेषिक मत का पक्ष लेकर यह कहे कि मुक्त आत्मा के जिसप्रकार कर्म नष्ट होते हैं, उसीप्रकार ज्ञानगुण भी नष्ट हो जाता है, तो यह कथन भी ठीक नहीं। सुवर्ण का दृष्टान्त स्पष्ट है।

गुणों के अभाव से गुणी का अभाव –

न ज्ञानादि-गुणाभावे जीवस्यास्ति व्यवस्थितिः।
लक्षणापगमे लक्ष्यं न कुत्राप्यवतिष्ठते।।३२४।।

अन्वय :– जीवस्य ज्ञानादि-गुणाभावे (जीवस्य) व्यवस्थितिः न अस्ति; लक्षणापगमे लक्ष्यं कुत्र अपि न अवतिष्ठते।

सरलार्थ :– जीव के ज्ञान-दर्शनादि गुणों का अभाव मान लेने पर जीव द्रव्य की उपस्थिति/ सत्ता नहीं रह सकती; क्योंकि ज्ञानरूप लक्षण का अभाव होनेपर जीवरूप लक्ष्य कहीं नहीं ठहरता है।

भावार्थ :– वास्तव में ज्ञानादि गुणों का अभाव होने पर तो जीव की कोई व्यवस्थिति ही नहीं बनती; क्योंकि ज्ञान-दर्शन गुण जीव के लक्षण हैं; जैसा कि जीवाधिकार में बताया जा चुका है। लक्षण का अभाव होने पर लक्ष्य का फिर कोई अस्तित्व नहीं बनता। ऐसी स्थिति में वैशेषिकों ने बुद्ध्यादि वैशेषिक गुणों के उच्छेद को मोक्ष माना है, वह तर्क-संगत मालूम नहीं होता – उनके यहाँ तब जीव का अस्तित्व भी नहीं बनता। गुणों का अभाव हो जाय और गुणी बना रहे यह कैसे हो सकता है? – नहीं हो सकता।

कर्मबंध को मात्र जानने से मुक्ति नहीं –

विविधं बहुधा बन्धं बुध्यमानो न मुच्यते।
कर्म-बद्धो विनोपायं गुप्ति-बद्ध इव ध्रुवम्।।३२५।।

अन्वय :– गुप्ति-बद्धः इव कर्म-बद्धः विविधं बन्धं बहुधा बुध्यमानः (अपि) उपायं विना न मुच्यते ध्रुवम्।

सरलार्थ :– जिसप्रकार कारागृह में पडा हुआ बंदी/कैदी "मैं कारागृह में कैद हूँ" इसप्रकार मात्र जानने से कारागृह से मुक्त नहीं होता; उसीप्रकार ज्ञानावरणादि कर्मों से बंधा हुआ संसारी जीव अनेक प्रकार के कर्म-बंधनों को बहुधा/अनेक प्रकार से मात्र जानता हुआ कर्मों से छूटने का वास्तविक उपाय किये बिना मुक्त नहीं होता, यह निश्चित है।

भावार्थ :– समयसार गाथा २८८ से २९१ पर्यंत इन चार गाथाएँ एवं इन गाथाओं की टीका तथा भावार्थ को सूक्ष्मता से देखने पर ग्रंथकार का अभिप्राय विशदरूप से समझ में आयेगा। समयसार के उक्त अंश को मात्र एक ही श्लोक में देने का यहाँ प्रयत्न किया है।

यथार्थ उपाय करने से मुक्ति –

विभेदं लक्षणैर्बुद्ध्वा स द्विधा जीव-कर्मणोः।
मुक्तकर्मात्मतत्त्वस्थो मुच्यते सदुपायवान्।।३२६।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्वय :– यः जीव-कर्मणोः लक्षणैः द्विधा विभेदं बुद्ध्वा मुक्त-कर्म-आत्मतत्त्वस्थः सः सदुपायवान् मुच्यते।

सरलार्थ :– जो जीव और कर्म को अपने-अपने लक्षणों से दो प्रकार के भिन्न-भिन्न पदार्थ जानकर कर्म को छोड़ देते हैं/कर्म से उपेक्षा धारण करते हैं अर्थात् द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म के मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं और आत्मा में लीन रहते हैं, वे सद्/यथार्थ उपायवान कर्मों से छूटते हैं अर्थात् मुक्त हो जाते हैं।

भावार्थ :– समयसार २९२ से २९९ पर्यंत की गाथाएँ, इन गाथाओं की टीका, कलश एवं भावार्थ में मुक्ति-प्राप्ति के यथार्थ उपाय विषयक विशद विवेचन आया है, उसे जरूर देखें। इस पूरे प्रकरण को ग्रंथकार ने मात्र एक ही श्लोक में देने का सफल प्रयास किया है।

२९७ गाथा का भावार्थ भी विशेष उपयोगी है। उसका अंतिम वाक्य निम्न प्रकार है – ''इसप्रकार प्रज्ञा के द्वारा आत्मा को ग्रहण करना चाहिए अर्थात् अपने को चेतयिता के रूप में अनुभव करना चाहिए।''

एक ही जीव, अपेक्षा से दो प्रकार का –

एको जीवो द्विधा प्रोक्तः शुद्धाशुद्ध-व्यपेक्षया।
सुवर्णमिव लोकेन व्यवहारमुपेयुषा।।३२७।।

अन्वय :– व्यवहारं उपेयुषा लोकेन सुवर्णं इव एकः जीवः शुद्धाशुद्ध-व्यपेक्षया द्विधा प्रोक्तः।

सरलार्थ :– जिसप्रकार व्यवहारीजन एक ही सुवर्ण को शुद्ध सुवर्ण और अशुद्ध सुवर्ण – इसतरह दो प्रकार का कहते हैं; उसीप्रकार व्यवहारीजन एक ही जीव को शुद्ध जीव और अशुद्ध जीव – इसतरह दो प्रकार का कहते हैं।

भावार्थ :– जिसप्रकार सुवर्ण धातु को उसके स्वभाव की अपेक्षा से देखते हैं तो सुवर्ण एक ही है, उसमें भेद कहाँ से आयेगा? स्वभाव में भेद कैसा ? और यदि स्वभाव में भी भेद मान लिया तो वह स्वभाव कैसा? स्वभाव अनादि-अनंत, एकरूप, शुद्ध एवं अकारण होता है। मात्र सुवर्ण ही नहीं जो जो मूल धातु अथवा द्रव्य रहता है, वह शुद्ध ही रहता है।

जब सुवर्ण, किट्ट-कालिमा के संयोग में होता है, तब अथवा जब वह तांबा, चांदी, आदि अन्य धातु के संयोग में आता है तब उसे अशुद्ध कहते हैं। जब किट्ट-कालिमा आदि से अथवा तांबा, चांदी से रहित होता है तब सुवर्ण को शुद्ध कहते हैं। पहले बताई गयी शुद्धता स्वाभाविक है, बाद में कही गई शुद्धता पर्यायगत शुद्धता है, ऐसा समझना चाहिए।

इसीप्रकार व्यवहारीजन एक ही जीव के संबंध में समझते हैं। इसका खुलासा अगले श्लोक तथा उसके भावार्थ में किया है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जीव के भेदों का लक्षण –

संसारी कर्मणा युक्तो मुक्तस्तेन विवर्जितः।
अशुद्धस्तत्र संसारी मुक्तः शुद्धोऽपुनर्भवः॥३२८॥

अन्वय :– कर्मणा युक्तः (जीवः) संसारी, तेन विवर्जितः मुक्तः (अस्ति)। तत्र संसारी अशुद्धः (च) मुक्तः शुद्धः अपुनर्भवः।

सरलार्थ :– जो जीव ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से सहित हैं, उन्हें संसारी जीव कहते हैं और जो जीव ज्ञानावरणादि आठों कर्मों से रहित हैं, उन्हें मुक्त जीव कहते हैं। इन दोनों में जो संसारी हैं, वे अशुद्ध जीव हैं और जो मुक्त हैं, उन्हें शुद्ध कहते हैं, जिनका नाम अपुनर्भव भी है।

भावार्थ :– अनादि-अनंत स्वभाव की अपेक्षा से देखा जाय तो जीवतत्त्व शुद्ध ही है, किसी भी विकारी परिणामों का प्रवेश आजतक शुद्ध जीवतत्त्व में हुआ ही नहीं, भविष्य में भी कभी होगा नहीं और वर्तमान काल में भी सर्व विभाव भावों से रहित ही है। पर्यायगत शुद्धपर्यायों से भी जीवतत्त्वगत शुद्धता अप्रभावित है। इसी विषय को समयसार की छठी गाथा में प्रमत्त और अप्रमत्तभावों से रहित जीव ज्ञायकस्वभावी – ऐसा कहा है।

इसी जीवतत्त्व को पर्याय की मुख्यता से शुद्ध और अशुद्ध जीव कहा है। ज्ञानावरणादि आठों कर्मों से रहित जीव को शुद्धजीव कहा है। पहले जीव के शुद्धता संबंधी जो कथन किया है, वह द्रव्यगत अनादि-अनंत स्वाभाविक शुद्धता की बात कही है, जिसे जीवतत्त्व कहते हैं। और आठों कर्मों से रहित जीव को जो शुद्ध कहा गया है, वह पर्यायगत शुद्धता की बात है। दोनों में जो भेद है, उसे बराबर समझना चाहिए।

जीवतत्त्वगत शुद्धता का ध्यान करने के बाद पर्यायगत शुद्धता प्राप्त होती है, जिसे मुक्त अवस्था कहते हैं। अभव्य जीव भी स्वभाव से शुद्ध ही है; लेकिन पर्याय में वह कभी सिद्ध-समान शुद्ध नहीं हो पायेगा। सिद्ध अवस्था प्राप्त होने के बाद भी सिद्ध जीव स्वभाव से तो शुद्ध रहते ही हैं। किसी भी जीव की स्वभावगत शुद्धता का नाश होता नहीं। निगोद अवस्था में भी यह स्वभावरूप शुद्धता बराबर बनी रहती है। नियमसार की ४७वीं गाथा में शुद्ध स्वभाव को निम्नप्रकार व्यक्त किया है –

जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीव तारिसा होंति।
जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण॥

गाथार्थ:– जैसे सिद्ध आत्मा हैं वैसे भवलीन जीव हैं, जिससे वे जन्म-जरा-मरण से रहित और आठ गुणों से अलंकृत हैं।

शुद्ध जीव को अपुनर्भव कहने का कारण –

भवं वदन्ति संयोगं यतोऽत्रात्म-तदन्ययोः।
वियोगं तु भवाभावमापुनर्भविकं ततः॥३२९॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्वय :– यत: अत्र आत्म-तदन्ययो: (आत्म-पुद्गलकर्मयो:) संयोगं भवं वदन्ति, वियोगं तु भव-अभावं; तत: (मुक्तजीव:) आपुनर्भविकं।

सरलार्थ :– क्योंकि आत्मा तथा आत्मा से भिन्न पुद्गलमय आठों कर्मों के संयोग को भव कहते हैं और आत्मा तथा आत्मा से भिन्न पुद्गलमय आठों कर्मों के वियोग को भवाभाव अर्थात् भव का अभाव/मुक्ति कहते हैं। जीव का पुनः संसार में एकेन्द्रियादि जीवरूप से उत्पन्न न होना अर्थात् जन्म न लेने का नाम भवाभाव है। इसलिए मुक्त/शुद्ध जीव को आपुनर्भविक अर्थात् अपुनर्भववाला कहते हैं।

भावार्थ :– पिछले श्लोक में मुक्त जीव को अपुनर्भव नाम दिया है, इस श्लोक में उसी का युक्तिपूर्वक स्पष्टीकरण किया है।

मुक्त जीव का स्वरूप –

निरस्तापर-संयोग: स्व-स्वभाव-व्यवस्थित:।
सर्वौत्सुक्यविनिर्मुक्त: स्तिमितोदधि-सन्निभ:।।३३०।।
एकान्त-क्षीण-संक्लेशो निष्ठितार्थो निरञ्जन:।
निराबाध: सदानन्दो मुक्तावात्मावतिष्ठते।।३३१।।

अन्वय :– मुक्तौ आत्मा निरस्त-अपर-संयोग:, स्व-स्वभाव-व्यवस्थित:, स्तिमित-उदधि-सन्निभ:, सर्वौत्सुक्य-विनिर्मुक्त:, एकान्त-क्षीण-संक्लेश:, निष्ठितार्थ:, निरञ्जन:, निराबाध: सदानन्द: (च) अवतिष्ठते।

सरलार्थ :– मुक्त अवस्था में अर्थात् सिद्धालय में आत्मा परसंयोग से रहित, स्व-स्वभाव में अवस्थित, निस्तरंग समुद्र के समान, सर्व प्रकार की उत्सुकता से मुक्त, सर्वथा क्लेश वर्जित, कृतकृत्य, निष्कलंक, निराबाध और सदा आनंदरूप तिष्ठता है।

भावार्थ :– मुक्तावस्था को प्राप्त हुआ जीव सिद्धालय में किस रूप में रहता है, उसका इन दोनों श्लोकों में सुन्दर स्पष्टीकरण किया है। मुक्तात्मा समस्त पर संबंधों से रहित हुए अपने ज्ञान-दर्शन स्वभाव में पूर्णतः अवस्थित होते हैं, यह कथन परद्रव्यों के अभाव के साथ स्वभाव में अवस्थित रहने का निमित्त-नैमित्तिक संबंध का ज्ञान कराता है। मुक्त जीव निस्तरंग समुद्र के समान समस्त रागादि विकल्पों से शून्य रहते हैं; इसलिए वीतरागमय बन गये हैं। किसी भी प्रकार का दुःख/क्लेश कभी उनके पास नहीं फटकता, क्योंकि वे अनंत सुखी हो गये हैं। उनका कोई भी प्रयोजन सिद्ध होने के लिये शेष नहीं रहा; क्योंकि वे सहज ही कृतकृत्य हुए हैं। द्रव्य-भावादि रूप से सर्व प्रकार के मलों एवं विकारों से वे रहित होते हैं, अतः सर्वथा निर्मल अर्थात् पर्याय में भी स्वभाव के समान शुद्ध हुए हैं। वे किसी को कोई बाधा नहीं पहुँचाते और न उन्हें कोई किसी प्रकार की बाधा पहुँचा सकते हैं; क्योंकि वे सभी प्रकार से अबाधित हैं। वे अपने स्वरूप में मग्न हुए सदा आनंदमय रहते हैं; क्योंकि उनसे अधिक सुंदर एवं स्पृहणीय दूसरा कोई भी पदार्थ कहीं नहीं है। समस्त विश्व उनके ज्ञान में प्रतिबिंबित है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ध्यान का फल –

ध्यानस्येदं फलं मुख्यमैकान्तिकमनुत्तरम्।
आत्मगम्यं परं ब्रह्म ब्रह्मविद्भिरुदाहृतम् ॥३३२॥

अन्वय :– ब्रह्मविद्भिः परं ब्रह्म आत्मगम्यं – इदं ध्यानस्य मुख्यं, ऐकान्तिकं (च) अनुत्तरं फलं उदाहृतम्।

सरलार्थ :– ब्रह्मवेत्ता/आत्मज्ञ अर्थात् आत्मानुभव से आनंद ही आनंद लूटनेवाले महापुरुषों ने ब्रह्म अर्थात् निज शुद्ध आत्मा का ज्ञान तथा अनुभव करना ही ध्यान का मुख्य, अव्यभिचारी/निर्दोष और अद्वितीय फल बतलाया है।

भावार्थ :– स्वयं ग्रंथकार ने चूलिका अधिकार के १४वें श्लोक में ध्यान की परिभाषा निर्मल ज्ञान का स्थिर होना ही ध्यान है – ऐसी बतायी है। ध्यान का मुख्य फल तो आत्मानुशासन ही कहा है। ध्यान का संक्षेप में फल इसप्रकार है – १. ध्यान से ही आत्मा का अनुभव होता है। २. ध्यान से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, ३. ध्यान से ही मोक्षमार्ग प्रगट होता है, ४. ध्यान से ही धर्म व्यक्त होता है, ५. ध्यान से ही व्यक्त/प्रगट धर्म की वृद्धि होती है, ६. ध्यान से वृद्धि-प्राप्त धर्म पूर्णता को प्राप्त होता है, ७. ध्यान से संवर प्रगट होता है, ८. ध्यान से संवर एवं निर्जरा की वृद्धि होती है, ९. ध्यान स्वयमेव आनंदरूप तथा आनंद-दाता है, १० ध्यान से ही द्रव्य-भाव एवं नोकर्मों का नाश होने से सिद्धावस्था की प्राप्ति होती है। एक अपेक्षा से ध्यान ही धर्मक्षेत्र में सबकुछ है। इसलिए धर्म/सुख चाहनेवाले प्रत्येक मनुष्य को निजशुद्धात्मा का ध्यान करना ही चाहिए।

ध्यान के लिए प्रेरणा –

अतोऽत्रैव महान् यत्नस्तत्त्वतः प्रतिपत्तये।
प्रेक्षावता सदा कार्यो मुक्त्वा वादादिवासनाम् ॥३३३॥

अन्वय :– अतः प्रेक्षावता तत्त्वतः (शुद्धात्मनः) प्रतिपत्तये वादादिवासनां मुक्त्वा सदा अत्र (ध्याने) एव महान् यत्नः कार्यः।

सरलार्थ :– इसलिए विचारशील भव्य जीवों को वास्तविक देखा जाय तो वादविवाद, चर्चा, ऊहापोह, प्रश्नोत्तर, उपदेश करना आदि सब छोडकर निरंतर इस अत्यंत उपकारक ध्यान के लिए ही महान प्रयास करना चाहिए।

भावार्थ :– यदि निज शुद्धात्म के ध्यान से शांति, समाधान, आनंद, सुख, सम्यग्दर्शन, संवर, निर्जरा, मोक्ष सब होता है तो ध्यान के लिये प्रेरणा देना स्वाभाविक है। इस श्लोक में वादविवाद आदि जिनका निषेध किया वे सब धर्म को प्रगट करने के लिये किये जानेवाले पुण्यमय कार्य ही समझना चाहिए; क्योंकि पापमय क्रिया और परिणामों का तो इसके पहले ही निषेध किया गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो धर्म के लिये धर्म के नाम पर किये जानेवाले सब पुण्यमय कार्यों को यहाँ गौण करने की प्रेरणा दी गई है। अतः मुमुक्षु का कर्त्तव्य मात्र निजात्म-ध्यान में लग जाने का ही है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

घाति कर्मो का नाश –

ऊचिरे ध्यान-मार्गज्ञा ध्यानोद्धूत-रजश्चयाः।
भावि-योगि-हितायेदं ध्वान्त-दीपसमं वचः॥३३४॥

अन्वय :– ध्यानोद्धूत रजश्चयाः ध्यान-मार्गज्ञाः भावि-योगि-हिताय इदं ध्वान्त-दीपसमं वचः रुचिरे।

सरलार्थ :– ध्यान द्वारा घातिकर्मरूपी रज-समूह को आत्मा से दूर करनेवाले ध्यान-मर्मज्ञ सर्वज्ञ भगवन्तों ने भावी साधक मुनिराजों के लिये अज्ञानरूपी अंधकार का नाश करनेवाला दीपस्तम्भ समान अगला/ध्यान का उपदेश दिया है।

भावार्थ :– उपदेश देनेवाले कौन है? उनकी विशेषताओं के कारण उपदेश का महत्व माना जाता है। उपदेश-दाता घातिकर्मों का नाश कर चुके हैं। उनका साधन ध्यान है, अन्य कोई सामान्य साधन नहीं है। उपदेश-दाता ध्यान के मर्मज्ञ हैं, सर्वज्ञ हैं; वे वीतराग और हितोपदेशी भी हैं। उनका उपदेश दीपस्तम्भ के समान प्रत्येक जीव के लिये उपयोगी है।

वाद-विवाद का फल –

वादानां प्रतिवादानां भाषितारो विनिश्चितम्।
नैव गच्छन्ति तत्त्वान्तं गतेरिव विलम्बिनः॥३३५॥

अन्वय :– गतेः विलम्बिनः इव वादानां प्रतिवादानां भाषितारः विनिश्चितं तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति।

सरलार्थ :– जिसप्रकार चलने में विलंब करनेवाला प्रमादी मनुष्य अपने इच्छित स्थान पर्यंत नहीं पहुँच पाता; उसीप्रकार जो कोई साधक वाद-प्रतिवाद के चक्कर में पडे रहते हैं, वे निश्चित रूप से तत्त्व के अंत को अर्थात् परमात्म पद को प्राप्त नहीं होते अर्थात् संसार में ही भटकते रहते हैं।

भावार्थ :– साधक सम्यग्दृष्टि हो, व्रती हो अथवा मुनिराज भी हों, यदि वे वाद-प्रतिवाद में उलझते हैं तो उलझ ही जाते हैं, फिर सुलझना संभव नहीं हो पाता। अतः आत्मकल्याण की इच्छा रखनेवालों को वाद-विवाद से दूर ही रहना हितकारक हैं। इस वाद-विवाद का अति अनिष्ट फल सर्वज्ञ भगवंतों ने हमें बतलाया है; इसलिए इस उपदेश का महत्त्व हमें समझ में लेना आवश्यक है। अपने जीवन में अपने आत्मकल्याण को मुख्य रखनेवाले साधक नियम से सिद्ध बनते हैं अन्यथा उनका साधकपना भी नष्ट हो जाता है।

सिद्ध होने का साक्षात् साधन –

विभक्तचेतन-ध्यानमत्रोपायं विदुर्जिनाः।
गतावस्तप्रमादस्य सन्मार्ग-गमनं यथा॥३३६॥

अन्वय :– यथा गतौअस्तप्रमादस्य (मनुष्यस्य) सन्मार्ग-गमनं तथा विभक्तचेतन-ध्यानं अत्र उपायं (अस्ति इति) जिनाः विदुः।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :– जिसप्रकार प्रमाद अर्थात् आलस्य रहित मनुष्य का सन्मार्ग पर सतत गमन करना अपेक्षित स्थान पर्यंत पहुँचने का सच्चा उपाय है; उसीप्रकार परमात्म-पद प्राप्ति का अथवा तत्त्वांतगति अर्थात् मुक्ति में पहुँचने का उपाय विभक्त चेतन अर्थात् शुद्धात्मा के ध्यान को ही जिनेन्द्र भगवंतों ने बतलाया है।

भावार्थ :– यह मोक्षाधिकार होने से शुद्धात्मा के ध्यानरूप उपाय से परमात्म-पद की प्राप्ति होती है; ऐसा कथन किया है। वास्तविक देखा जाय तो मिथ्यादृष्टि से लेकर सभी साधक जीवों को अपने शुद्धात्मा का ध्यान करना ही धार्मिक बनने का, सुखी होने का, परमात्मपद प्राप्ति का उपाय है।

प्रश्न :– क्या मिथ्यादृष्टि भी अपने शुद्ध आत्मा का ध्यान कर सकते हैं?

उत्तर :– क्यों नहीं? अन्य साधक जीवों ने भी सम्यग्दृष्टि बनने का यत्न मिथ्यात्व अवस्था में ही किया है। मिथ्यादृष्टि को सम्यग्दृष्टि बनना हो तो शुद्धात्मा का ध्यान करना ही तो साधन है। वास्तव में देखा जाय तो जो साधक अर्थात् श्रावक अथवा मुनिराज हो गये हैं उनसे भी अधिक आवश्यकता शुद्धात्मा के ध्यान की मिथ्यादृष्टि को है; क्योंकि उसे अभी साधक बनना है। साधक को सिद्ध परमात्मा होने के लिये और मिथ्यादृष्टि जीव को भी साधक होने के लिये शुद्धात्मा के ध्यान की जरूरत है।

शुद्धात्म-ध्यान से कर्मों का नाश –

योज्यमानो यथा मन्त्रो विषं घोरं निषूदते।
तथात्मापि विधानेन कर्मानेकभवार्जितम्।।३३७।।

अन्वय :– **यथा योज्यमानः मन्त्रः घोरं विषं निषूदते तथा आत्मा अपि (ध्यान) विधानेन अनेक-भवार्जितं कर्म (निषूदते)।**

सरलार्थ :– जिसप्रकार मंत्रज्ञ आत्मा विषापहार मंत्र का यथायोग्य प्रयोग करने पर सर्पादिक का घोर विष दूर करता है, उसीप्रकार आत्मा निज शुद्धात्मा के सम्यक्ध्यान से अनेक भवों में उपार्जित ज्ञानावरणादि कर्मसमूह को नष्ट करता है।

भावार्थ :– इस श्लोक में शुद्धात्मा का ध्यान और कर्मों का नाश – इन दोनों में निमित्त-नैमित्तिक संबंध का ज्ञान कराया है। दो द्रव्यों की दो पर्यायों में परस्पर निमित्त-नैमित्तिक संबंध होता है। ध्यान यह जीव द्रव्य की पर्याय है और कर्मों का नाश होना यह कर्मरूप पुद्गल की अवस्था का अकर्मरूप में परिवर्तन होना है। इसके लिये मंत्रोच्चार से विष दूर होने का दृष्टान्त दिया है। इस कथन से अज्ञानी को भ्रम होता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता हो गया। यहाँ तो निमित्त-नैमित्तिक संबंध का यथार्थ ज्ञान कराया है।

शुद्धात्मा का ध्यान अलौकिक फलदाता –

चिन्त्यं चिन्तामणिर्दत्ते कल्पितं कल्पपादपः।
अविचिन्त्यमसंकल्प्यं विविक्तात्मानुचिन्तितः।।३३८।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्वय :– चिन्तामणिः चिन्त्यं दत्ते। कल्पपादपः कल्पितं (दत्ते, परंतु) अनुचिन्तितः विविक्तात्मा अविचिन्त्यं असंकल्प्यं (दत्ते)।

सरलार्थ :– चिंतामणि रत्न के सामने बैठकर जीव जिन वस्तुओं का चिंतन करता है, चिंतामणि रत्न उन वस्तुओं को जीव को देता है और कल्पवृक्ष कल्पित पदार्थों को देता है; परंतु त्रिकाली निज शुद्धात्मा का ध्यान जीव के लिये अचिंत्य और अकल्पित पदार्थों को देता है।

भावार्थ :– इस श्लोक में शुद्धात्मा के ध्यान की विशेषता को बताया है। यहाँ देता है, देता है, ऐसा शब्द प्रयोग ग्रंथकार ने किया है; तथापि वे तीनों चिंतामणि रत्न, कल्पवृक्ष और ध्यान अनुकूल वस्तुओं के संयोग में निमित्त हैं; ऐसा अर्थ समझना चाहिए।

जिनवाणी में कहीं पर कितना भी कोई देता है, लूट लेता है, प्रभाव डालता है; ऐसा कथन आता है, उसका अर्थ निमित्त सापेक्ष ही करना चाहिए। एक द्रव्य-दूसरे द्रव्य का कुछ भी अच्छा-बुरा कर ही नहीं सकता, इस मूल विषय को मुख्य रखते हुए ही अर्थ करना, यही जिनवाणी का प्रतिपाद्य विषय है।

शुद्धात्म-ध्यान से कामदेव का सहज नाश –

जन्म-मृत्यु-जरा-रोगा हन्यन्ते येन दुर्जयाः।
मनोभू-हनने तस्य नायासः कोऽपि विद्यते॥३३९॥

अन्वय :– येन (शुद्धात्मनः ध्यानेन) दुर्जयाः जन्म-मृत्यु-जरा-रोगाः हन्यन्ते तस्य मनोभू-हनने कः अपि आयासः न विद्यते।

सरलार्थ :– जिस शुद्धात्मा के ध्यान से दुर्जय अर्थात् जीतने के लिये कठिन जन्म, जरा, मरण, रोग आदि जीव के विकार नाश को प्राप्त होते हैं, उस शुद्धात्मा को काम विकार के हनन में कोई भी नया श्रम करना नहीं पड़ता – वह तो उससे सहज ही विनाश को प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ :– इस श्लोक में जन्म-जरादि विकार अथवा कामवासना का नाश शुद्धात्म-ध्यान से स्वयमेव होने की बात कही है। जीव के स्वभाव में विकार नहीं और उस अविकारी स्वभाव संपन्न जीव के ध्यान से उत्पन्न पर्याय में विकार उत्पन्न ही नहीं होते, इस प्रक्रिया को 'नाश हो जाते हैं', इन शब्दों में व्यवहार से कहा जाता है।

वाद-विवाद अज्ञान अंधकारमय –

मुक्त्वा वाद-प्रवादाद्यमध्यात्मं चिन्त्यतां ततः।
नाविधूते तमःस्तोमे ज्ञेये ज्ञानं प्रवर्तते॥३४०॥

अन्वय :– ततः वाद-प्रवादाद्यं मुक्त्वा अध्यात्मं चिन्त्यतां तमः स्तोमे अविधूते ज्ञानं ज्ञेये न प्रवर्तते।

सरलार्थ :– इसलिए वाद-विवाद, चर्चा-वार्ता, समझना-समझाना, सुनना-सुनाना, उपदेश आदि परिणामों को छोड़कर अर्थात् उपेक्षा करके आत्मा के परम स्वरूप का चिंतन करना चाहिए।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

धर्म-ज्ञानसंबंधी वाद-विवाद आदि पुण्यरूप परिणाम अंधकार-समूहरूप है, उसके नाश के बिना अपना प्रगट ज्ञान शुद्धात्मस्वरूप ज्ञेय में प्रवृत्त नहीं होता।

भावार्थ :– इसी मोक्षाधिकार के ही श्लोक ३१ से ३३ पर्यंत में वाद-विवाद करने का निषेध किया है। इस श्लोक में पुनः उसी विषय को कुछ विशेषताके साथ ग्रंथकार कह रहे हैं।

हमें प्राप्त क्षायोपशमिक ज्ञान अपूर्ण तो है ही और वह प्रगट ज्ञान कहीं अन्य स्थान में संलग्न हो गया तो उस ज्ञान से हम आत्म-ज्ञान का काम नहीं ले सकते। अतः ग्रंथकार हमें वाद-विवादादि पुण्य-परिणामों से हटाकर एक मात्र आत्मा में लगाना चाहते हैं।

यहाँ वाद-विवादादि परिणामों को अंधकारमय इसलिए कहा है, क्योंकि ये परिणाम पुण्यरूप होनेपर भी वे स्वयं ज्ञानमय न होने से ज्ञाता का कार्य करने में समर्थ नहीं हैं। इसलिए उन्हें छोड़ने अर्थात् उपेक्षा करके शुद्धात्म स्वभाव के चिंतन और ध्यान करने की मुख्यता रखने की ग्रंथकार प्रेरणा दे रहे हैं।

समीचीन साधनों में आदर आवश्यक –

उपेयस्य यतः प्राप्तिर्जायते सदुपायतः।
सदुपाये ततः प्राज्ञैर्विधातव्यो महादरः॥३४१॥

अन्वय :– यतः उपेयस्य (मोक्षस्य) प्राप्तिः सदुपायतः जायते। ततः प्राज्ञैः सदुपाये महा-आदरः विधातव्यः।

सरलार्थ :– क्योंकि उपेय अर्थात् मोक्षरूप साध्य की सिद्धि समीचीन साधनों से होती है; इसलिए विद्वानों को समीचीन साधनों अर्थात् सम्यक् उपाय करने में अतिशय आदर रखना चाहिए।

भावार्थ :– इस श्लोक में परमात्म पद को साध्य कहा है। जिसे साध्य आवश्यक है उसे साधन भी आवश्यक प्रतीत होता है; क्योंकि साधन से साध्य की प्राप्ति का नियम है। इसलिए आचार्य महाराज साधन में बहुमान रखने के लिये अपने शिष्यों को उपदेश/प्रेरणा दे रहे हैं।

आत्मचिंतन ही साधन –

नाध्यात्म-चिन्तनादन्यः सदुपायस्तु विद्यते।
दुरापः स परं जीवैर्मोहव्यालकदर्थितैः॥३४२॥

अन्वय :– अध्यात्म-चिन्तनात् अन्यः सदुपायः तु न विद्यते (तथा) मोहव्यालकदर्थितैः जीवैः सः (सदुपायः) परं दुरापः (विद्यते)।

सरलार्थ :– अध्यात्म-चिंतन अर्थात् निज शुद्धात्म ध्यान से भिन्न दूसरा कोई परमात्मरूप साध्य का साधन नहीं है। विशेष बात यह है कि जो जीव मोहरूपी सर्प से डसे हुए हैं अथवा मोहरूपी हाथी से पीड़ित हैं, उनके लिये शुद्धात्मा का ध्यानरूपी सदुपाय अर्थात् उत्तम उपाय अत्यंत दुर्लभ है।

भावार्थ :– शुद्धात्मा का ध्यानरूपी कार्य विशिष्ट कषायों के अभाव में और शेष कषायों के मंद उदय में होता है। जहाँ मोह परिणाम की तीव्रता रहेगी वहाँ सामान्य पुण्यरूप परिणाम भी नहीं होने से

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वहाँ कषायों के अभाव में और कषायों के मंदोदय में होनेवाला शुद्धात्मा का ध्यानरूप कार्य कैसे होगा? हो ही नहीं सकता।

आत्मध्यान की बाह्य सामग्री –

उत्साहो निश्चयो धैर्यं संतोषस्तत्त्वदर्शनम्।
जनपदात्ययः षोढा सामग्रीयं बहिर्भवा ॥३४३॥

अन्वय :– उत्साहः, निश्चयः, धैर्यं, सन्तोषः, तत्त्वदर्शनं, (च) जनपदात्ययः इयं षोढा बहिर्भवा सामग्री (अस्ति)।

सरलार्थ :– अध्यात्मचिंतन अर्थात् निज शुद्धात्मध्यान के लिये उत्साह, निश्चय अर्थात् स्थिर विचार, धैर्य, संतोष, तत्त्वदर्शन, जनपद-त्याग अर्थात् सामान्यजनों से संपर्क का त्याग यह छह प्रकार की बाह्य सामग्री है।

भावार्थ :– जिस ध्यान का पिछले श्लोक में उल्लेख है, उसकी सिद्धि के लिये यहाँ बाह्य सामग्री के रूप में छह बातें कही हैं, इनमें उत्साह को प्रथम स्थान दिया है। यदि उत्साह नहीं हो तो किसी भी कार्य की सिद्धि के लिये प्रवृत्ति ही नहीं होती।

यदि ध्येय का निश्चय ही नहीं तो सब कुछ व्यर्थ है।

यदि धैर्य नहीं हो तो साधना में विघ्न-कष्टादि के उपस्थित होने पर स्खलित हो जाना स्वाभाविक है, इसी से नीतिकारों ने **'धैर्यं सर्वार्थ-साधनं'** – धैर्य को सर्व प्रयोजनों का साधन बतलाया है।

विषयों में लालसा के अभाव का नाम सन्तोष है, यह सन्तोष भी साधना की प्रगति में सहायक होता है, यदि सदा असन्तोष बना रहता है तो वह एक बड़ी व्याधि का रूप ले लेता है, इसी से **'असंतोषो महाव्याधिः'** – जैसे वाक्यों के द्वारा असन्तोष को महाव्याधि माना गया है।

जीवादि तत्त्वों का यदि भले प्रकार दर्शन, स्वरूपानुभवन न हो तो फिर उत्साह, निश्चय, धैर्य तथा सन्तोष से भी क्या हो सकता है ? और ध्यान में प्रवृत्ति भी कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती। अतः 'तत्त्वदर्शन' का होना परमावश्यक है, इसी से इस ग्रन्थ में तत्त्वों का आवश्यक निरूपण किया गया है।

अन्त की छठी सामग्री है 'जनपदत्याग', जबतक जनपद और जनसम्पर्क का त्याग नहीं किया जाता तबतक साधना की पूर्णता नहीं हो सकती। जनसम्पर्क से वाक्प्रवृत्ति होती है, वाक्प्रवृत्ति से मन चंचल होता है और मन की चंचलता से चित्त में अनेक प्रकार के विकल्प तथा क्षोभ होते हैं, जो सब ध्यान में बाधक हैं। इसी से श्री पूज्यपादाचार्य ने समाधितंत्र के श्लोक ७२ में योगी को जनसम्पर्क त्यागने की मुख्य प्रेरणा दी है –

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत्॥

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने तो प्रवचनसार में यहाँ तक लिखा है कि जो लौकिकजनों का संसर्ग नहीं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

छोड़ता है वह निश्चित सूत्रार्थपद (आगम का ज्ञाता), शमितकषाय और तप में बढ़ा-चढ़ा होते हुए भी संयत-मुनि नहीं रहता। संसर्ग के दोष से अग्नि के संसर्ग को प्राप्त जल की तरह अवश्य ही विकार को प्राप्त हो जाता है। अतः ध्यानसिद्धि के लिये नगरों का वास छोड़कर प्रायः पर्वतादि निर्जन स्थानों में रहने की आवश्यकता है।

आत्मध्यान की अंतरंग सामग्री –

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यास-रसेन च।
त्रेधा विशोधयन् बुद्धिं ध्यानमाप्नोति पावनम् ॥३४४॥

अन्वय :– **आगमेन अनुमानेन ध्यानाभ्यास-रसेन च त्रेधा (स्व) बुद्धिं विशोधयन् (ध्याता-साधकः) पावनं ध्यानं आप्नोति।**

सरलार्थ :– आगम से, अनुमान ज्ञान से और ध्यानाभ्यासरूप रस से – इन तीन प्रकार की पद्धति से अपनी बुद्धि को विशुद्ध करनेवाला ध्याता/साधक, पवित्र आत्मध्यान को प्राप्त होता है।

भावार्थ :– पिछले श्लोक में ध्यान की बाह्य सामग्री का उल्लेख करके यहाँ अन्तरंग सामग्री के रूप में बुद्धि की शुद्धि को पावन ध्यान का कारण बतलाया है। और उस बुद्धिशुद्धि के लिये तीन उपायों का निर्देश किया है, जो कि आगम, अनुमान तथा ध्यानाभ्यास रस के रूप में हैं।

आगमजन्य श्रुतज्ञान के द्वारा जीवादि तत्त्वों का स्वरूप जानना 'आगमोपाय' है और आगम से जाने हुए पदार्थ का अनुमान प्रमाण से निर्णय करना 'अनुमानोपाय' है और ध्यान का अभ्यास करते हुए उसमें जो एक प्रकार की रुचिवृद्धि के रूप में रस-आनन्द उत्पन्न होता है उसे 'ध्यानाभ्यास रस' कहते हैं। इन तीनों उपायों के द्वारा बुद्धि का जो संशोधन होता है, उससे वह शुद्ध आत्मध्यान बनता है, जिसमें विविक्त आत्मा का साक्षात् दर्शन होता है।

श्री पूज्यपादाचार्य ने इन्हीं उपायों से बुद्धि का संशोधन करते हुए विविक्त आत्मा का साक्षात् निरीक्षण किया था और तभी केवलज्ञान के अभिलाषियों के लिये उन्होंने समाधितन्त्र में विविक्त आत्मा के कथन की प्रतिज्ञा का यह श्लोक लिखा है –

श्रुतेन लिङ्गेन यथात्मशक्ति समाहितान्तःकरणेन सम्यक्।
समीक्ष्य कैवल्य-सुख-स्पृहाणां विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये॥

इसमें विविक्तमात्मानं सम्यक् 'समीक्ष्य' पद के द्वारा विविक्त आत्मदर्शन का उल्लेख है, जो कि उक्त तीनों उपायों का लक्ष्यभूत एवं ध्येय है। पं. अशाधरजी ने 'अध्यात्म-रहस्य' शास्त्र में इन चारों का श्रुति, मति, ध्याति और दृष्टि के रूप में उल्लेख करते हुए, इन चारों शक्तियों को क्रम से सिद्ध करनेवाले योगी को पारगामी लिखा है –

शुद्धे श्रुति-मति-ध्याति-दृष्टयः स्वात्मनि क्रमात्।
यस्य सद्गुरुतः सिद्धाः स योगी योगपारगः॥

इन चारों के सुन्दर वर्णन के लिए अध्यात्म-रहस्य ग्रन्थ को देखना चाहिए।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

विद्वत्ता का सर्वोत्तम फल –

आत्म-ध्यान-रतिर्ज्ञेयं विद्वत्तायाः परं फलम्।
अशेष-शास्त्र-शास्तृत्वं संसारोऽभाषि धीधनैः।।३४५।।

अन्वय :– विद्वत्तायाः परं फलम् आत्म-ध्यान-रतिः ज्ञेयं (अन्यथा) अशेष-शास्त्र-शास्तृत्वं संसारः (एव अस्ति इति) धीधनैः अभाषि।

सरलार्थ :– विद्वत्ता का सर्वोत्तम फल निज शुद्धात्म ध्यान में रति अर्थात् आत्मलीनता ही जानना चाहिए। यदि विद्वत्ता प्राप्त होने पर भी वह विद्वान मनुष्य आत्म-मग्नतारूप कार्य न करे तो संपूर्ण शास्त्रों का शास्त्रीपना अर्थात् जानना भी संसार ही है; ऐसा बुद्धिधनधारकों ने अर्थात् महान विद्वानों ने कहा है।

भावार्थ :– जिनेन्द्र कथित शास्त्र का प्रयोजन ही आत्मध्यान से आत्मकल्याण करना है, यदि प्रयोजन ही सिद्ध नहीं होता तो शास्त्र का ज्ञान व्यर्थ है। शास्त्र का जानना संसार है अर्थात् अन्य राग-द्वेषमूलक सांसारिक कार्य जिसतरह संसार के कारण हैं उसीतरह शास्त्रज्ञान भी संसार का कारण हो गया। इसलिए ग्रंथकर्ता, विद्वानों को आत्मानुभव एवं आत्मलीनता के लिये प्रेरित कर रहे हैं, जो योग्य है।

विद्वानों का संसार –

संसारः पुत्र-दारादिः पुंसां संमूढचेतसाम्।
संसारो विदुषां शास्त्रमध्यात्मरहितात्मनाम्।।३४६।।

अन्वय :– संमूढचेतसां पुंसां पुत्र-दारादिः (एव) संसारः (अस्ति; तथा) अध्यात्मरहितात्मनां विदुषां शास्त्रं संसारः (अस्ति)।

सरलार्थ :– जो मनुष्य स्त्री-पुत्रादिक परद्रव्य में आसक्त होने से अच्छी तरह मूढचित्त अर्थात् अज्ञानी हैं, उनका संसार स्त्री-पुत्रादिक है। जो विद्वान शास्त्रार्थ को जानते हुए भी अध्यात्म से अर्थात् आत्मलीनता से रहित हैं, उनका संसार शास्त्र है।

भावार्थ :– जिसतरह शास्त्र-ज्ञान रहित सामान्य मनुष्य स्त्री-पुत्रादि की व्यवस्था के चक्कर में फंस जाता है तथा अपने दुर्लभ मनुष्य भव में आत्महित नहीं कर पाता और मनुष्य-जीवन व्यर्थ ही गमाता है। उसीतरह शास्त्र-ज्ञान करने पर भी आत्मध्यान से अपना जीवन अध्यात्ममय/मोक्षमार्गमय नहीं बना पाता, मात्र पण्डिताई, वाद-विवाद, चर्चा, शंका-समाधान में दुर्लभ मनुष्य जीवन लगाता है, उसका जीवन भी व्यर्थ जाता है। आचार्य करुणापूर्वक विद्वानों को आत्मध्यान से जीवन सफल बनाने के लिये प्रेरणा दे रहे हैं।

सद्ध्यानरूपी खेती करने की प्रेरणा –

ज्ञान-बीजं परं प्राप्य मानुष्यं कर्मभूमिषु।
न सद्ध्यानकृषेरन्तः प्रवर्तन्तेऽल्पमेधसः।।३४७।।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्वय :– कर्मभूमिषु परं मानुष्यं ज्ञान-बीजं (च) प्राप्य (ये) सत्-ध्यान-कृषेः अन्तः न प्रवर्तन्ते (ते) अल्पमेधसः (भवन्ति)।

सरलार्थ :– कर्मभूमियों में दुर्लभ मनुष्यता और सर्वोत्तम ज्ञानरूपी बीज को पाकर भी जो मनुष्य प्रशस्त ध्यानरूप खेती के भीतर प्रवृत्त नहीं होते अर्थात् मोक्षप्रदाता सम्यग्ध्यान की खेती नहीं करते, वे मनुष्य अल्पबुद्धि अर्थात् अज्ञानी है।

भावार्थ :– इस श्लोक में जो मनुष्य संज्ञी पंचेन्द्रिय योग्य ज्ञान का विकास पाकर भी सद्ध्यान नहीं कर पाते, उन्हें बीज और खेती का दृष्टान्त देकर अल्पज्ञ कहा है और सद्ध्यान की प्रेरणा दी है।

मोहान्धकार को धिक्कार –

बडिशामिषवच्छेदो दारुणो भोग-शर्मणि।
सक्तास्त्यजन्ति सद्ध्यानं धिगहो! मोह-तामसम् ।।३४८।।

अन्वय :– भोग-शर्मणि बडिशामिषवत् दारुणः छेदः (भवति; तथापि ये भोग-शर्मणि) आसक्ताः (सन्ति ते) सद्ध्यानं त्यजन्ति, अहो ! मोह - तामसं धिक्।

सरलार्थ :– जिसप्रकार शिकारी की बंशी में लगे हुए मांस के टुकड़े को खाने की इच्छा से मछली को कण्ठच्छेद से अतिशय दुःख होता है; उसीप्रकार सर्वोत्तम ज्ञानरूपी बीज को पाकर भी इंद्रिय-सुख में आसक्त/दुःखी मनुष्य जिस मोह के कारण सद्ध्यान का त्याग करते हैं, उस मोहरूपी अंधकार को धिक्कार हो।

भावार्थ :– ग्रंथकार आचार्य हैं। उन्हें अपने आत्मध्यान से उत्पन्न सुख का ज्ञान तथा अनुभव है और उसी समय कुछ जीव मोहवश ध्यान का आनंद नहीं ले रहे हैं, इसकारण वे जीव दुःखी हैं, यह भी वे जान रहे हैं। इसलिए दुःखी जीव के मोह को धिक्कारते हुए स्वयं ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं; क्योंकि इससे अधिक वे कुछ कर भी तो नहीं सकते।

मोही जीवों का स्वरूप –

आत्म-तत्त्वमजानाना विपर्यास-परायणाः।
हिताहित-विवेकान्धाः खिद्यन्ते सांप्रतेक्षणाः ।।३४९।।

अन्वय :– (ये जीवाः) आत्म-तत्त्वं-अजानाना, हित-अहित-विवेकान्धाः, विपर्यास-परायणाः (सन्ति ते) सांप्रतेक्षणाः खिद्यन्ते।

सरलार्थ :– जो जीव निज आत्मतत्त्व को नहीं जानते, हित-अहित के विवेक में अंधे हैं अर्थात् अपने हित-अहित को नहीं पहिचानते, विपरीत आचरण करने में चतुर हैं और वर्तमान दृष्टिवंत अर्थात् स्पर्शादि विषयों का सेवन करने में ही सुख है, ऐसी श्रद्धा रखनेवाले हैं; वे जीव नियम से दुःखी हैं।

भावार्थ :– इस श्लोक में मिथ्यात्वजन्य परिणामों का कथन किया है। मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करने के लिये बाधक चार परिणामों का दिग्दर्शन इस श्लोक में स्पष्ट जानने को मिलता है। सही देखा जाय

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तो आत्मतत्त्व का अजानकार जीव मिथ्यादृष्टि है और जिसकी श्रद्धा मिथ्या है, उसके लिये हिताहित के ज्ञान का अभाव आदि सर्व मिथ्यादृष्टिगत अपात्रता नियमपूर्वक रहती है। यदि जीव श्रद्धा यथार्थ करता है तो मोह का पराभव चालू हो जाता है। पहले मिथ्यात्वजन्य विपरीतता निकल जाती है और बाद में क्रम से चारित्रगत दोष निकलते रहते हैं।

मोही जीव को विरक्ति का अभाव –

आधि-व्याधि-जरा-जाति-मृत्यु-शोकाद्युपद्रवम्।
पश्यन्तोऽपि भवं भीमं नोद्विजन्तेऽत्र मोहिनः ।।३५०।।

अन्वय :– आधि-व्याधि-जरा-जाति-मृत्यु-शोकादि भीमं उपद्रवं भवं पश्यन्तः अपि मोहिनः अत्र न उद्विजन्ते।

सरलार्थ :– अनेक आधियों से अर्थात् मानसिक पीड़ाओं से, अनेक व्याधियों से अर्थात् शारीरिक कष्टप्रद रोगों से और जन्म, जरा, मरण तथा शोकादि उपद्रवों से सहित संसार का भयंकर रूप देखते एवं अनुभवते हुए भी मोही जीव संसार से विरक्त नहीं होते; परन्तु वे संसार में ही आसक्त रहते हैं।

भावार्थ :– इस श्लोक में मिथ्यात्व सहित चारित्रमोहनीयजन्य भावों का ज्ञान कराया है। अघाति कर्मोदय के निमित्त जीव के संयोग में अनेक पदार्थों का समागम होना स्वाभाविक है। उन समागत पदार्थों का मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहना ही ज्ञानी का कर्तव्य होता है; लेकिन मिथ्यादृष्टि जीव प्राप्त संयोगों में इष्टानिष्ट की कल्पना करके सुखी-दुःखी होता है। संयोगों से सुखी होना या दुःखी होना – दोनों परिणाम अनुचित हैं, दोनों में स्वाभाविक समता चाहिए। समता भाव को ही वीतराग भाव कहते हैं।

मिथ्यात्वजन्य परिणाम का दृष्टांत -

अकृत्यं दुर्धियः कृत्यं कृत्यं चाकृत्यमञ्जसा।
अशर्म शर्म मन्यन्ते कच्छू-कण्डूयका इव ।।३५१।।

अन्वय :– कच्छू-कण्डूयका इव दुर्धियः (मनुष्याः) अञ्जसा अकृत्यं कृत्यं, कृत्यं अकृत्यं च अशर्म शर्म मन्यन्ते।

सरलार्थ :– जिसप्रकार दाद खुजानेवाले अज्ञानी मनुष्य दाद के खुजाने को अच्छा और सुखदायी समझते हैं; उसीप्रकार जो दुर्बुद्धि अर्थात् मिथ्यादृष्टि अथवा विपरीत बुद्धिधारक हैं, वे वास्तव में अकृत्य को कृत्य अर्थात् न करने योग्य कुकर्म को करने योग्य सुकर्म तथा कृत्य को अकृत्य अर्थात् करने योग्य सुकर्म को न करने योग्य कुकर्म और दुःख को सुख मानते हैं।

भावार्थ :– विपरीत मान्यता अर्थात् श्रद्धा को मिथ्यात्व कहते हैं। जैसा वस्तु-स्वरूप है उससे उल्टा मानना यह उसका अर्थ हुआ। इसलिए जो सत्य से विपरीत हो अर्थात् असत्य को सत्य समझने में मिथ्यादृष्टि को आनंद आता है। इसकारण मिथ्यादृष्टि नियम से दुःखी रहते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तत्त्व-श्रवण से ध्यान –

क्षाराम्भस्त्यागतः क्षेत्रे मधुरोऽमृत-योगतः।
प्ररोहति यथा बीजं ध्यानं तत्त्वश्रुतेस्तथा॥३५२॥

अन्वय :– यथा क्षाराम्भस्त्यागतः अमृत-योगतः क्षेत्रे बीजं मधुरः प्ररोहति तथा तत्त्वश्रुतेः (योगतः) ध्यानं (प्ररोहति)।

सरलार्थ :– जिसप्रकार खारे जल के त्याग से और मीठे जल के संयोग से खेत में पडा हुआ बीज मधुर फल को उत्पन्न करता है; उसीप्रकार तत्त्व-श्रवण के संयोग से सम्यग्ध्यान उत्पन्न होता है।

भावार्थ :– अनादिकाल से संसार में प्रत्येक जीव सहज ही पर्याय में मिथ्यादृष्टि है और इस मिथ्यात्व के पोषण करने योग्य ही सर्वत्र वातावरण भी बना रहता है। इसलिए प्रथम कुश्रवण, कुसंगति आदि का बुद्धिपूर्वक त्याग करके सर्वज्ञ भगवान के उपदेश का श्रवण, मनन-चिंतन, चर्चा करनी चाहिए; जिससे अनादि का मिथ्या श्रद्धान स्वयमेव ढीला अर्थात् सूक्ष्म होते हुए नष्ट होकर सम्यक्त्व प्रगट होता है।

सबसे पहले शास्त्र के आधार से सर्वज्ञ के उपदेशानुसार अपने ज्ञान को यथार्थ बनाना आवश्यक है। तदनन्तर सम्यक्त्व और पुनः पुनः सम्यग्ज्ञान के संस्कार से ज्ञान निर्मल एवं पक्का होता है तथा धीरे-धीरे यही निर्मलज्ञान स्थिर होता है, इसे ध्यान कहते हैं।

तत्त्व-श्रवण की प्रेरणा –

क्षाराम्भःसदृशी त्याज्या सर्वदा भोग-शेमुषी।
मधुराम्भोनिभा ग्राह्या यत्नात्तत्त्वश्रुतिर्बुधैः॥३५३॥

सरलार्थ :– खारे जल के समान दुःखरूप एवं दुःखदायक भोगबुद्धि – अर्थात् पाँचों इंद्रियों के स्पर्शादि भोग्य विषयों में सुख है, ऐसी मिथ्या/विपरीत श्रद्धा का त्याग करना चाहिए और सदा ग्राह्य मधुर जल के समान सर्वज्ञ कथित जीवादि सप्त तत्त्वों का श्रवण ध्यान की सिद्धि के लिये बुधजनों को करना चाहिए।

भावार्थ :– इस श्लोक में ग्रंथकर्ता सामान्यजन के हितार्थ अति आवश्यक तत्त्व-श्रवण के लिये करुणाबुद्धि से प्रेरणा दे रहे हैं; क्योंकि प्रारम्भिक अवस्था में तत्त्वश्रवण को छोड़कर अन्य कोई उपाय भी नहीं है।

प्रश्न :– प्रेरणा मात्र बुधजनों को ही क्यों? मूढजनों को क्यों नहीं? ग्रंथकर्ता का यह पक्षपात हमें अच्छा नहीं लगा। वास्तविक देखा जाय तो प्रेरणा बुधजनों से भी अधिक आवश्यक मूढ़जनों के लिये है।

उत्तर :– यदि तीव्र कषायीं मूढजनों को प्रेरणा देते हैं तो उसका वे लाभ नहीं लेते, उलटा उन्हें

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कषाय उत्पन्न होती है। उपदेश हमेशा योग्य श्रोता को ही दिया जाता है। इस विषय का विशेष कथन पं. टेकचंदजी रचित सुदृष्टि तरंगिणी शास्त्र के २२वें पर्व के प्रारम्भ में आया है, उसे जरूर देखें।

कुतर्क का स्वरूप –

बोधरोधः शमापायः श्रद्धाभङ्गोऽभिमानकृत्।
कुतर्को मानसो व्याधिर्ध्यानशत्रुरनेकधा।।३५४।।

अन्वय :– कुतर्कः बोधरोधः, शमापायः, श्रद्धाभङ्गः अभिमानकृत् (च) मानसः व्याधिः (तथा) अनेकधा ध्यानशत्रुः (अस्ति)।

सरलार्थ :– कुतर्क, ज्ञान को रोकनेवाला, शांति का नाशक, श्रद्धा को भंग/नष्ट करनेवाला और अभिमान को बढानेवाला मानसिक रोग है। ऐसा यह कुतर्क अनेक प्रकार से ध्यान का शत्रु है।

भावार्थ :– आचार्य अपने पाठकों को ध्यान में संलग्न कराना चाहते हैं; अतः ध्यान में बाधक परिणामों से हटने के लिये प्रेरणा दे रहे हैं। इसी अधिकार के ३३२ से ३३४ श्लोकों में वाद-विवाद के परिहार की बात भी आचार्य ने पुनः पुनः कही है। यहाँ वाद-विवाद के व्यर्थ परिणाम को भी हम कुतर्क समझ सकते हैं, जिससे साधक ध्यान से वंचित रहता है।

सर्वज्ञ कथित शुद्धात्म तत्त्व के कथन में शंका रखना यह भी महान कुतर्क करना ही है। यह मोक्षाधिकार है और अज्ञानी के ज्ञान में मोक्ष-सुख बोधगम्य नहीं होता; अतः कोई कहता है कि मोक्ष में कहाँ सुख है? ऐसा जो सोचेगा, उसका यह विचार भी कुतर्क ही है। इसलिए आचार्य समंतभद्र ने रत्नकरंडश्रावकाचार में निःशंकित अंग का जो स्वरूप लिखा है, वह हमें यहाँ समझना उपयोगी है–

इदमेवेदृशमेव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा।
इत्यकम्पायसाम्भोवत् सन्मार्गेऽसंशया रुचिः।।

श्लोकार्थ :– यहाँ तत्त्वभूत आप्त, आगम और गुरु का जो लक्षण बताया है, वह ही सत्यार्थ स्वरूप है। ईदृशमेव अर्थात् इसीप्रकार है, अन्यप्रकार नहीं है; ऐसा तलवार की धार के पानी की तरह सन्मार्ग में संशय रहित अकम्प रुचि अर्थात् श्रद्धान होना, यह निःशंकित अंग नाम का गुण है।

दृढ़चित्त होना आवश्यक –

कुतर्केऽभिनिवेशोऽतो न युक्तो मुक्ति-काङ्क्षिणाम्।
आत्मतत्त्वे पुनर्युक्तः सिद्धिसौध-प्रवेशके।।३५५।।

अन्वय :– अतः मुक्ति-काङ्क्षिणां कुतर्के अभिनिवेशः न युक्तः पुनः सिद्धिसौध-प्रवेशके आत्मतत्त्वे (अभिनिवेशः) युक्तः।

सरलार्थ :– इसलिए मोक्षाभिलाषी साधक-श्रावक एवं मुनिराजों को कुतर्क में अपने मन को अर्थात् व्यक्त विकसित ज्ञान को नहीं लगाना चाहिए; प्रत्युत अपने मन को निजात्म तत्त्व में जोडना अर्थात् दृढ़चित्त होना उचित है और यह कार्य स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धि-सदन में प्रवेश करने के लिए प्रवेश द्वार है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– साधक भले श्रावक हो अथवा मुनिराज, उनके पास जो व्यक्त अर्थात् प्रगट विकसित मति-श्रुतज्ञान है, वही ज्ञान मोक्षमार्ग में प्रवेश करने के लिये संवर-निर्जरा बढ़ाने के लिये और साक्षात् मोक्षप्राप्ति के लिये भी कार्यकारी है, उसे ही 'मन' शब्द द्वारा कहा है। कुतर्क को हटाकर इसी ज्ञान को आत्मसन्मुख कराने का अभिप्राय ग्रंथकर्ता का है।

जिसका मन निजात्मतत्त्व में लग गया है अर्थात् जो दृढ़चित्त हुआ, उसका प्रवेश मोक्ष-महल में हो ही गया समझो! इसलिए अन्य पाप अथवा पुण्यरूप सभी कार्यों से हटकर मात्र शुद्धात्म-चिंतन में लगे रहना, यही मोक्षमार्ग प्रगट करने का और तदुपरान्त मोक्ष प्राप्त करने का भी यही उपाय है।

मुक्त जीव का स्वरूप –

(पृथिवी)

विविक्तमिति चेतनं परम-शुद्ध-बुद्धाशयाः
विचिन्त्य सततादृता भवमपास्य दुःखास्पदम्।
निरन्तमपुनर्भवं सुखमतीन्द्रियं स्वात्मजं
समेत्य हतकल्मषं निरुपमं सदैवासते।।३५६।।

अन्वय :– (ये) परम-शुद्ध-बुद्धाशयाः विविक्तं इति चेतनं विचिन्त्य सतत-आदृताः दुःखास्पदं भवं अपास्य अपुनर्भवं समेत्य हतकल्मषं निरुपमं निरूपं अतीन्द्रियं स्वात्मजं सुखं सदैव आसते।

सरलार्थ :– जो परम शुद्ध-बुद्ध आशय के धारक हैं अर्थात् जिनके श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र आदि अनंत गुणों में मात्र त्रिकाली भगवान आत्मा ही उपादेयरूप से बसा हुआ है; जो कर्मरूपी कलंक से रहित निज शुद्धात्मा का ध्यान करके मात्र उसके प्रति ही अपना सर्वस्व समर्पित कर चुके हैं अर्थात् उसके संबंध में ही आदर-भक्ति रखते हैं; जो मात्र दुःखस्थानरूप संसार का त्याग कर अपुनर्भवरूप मोक्ष जो अपने ही आत्मा से उत्पन्न, सर्व पापों से रहित, अतीन्द्रिय, अनुपम और अनंतसुखरूप तिष्ठ रहे हैं; वे मुक्त जीव हैं।

भावार्थ :– मुक्त जीव का यह स्वरूप अलौकिक है। अब वे भविष्य में सदा के लिये अर्थात् अनंत काल पर्यंत इसी रूप में विराजमान रहेंगे।

इसप्रकार श्लोक क्रमांक ३०३ से ३५६ पर्यन्त ५४ श्लोकों में यह सातवाँ 'मोक्ष-अधिकार' पूर्ण हुआ।

●●●

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

८

चारित्र-अधिकार

जिनलिंग धारण करना चाहिए –

विमुच्य विविधारम्भं पारतन्त्र्यकरं गृहम्।
मुक्तिं यियासता धार्यं जिनलिङ्गं पटीयसा॥३५७॥

अन्वय :– मुक्तिं यियासता पटीयसा विविधारम्भं पारतन्त्र्यकरं गृहं विमुच्य जिनलिङ्गं धार्यम्।

सरलार्थ :– जो भव्य मनुष्य मुक्ति-प्राप्त करने का इच्छुक हों, अति निपुण हों, उसे अनेक प्रकार के आरंभों से सहित और अत्यंत पराधीनता का कारण घर अर्थात् गृहस्थपने का त्याग कर यथाजात जिनलिंग अर्थात् दिगम्बर मुनिदीक्षा धारण करनी चाहिए।

भावार्थ :– अबतक ग्रंथकार ने जीवादि सात तत्त्वों का कथन किया है। संवर एवं निर्जरा तत्त्व के कथन के समय सहज चारित्र का कथन हो चुका है और मोक्षतत्त्व में चारित्र का फल भी बताया गया है। इतना सब होने पर भी ग्रंथकार को पुनः चारित्र अधिकार लिखने का भाव हुआ है। इसमें ग्रंथकार ने आचार्य कुंदकुंद के प्रवचनसार शास्त्र के चरणानुयोग चूलिका के बहुभाग का अनुकरण किया है। जहाँ जिस श्लोक का सीधा संबंध चरणानुयोग चूलिका के गाथाओं से है, वहाँ हम उस गाथा का उल्लेख भावार्थ में करेंगे ही।

प्रवचनसार गाथा २०१ का भाव यहाँ बताने का ग्रंथकार ने सफल प्रयास किया है। मूल गाथा का अर्थ इसप्रकार है – 'यदि दुःखों से परिमुक्त होने की/छुटकारा पाने की इच्छा हो तो, पूर्वोक्त प्रकार से बारंबार सिद्धों को, जिनवर वृषभों को तथा श्रमणों को प्रणाम करके श्रामण्य को अंगीकार करो।' २०१ से २०३ पर्यंत की गाथाएँ, उनकी टीका एवं भावार्थ में भी इस विषय का विशेष खुलासा आया है।

जिनलिंग का स्वरूप –

सोपयोगमनारम्भं लुञ्चित-श्मश्रुमस्तकम्।
निरस्त-तनु-संस्कारं सदा संग-विवर्जितम्॥३५८॥
निराकृत-परापेक्षं निर्विकारमयाचनम्।
जातरूपधरं लिङ्गं जैनं निर्वृति-कारणम्॥३५९॥

अन्वय :– सदा सोपयोगं, अनारम्भं, लुञ्चित-श्मश्रु-मस्तकं, निरस्त-तनु-संस्कारं, संग-

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विवर्जितं, निराकृत-परापेक्षं, निर्विकारं, अयाचनं, जातरूपधरं जैनं लिङ्गं निर्वृति-कारणं (जायते)।

सरलार्थ :– जो सदा ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग से सहित है, सावद्यकर्मरूप आरम्भ से रहित है, जिसमें दाढी, मूँछ तथा मस्तक के केशों का लोंच किया जाता है, तेल मर्दनादि रूप में शरीर का संस्कार नहीं किया जाता, जो बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहों से मुक्त, पर की अपेक्षा से रहित, याचना-विहीन, विकार-विवर्जित और जो नवजात शिशु के समान वस्त्राभूषण से रहित दिगम्बर स्वरूप है, वह जैन अर्थात् जिनलिंग है, जो कि मोक्ष की प्राप्ति में निमित्त कारण है।

भावार्थ :– इन दो श्लोकों में जिनलिंग के नौ विशेषण बताये हैं। यह जिनलिंग मुक्ति-प्राप्ति में निमित्त कारण है। शास्त्र में अनेक स्थान पर निमित्त की मुख्यता से कथन करने की पद्धति जानने-देखने को मिलती है। जैसे आचार्य कुंदकुंद ने **णग्गो हि मोक्खमग्गो** ऐसा कहा है। ऐसे स्थान पर उपादान को गौण किया है; लेकिन उपादान का निषेध नहीं किया है; ऐसा समझना चाहिए; क्योंकि कोई भी कार्य मात्र निमित्त से होता ही नहीं।

उसी तरह शास्त्र में अनेक स्थान पर उपादान की मुख्यता से कथन करने की पद्धति जानने-देखने को मिलती है। जैसे उमास्वामी आचार्य ने **सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः** ऐसा कहा है। ऐसे स्थान पर निमित्त को गौण किया गया है, उसका निषेध नहीं किया है। प्रत्येक कार्य में उपादान और निमित्त – दोनों कारण होते ही हैं। कार्य तो उपादान में होता है और वहाँ अनुकूल निमित्त नियम से होता है; ऐसा समझना चाहिए।

इस श्लोक के विशेष स्पष्टीकरण के लिए प्रवचनसार गाथा – २०५ एवं २०६ देखें एवं इनकी टीका एवं भावार्थ भी अवश्य पढें।

दीक्षागुरु एवं दीक्षार्थी का स्वरूप –

नाहं भवामि कस्यापि न किंचन ममापरम्।
इत्यकिंचनतोपेतं निष्कषायं जितेन्द्रियम्।।३६०।।
नमस्कृत्य गुरुं भक्त्या जिनमुद्रा-विभूषितः।
जायते श्रमणोऽसङ्गो विधाय व्रत-संग्रहम्।।३६१।।

अन्वय :– **अहं कस्यापि न भवामि, अपरं मम किंचन न अस्ति – इति अकिंचनता-उपेतं निष्कषायं जितेन्द्रियं गुरुं भक्त्या नमस्कृत्य व्रत संग्रहं विधाय (यः) असङ्गः जिनमुद्रा-विभूषितः जायते (सः) श्रमणः (अस्ति)।**

सरलार्थ :– मैं किसी का नहीं हूँ और न कोई अन्य मेरा है – ऐसे अकिंचन/अपरिग्रह भाव से सहित निष्कषाय व जितेन्द्रिय गुरु को भक्तिपूर्वक नमस्कार करके व्रतसमूह (अहिंसा महाव्रतादि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अट्ठाईस मूलगुण) को धारण करके जो परिग्रह रहित होता हुआ, जो जिनमुद्रा से विभूषित होता है, वह (दीक्षार्थी) श्रमण है।

भावार्थ :– इन दो श्लोकों में दीक्षागुरु व दीक्षार्थी की विशेषताएँ बताई गई हैं। प्रवचनसार गाथा २०४ व २०७ में भी यही भाव आया है। वहाँ नया दीक्षार्थी कैसा होता है – इस प्रश्न के उत्तर में ऐसा ही स्पष्टीकरण है। टीका में इस षड्द्रव्यात्मक लोक में आत्मा से अन्य कुछ भी मेरा नहीं है – यह अंश विशेष रूप से दिया है। उपर्युक्त दोनों गाथाएँ टीका सहित जरूर देखें।

श्रमण के २८ मूलगुण –

महाव्रत-समित्यक्षरोधाः स्युः पञ्च चैकशः।
परमावश्यकं षोढा, लोचोऽस्नानमचेलता ॥३६२॥
अदन्तधावनं भूमिशयनं स्थिति-भोजनम्।
एकभक्तं च सन्त्येते पाल्या मूलगुणा यतेः ॥३६३॥

अन्वय :– महाव्रत-समिति-अक्षरोधाः एकशः पञ्च स्युः। च षोढ़ा परमावश्यकं, लोचः, अस्नानं, अचेलता, अदन्तधावनं, भूमिशयनं, स्थिति भोजनं, च एकभक्तं एते यतेः मूलगुणाः पाल्याः सन्ति।

सरलार्थ :– अहिंसादि महाव्रत, ईर्यासमिति आदि समितियाँ, पाँच इंद्रियों के स्पर्शादि विषयों का निरोध – ये सभी पाँच-पाँच होते हैं और प्रतिक्रमणादि छह आवश्यक, सात इतर गुण – केशलोंच, अस्नान, अचेलता अर्थात् नग्नता, अदन्तधोवन, भूमिशयन, खड़े-खड़े करपात्र में भोजन और दिन में एक बार अनुद्दिष्ट भोजन – ये यति/मुनिराज के अट्ठाईस मुलगुण हैं; जिनका सदा पालन करना चाहिए।

भावार्थ :– श्रमण अर्थात् मुनिराज के लिये जिस व्रतसमूह के ग्रहण की सूचना पिछले श्लोक में की है, वे २८ मूलगुण हैं, जिनका इन दोनों श्लोकों में उल्लेख किया है। इन २८ मूलगुणों के विस्तृत स्वरूप एवं उपयोगितादि के वर्णन से मूलाचार, भगवती आराधना, अनगारधर्मामृत आदि ग्रंथ भरे हुए हैं, विशेष जानकारी के लिये उन्हें देखना चाहिए। नीचे २८ मूलगुणों के नाम मात्र दे रहे हैं, जिनका कथन प्रवचनसार गाथा २०८, २०९ में प्राप्त होता है।

पाँच महाव्रत :– अहिंसा, सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह।

पाँच समितियाँ :– ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और प्रतिष्ठापन अथवा उत्सर्ग।

पाँच इंद्रिय विषयों का निरोध :– स्पर्शनेन्द्रिय का स्पर्श, रसनेन्द्रिय का रस, घ्राणेंद्रिय का गंध, चक्षुरिंद्रिय का वर्ण, कर्णेंद्रिय का विषय शब्द (यहाँ स्पर्शादि विषयों से विरक्त होना अर्थात् उनको वश में करना, ऐसा अर्थ अभिप्रेत है)।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

षट्आवश्यक :– सामायिक, स्तव, वंदना, कायोत्सर्ग, प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान।

इतर सात गुण :– सरलार्थ में स्पष्ट दिये ही हैं।

इनमें ५ महाव्रत मुख्य हैं और शेष उनका परिकर है। इस हेतु प्रवचनसार की गाथा २०६-२०९ पठनीय है।

छेदोपस्थापक मुनिराज का स्वरूप –

निष्प्रमादतया पाल्या योगिना हितमिच्छता।
सप्रमादः पुनस्तेषु छेदोपस्थापको यतिः ।।३६४।।

अन्वय :– **हितं इच्छता योगिना निष्प्रमादतया (मूलगुणाः) पाल्याः । पुनः तेषु सप्रमादः यतिः छेदोपस्थापकः (भवति)।**

सरलार्थ :– जो योगी अपना हित चाहते हैं, उनको इन २८ मूलगुणों का प्रमादरहित होकर पालन करना चाहिए। जो इन मूलगुणों के पालन में प्रमादरूप प्रवर्तते हैं, वे योगी छेदोपस्थापक होते हैं। (मूल श्लोक में एकवचन का प्रयोग होने पर भी सरलार्थ में बहुमान के लिए बहुवचन का प्रयोग किया है)

भावार्थ :– जिन गुणों अर्थात् व्रतों के अभाव में मुनिपना ही नहीं रहता, उन्हें मूलगुण कहते हैं। अतः प्रमादवश किसी भी एक अथवा अनेक मूलगुणों का छेद/नाश अथवा अभाव होते ही मुनिपने का अभाव हो जाता है। अतः उनका पालन करने में मुनिराज को अत्यन्त दत्तचित्त/सावधान रहना चाहिए। प्रवचनसार गाथा २०९ के अंतिम चरण में इसी विषय को संक्षेप में निम्न शब्दों में स्पष्ट किया है – **तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि**। अर्थ – उनमें प्रमत्त होता हुआ श्रमण छेदोपस्थापक होता है।

प्रवचनसार गाथा २१६ तथा उसकी टीका का अध्ययन इस श्लोक को समझने के लिये अत्यंत उपयोगी है; उसे पाठक अवश्य देखें। वहाँ अशुद्धोपयोग को छेद कहा है।

श्रमणों के दो भेद –

प्रव्रज्या-दायकः सूरिः संयतानां निगीर्यते।
निर्यापकाः पुनः शेषाश्छेदोपस्थापका मताः ।।३६५।।

अन्वय :– **संयतानां प्रव्रज्या-दायकः सूरिः निगीर्यते। पुनः शेषाः (श्रमणाः) छेदोपस्थापकाः निर्यापकाः मताः।**

सरलार्थ :– जीवन में प्रथम बार दीक्षा लेनेवाले नवीन दीक्षार्थी संयमियों को जो मुनिराज दीक्षा देते हैं, उन दीक्षादाता मुनिराज को सूरि, आचार्य अथवा गुरु कहते हैं। पहले से ही दीक्षा प्राप्त मुनिराज के संयमपालन में कुछ दोष लगने पर दोष प्राप्त मुनिराज को आगमानुसार उपदेश देकर जो मुनिराज उनको पुनः संयम में स्थापित करते हैं, उन मुनिराज को निर्यापक कहते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– आचार्य जयसेन ने प्रवचनसार गाथा २२४ की टीका में निर्यापक गुरुओं को शिक्षागुरु तथा श्रुतगुरु भी कहा है। छेद शब्द के अनेक अर्थ होते हैं – यहाँ प्रकरण के अनुसार – त्रुटि, दोष, अतिचार, प्रायश्चित्त, प्रायश्चित्तभेद, दिवस-मासादिक के परिमाण से दीक्षा छेद आदि कह सकते हैं।

इस श्लोक का भाव स्पष्ट समझने के लिये प्रवचनसार गाथा २१० तथा उसकी अमृतचंद्र आचार्य एवं जयसेनाचार्य की टीका को देखना उपयोगी है।

चारित्र में छेद होने पर उपाय –

प्रकृष्टं कुर्वतः साधोश्चारित्रं कायचेष्टया।
यदि च्छेदस्तदा कार्या क्रियालोचन-पूर्विका।।३६६।।
आश्रित्य व्यवहारज्ञं सूरिमालोच्य भक्तितः।
दत्तस्तेन विधातव्यश्छेदश्छेदवता सदा।।३६७।।

अन्वय :– प्रकृष्टं चारित्रं कुर्वतः साधोः यदि कायचेष्टया च्छेदः (जायते), तदा आलोचन-पूर्विका क्रिया कार्या। छेदवता (योगिना) व्यवहारज्ञं सूरिं आश्रित्य भक्तितः (स्वच्छेदं) आलोच्य तेन (सूरिणा) दत्तः छेदः सदा विधातव्यः।

सरलार्थ :– उत्तम चारित्र का अनुष्ठान करते हुए साधु के यदि काय की चेष्टा से दोष लगे – अन्तरंग से दोष न लगे – तो उसे (उस दोष के निवारणार्थ) आलोचन-पूर्वक क्रिया करनी चाहिए। यदि अन्तरंग से दोष हो जाये तो उसके कारण योगी छेद को प्राप्त सदोष होता है, उसे किसी व्यवहारशास्त्रज्ञ गुरु के आश्रय में जाकर भक्तिपूर्वक अपने दोष की आलोचना करनी चाहिए और वह जो प्रायश्चित दे उसे ग्रहण करना चाहिए।

भावार्थ :– प्रयत्नपूर्वक चारित्र का आचरण करते हुए अंतरंग में रागादिरूप अशुद्धता न हो, मात्र काय की चेष्टा से व्रत में कुछ दोष लगे तो उसका निराकरण मात्र आलोचनात्मक क्रिया से हो जाता है।

अन्तरंग के दूषित होनेपर किसी अच्छे व्यवहार-शास्त्र-कुशल गुरु का आश्रय लेकर अपने दोष की आलोचना करते हुए प्रायश्चित्त की याचना करना और उनके दिये हुए प्रायश्चित्त को भक्तिभाव से ग्रहण करके उसका पूरी तौर से अनुष्ठान करना चाहिए।

इस श्लोक के भाव को अधिक विशद समझने के लिए प्रवचनसार गाथा २११ एवं २१२ को तथा इन दोनों गाथाओं की टीकाओं को एवं भावार्थ को भी अवश्य देखें।

विहार करने की पात्रता –

भूत्वा निराकृतश्छेदश्चारित्राचरणोद्यतः।
मुञ्चमानो निबन्धानि यतिर्विहरतां सदा।।३६८।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्वय :– **छेदः निराकृतः भूत्वा चारित्राचरण-उद्यतः यतिः निबन्धानि मुञ्चमानः सदा विहरताम्।**

सरलार्थ :– छेदोपस्थापक मुनिराज पहले तो दोष रहित होवें, स्वीकार किये हुए चारित्र के आचरण करने में उद्यमी, उत्साही एवं दत्तचित्त अर्थात् विशेषरूप से सावधान रहें और (सर्वथा उपादेयस्वरूप निज भगवान आत्मा में मग्न/लीन होते हुए) किसी भी परद्रव्य में रागादि भावों को न करते हुए निरंतर विहार करें।

भावार्थ :– विहार की पात्रता के लिये तीन विषय बतलाये हैं – १. लगे हुए दोषों का परिहार करें, २. स्वीकृत चारित्र के आचरण में प्रयत्नशील रहें और ३. परद्रव्य में आसक्ति न करें।

प्रवचनसार गाथा २१३ जो निम्नानुसार है – उसका पूर्ण भाव ग्रंथकार ने इस श्लोक में व्यक्त करने का सफल प्रयास किया है –

''अधिवासे व विवासे छेदविहूणो भवीय सामण्णे।
समणो विहरदु णिच्चं परिहरमाणो णिबंधाणि॥

गाथार्थ:- अधिवास में (आत्मवास में अथवा गुरुओं के सहवास में) वसते हुए या विवास में (गुरुओं से भिन्न वास में) बसते हुए, सदा (परद्रव्यसंबंधी) प्रतिबंधों को परिहरण करता हुआ श्रामण्य में छेदविहीन होकर श्रमण विहरो।''

इस गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने मुनिराज विहार में क्या करे, इसका निम्न शब्दों में खुलासा किया है – ''वास्तव में सभी परद्रव्य-प्रतिबंध उपयोग के उपरंजक होने से निरुपराग उपयोगरूप श्रामण्य के छेद के आयतन हैं; उनके अभाव से ही अछिन्न श्रामण्य होता है। इसलिये आत्मा में ही आत्मा को सदा अधिकृत करके (आत्मा के भीतर) बसते हुए अथवा गुरु रूप से गुरुओं को अधिकृत करके (गुरुओं के सहवास में) निवास करते हुए या गुरुओं से विशिष्ट – भिन्न वास में वसते हुए, सदा ही परद्रव्यप्रतिबंधों को निषेधता (परिहरता) हुआ श्रामण्य में छेदविहीन होकर श्रमण वर्तो।''

पूर्ण श्रमणता का स्वामी –

शुद्ध-रत्नत्रयो योगी यत्नं मूलगुणेषु च।
विधत्ते सर्वदा पूर्णं श्रामण्यं तस्य जायते ॥३६१॥

अन्वय :– **(यः) योगी शुद्ध-रत्नत्रयः च मूलगुणेषु सर्वदा यत्नं विधत्ते तस्य पूर्णं श्रामण्यं जायते।**

सरलार्थ :– सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्ध रत्नत्रयस्वरूप धारक जो योगी अर्थात् मुनिराज २८ मूलगुणों के पालन करने में निरंतर परिपूर्ण प्रयत्न करते हैं, उनको पूर्ण श्रमणता होती है।

भावार्थ :– प्रवचनसार गाथा २१४ एवं दोनों आचार्यों की टीका को अवश्य पढ़ें। वहाँ निज शुद्धात्मा में मग्नता को परिपूर्ण श्रमणता कहा है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निर्ममत्व मुनिराज का स्वरूप –

उपधौ वसतौ सङ्घे विहारे भोजने जने।
प्रतिबन्धं न बध्नाति निर्ममत्वमधिष्ठितः ।।३७०।।

अन्वय :– उपधौ वसतौ सङ्घे विहारे भोजने जने निर्ममत्वं-अधिष्ठितः (योगी) प्रतिबन्धं न बध्नाति।

सरलार्थ :– आगम से मान्यता प्राप्त पीछी, कमंडलु, शास्त्ररूप धर्म के बाह्य साधनस्वरूप परिग्रह में अथवा देहमात्र परिग्रह में, निर्जन-जंगलस्थित निवासयोग्य गुफादिक आवासस्थान में, कथंचित् परिचित साधर्मी मुनिराजों में, शास्त्रानुसार किये जानेवाले विहारकार्य में, अनुद्दिष्ट सरस-नीरस आहार में, भक्ति करनेवाले भक्तजनों में निर्ममत्त्व को प्राप्त मुनिराज राग अर्थात् ममत्व नहीं करते।

भावार्थ :– प्रवचनसार गाथा २१५ तथा उसकी दोनों टीकाओं को अवश्य देखें। अमृतचंद्राचार्यकृत टीका का भावार्थ हम नीचे दे रहे हैं – आगमविरुद्ध आहारविहारादि तो मुनि ने पहले ही छोड़ दिये हैं। अब संयम के निमित्तपने की बुद्धि से मुनि के जो आगमोक्त आहार, अनशन, गुफादि में निवास, विहार, देहमात्र परिग्रह, अन्य मुनियों का परिचय और धार्मिक चर्चा-वार्ता पायी जाती है, उनके प्रति भी रागादि करना योग्य नहीं है; इसप्रकार आगमोक्त आहार-विहारादि में भी प्रतिबंध प्राप्त करना योग्य नहीं है, क्योंकि उससे संयम में छेद होता है।

जब मुनिराज शुद्धोपयोगी हो जाते हैं तब अन्य किसी भी परद्रव्य में राग होता ही नहीं। जब व्यक्त ज्ञान एक आत्मा में संलग्न हो जाता है, तब आत्मा का अन्य विषयों से व्यावृत्त हो जाना स्वाभाविक है।

प्रमाद ही हिंसा में कारण –

अशने शयने स्थाने गमे चङ्क्रमणे ग्रहे।
प्रमादचारिणो हिंसा साधोः सान्ततिकीरिता ।।३७१।।

अन्वय :– अशने शयने स्थाने गमे चङ्क्रमणे ग्रहे प्रमादचारिणः साधोः सान्ततिकीरिता हिंसा।

सरलार्थ :– जो साधु खाने-पीने में, लेटने-सोने में, उठने-बैठने में, चलने-फिरने में, हस्त-पादादिक के पसारने में, किसी वस्तु को पकड़ने में, छोड़ने या उठाने-धरने में प्रमाद करता है – यत्नाचार से प्रवृत्त नहीं होता – उसके निरन्तर हिंसा कही गयी है – भले ही वैसा करने में कोई जीव मरे या न मरे।

भावार्थ :– चारित्र में तथा २८ मूलगुणों में हिंसा की पूर्णतः निवृत्तिरूप जिस अहिंसा महाव्रत की प्रधानता है, उसको दृष्टि में रखते हुए यहाँ उस साधु को निरन्तर हिंसा का भागी बतलाया है, जो

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भोजन-शयनादिरूप उक्त क्रियाओं में प्रमाद से वर्तता है – चाहे उन क्रियाओं के करने में कोई जीव मरे या न मरे। इसी से श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार गाथा २१७ में कहा है **'मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा'** कोई जीव मरे या न मरे, जो यत्नाचार से प्रवृत्त नहीं होता ऐसे प्रमादी के निश्चितरूप से बराबर हिंसा होती रहती है। अतः हिंसा में प्रधान कारण प्रमादचर्या है – जीवघात नहीं। जीवघात के न होनेपर भी प्रमादी को हिंसा का दोष लगता है।

प्रमाद-अप्रमाद का उदाहरण –

गुणायेदं सयत्नस्य दोषायेदं प्रमादिनः।
सुखाय ज्वरहीनस्य दुःखाय ज्वरिणो घृतम् ।।३७२।।

अन्वय :– (यथा) ज्वरहीनस्य घृतं सुखाय, ज्वरिणः दुःखाय (भवति) सयत्नस्य इदं (आचरणं) गुणाय, प्रमादिनः (च) इदं दोषाय (भवति)।

सरलार्थ :– जिसप्रकार ज्वररहित मनुष्य को घी का सेवन शरीर के लिये सुखदाता सिद्ध होता है और उस ही घी का सेवन ज्वरसहित मनुष्य को दुःख का कारण बन जाता हैं; उसीप्रकार यत्नाचार से अर्थात् प्रमादरहित होकर किया गया खाना-पीना, लेटना-सोना आदि सब आचरण एक को गुणकारी अर्थात् संवर-निर्जरारूप धर्म का कारण सिद्ध होता है और अयत्नाचार से अर्थात् प्रमादसहित होकर किया गया वही खाना-पीना आदि सब आचरण दूसरे को दुःखकारी अर्थात् आस्रव-बंध का कारण बन जाता है।

भावार्थ :– प्रमादभाव/प्रमत्तभाव मिथ्यात्व गुणस्थान से प्रमत्तविरत गुणस्थान पर्यंत होता है। प्रत्येक गुणस्थान के अनुसार प्रमत्तभाव अलग-अलग जानना चाहिए। यहाँ प्रकरण मुनिराज का चल रहा है। अतः छठवें गुणस्थान में होनेवाले प्रमादभाव को ही लेना योग्य है। इसलिए संज्वलन कषाय-४, विकथा-४, इंद्रियों के विषय-५, निद्रा एवं स्नेह को लेना चाहिए। आचार्य पूज्यपाद के शब्दों में देखा जाय तो **कुशलेषु अनादरः प्रमादः** – शुद्धोपयोगरूप आत्मकार्य में अनादर अर्थात् उत्साह का अभाव ही प्रमाद है, यह बात स्पष्ट है।

ज्ञान होने पर भी चारित्र मिथ्या –

ज्ञानवत्यपि चारित्रं मलिनं पर-पीडके।
कज्जलं मलिनं दीपे सप्रकाशेऽपि तापके ।।३७३।।

अन्वय :– (यथा) तापके दीपे सप्रकाशे (सति) अपि कज्जलं मलिनं (भवति)। पर-पीडके ज्ञानवति अपि चारित्रं मलिनं (भवति)।

सरलार्थ :– जिसप्रकार उष्णता प्रदायक दीपक में सुखदाता प्रकाश होने पर भी काजल मलिन होता है, उसीप्रकार सुखदाता सर्वज्ञ जिनेन्द्र-कथित शास्त्र का ज्ञान होने पर भी जिसके आचार-विचार-उच्चार से समाज या व्यक्तिविशेष को पीड़ा/ अर्थात् दुःख ही होता रहता है तो उसका चारित्र मलिन – अर्थात् मिथ्या होने से संसार-वर्धक सिद्ध होता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– सम्यग्दर्शन के बिना मात्र शास्त्र के ज्ञान से जीव न स्वयं अपना कल्याण कर सकता है न दूसरों के कल्याण में निमित्त हो सकता है। इसलिए ११ अंग एवं ९ पूर्व का शास्त्रज्ञान होने पर भी अभव्य अथवा भव्य जीव भी अपना हित नहीं कर सकते। यथार्थ शास्त्रज्ञान के साथ यदि किसी भी कषाय चौकड़ी का अभाव न हो तो वह चारित्र मलिन अर्थात् मिथ्या हो जाता है।

भवाभिनन्दी का स्वरूप –

भवाभिनन्दिनः केचित् सन्ति संज्ञा-वशीकृताः।
कुर्वन्तोऽपि परं धर्मं लोक-पङ्क्ति-कृतादराः ॥३७४॥

अन्वय :– केचित् (जनाः) परं धर्मं कुर्वन्तः अपि भवाभिनन्दिनः संज्ञा-वशीकृताः (वा) लोक-पङ्क्ति-कृतादराः (सन्ति)।

सरलार्थ :– कुछ मनुष्य परम धर्म अर्थात् मुनिधर्म के बाह्य आचरण को आचरते हुए भी भवाभिनन्दी अर्थात् संसार का अभिनंदन करनेवाले अनंत संसारी भी होते हैं और आहार, भय, मैथुन तथा परिग्रह नाम की चार संज्ञाओं/अभिलाषाओं के आधीन होते हैं एवं लोकपंक्ति में आदर रखते हैं अर्थात् लोगों को प्रसन्न करने आदि में रुचि रखते हुए प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ :– आचार्य कुंदकुंद ने अष्टपाहुड में भावपाहुड की गाथा ११२ में भी ऐसा ही भाव प्रगट किया है, उसे अवश्य देखें।

पंडित जुगलकिशोर मुख्तार की व्याख्या हम नीचे उनके ही शब्दों में दे रहे हैं –

''यद्यपि जिनलिंग को/निर्ग्रन्थ जैनमुनि-मुद्रा को धारण करने के पात्र अति निपुण एवं विवेक-सम्पन्न मानव ही होते हैं फिर भी जिनदीक्षा लेनेवाले साधुओं में कुछ ऐसे भी निकलते हैं जो बाह्य में परम धर्म का अनुष्ठान करते हुए भी अन्तरंग से संसार का अभिनन्दन करनेवाले होते हैं। ऐसे साधु-मुनियों की पहचान एक तो यह है कि वे आहारादि चार संज्ञाओं के अथवा उनमें-से किसी एक के भी वशीभूत होते हैं; दूसरे लोकपंक्ति में – लौकिकजनों जैसी क्रियाओं के करने में उनकी रुचि बनी रहती है और वे उसे अच्छा समझकर करते भी हैं।

आहारसंज्ञा के वशीभूत मुनि बहुधा ऐसे घरों में भोजन करते हैं जहाँ अच्छे रुचिकर एवं गरिष्ठ-स्वादिष्ट भोजन के मिलने की अधिक सम्भावना होती है, उद्दिष्ट भोजन के त्याग की/आगमोक्त दोषों के परिवर्जन की कोई परवाह नहीं करते, भोजन करते समय अनेक बाह्य क्षेत्रों से आया हुआ भोजन भी ले लेते हैं, जो स्पष्ट आगमाज्ञा के विरुद्ध होता है।

भय-संज्ञा के वशीभूत मुनि अनेक प्रकार के भयों से आक्रान्त रहते हैं, परीषहों के सहने से घबराते तथा वनवास से डरते हैं; जबकि सम्यग्दृष्टि सप्त प्रकार के भयों से रहित होता है।

मैथुनसंज्ञा के वशीभूत मुनि ब्रह्मचर्य महाव्रत को धारण करते हुए भी गुप्त रूप से उसमें दोष लगाते हैं।

परिग्रह-संज्ञावाले साधु अनेक प्रकार के परिग्रहों की इच्छा को धारण किये रहते हैं, पैसा जमा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

करते हैं, पैसे का ठहराव करके भोजन करते हैं, अपने इष्टजनों को पैसा दिलाते हैं, पुस्तकें छपा-छपाकर बिक्री करते-कराते रुपया जोड़ते हैं, तालाबन्द बोक्स रखते हैं, बोक्स की ताली कमण्डलु आदि में रखते हैं, पीछी में नोट छिपाकर रखते हैं, अपनी पूजायें बनवाकर छपवाते हैं और अपनी जन्मगाँठ का उत्सव मनाते हैं। ये सब लक्षण उक्त भवाभिनन्दियों के हैं, जो श्लोक के **संज्ञावशीकृताः** और **लोकपंक्तिकृतादराः** इन दोनों विशेषणों से फलित होते हैं और आजकल अनेक मुनियों में लक्षित भी होते हैं।''

भवाभिनन्दी का ही पुनः स्पष्ट स्वरूप –

मूढा लोभपराः क्रूरा भीरवोऽसूयकाः शठाः।
भवाभिनन्दिनः सन्ति निष्फलारम्भकारिणः ॥३७५॥

अन्वय :– ये मूढाः लोभपराः क्रूराः भीरवः असूयकाः शठाः निष्फल-आरम्भ-कारिणः (ते) भवाभिनन्दिनः सन्ति।

सरलार्थ :– जो मूढ अर्थात् मिथ्यादृष्टि, लोभ परिणाम करने में सदा तत्पर, अत्यन्त क्रूर स्वभावी, महा डरपोक, अतिशय ईर्षालु; विवेक से सर्वथा रहित, निरर्थक आरंभ करनेवाले जीव हैं, वे निश्चितरूप से भवाभिनन्दी अर्थात् अनन्त संसारी हैं।

भावार्थ :– स्पष्ट है।

लोकपंक्ति का स्वरूप –

आराधनाय लोकानां मलिनेनान्तरात्मना।
क्रियते या क्रिया बालैर्लोकपङ्क्तिरसौ मता ॥३७६॥

अन्वय :– बालैः (अज्ञ-साधुभिः) मलिनेन-अन्तरात्मना लोकानां आराधनाय या क्रिया क्रियते असौ लोकपङ्क्तिः मता।

सरलार्थ :– मलिन अंतरंगवाले होने से अर्थात् बहिरात्मपर्याय से सहित होकर विषय-कषाय में अनुरक्त तत्त्वज्ञान से रहित अज्ञ साधुओं द्वारा जनसामान्य का अनुरंजन अर्थात् सामान्यजन को प्रसन्न करने एवं उनको अपनी ओर आकर्षित करने के लिये मिथ्या व्रतादिरूप क्रिया की जाती है, उसे लोकपंक्ति कहते हैं।

भावार्थ :– प्रवचनसार गाथा – २२३ में असंयमी जनों से अपेक्षित किसी भी वस्तु का स्वीकार अथवा कोई कार्य मुनिराज को नहीं करना चाहिए; ऐसा स्पष्ट संकेत दिया है। अतः जनसामान्य को खुश करने के लिये मुनिराज को कुछ भी नहीं करना चाहिए; यह बात स्वयमेव स्पष्ट हो जाती है। साधु का पद ही अलौकिक है, वहाँ लौकिक जनों से संबंध क्यों रखना?

प्रवचनसार गाथा २२६ में **इहलोगणिरावेक्खो** – इस लोक से निरपेक्ष, यह विशेषण साधु के लिये दिया है। उसीप्रकार गाथा-२५३ में भी आचार्य कुन्दकुन्द ने संघ की व्यवस्था के लिए लौकिक जनों से सम्पर्क निन्दित नहीं है – ऐसा कहा है और इसी गाथा की टीका में अमृतचन्द्राचार्य

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

'प्रसिद्ध है' – ऐसा कहते हैं; लेकिन लौकिकजनों के सम्पर्क का समर्थन कोई भी नहीं करते हैं। प्रवचनसार गाथा २६८-२६९ एवं उसकी टीका भी अवश्य देखें।

लोकपंक्ति अर्थात् लोकानुरंजन भी कल्याणकारी –

धर्माय क्रियमाणा सा कल्याणाङ्गं मनीषिणाम्।
तन्निमित्तः पुनर्धर्मः पापाय हतचेतसाम्।।३७७।।

अन्वय :– मनीषिणां धर्माय क्रियमाणा सा (लोकपङ्क्तिः) कल्याणाङ्गं (भवति)। पुनः हतचेतसां तन्निमित्तः (लोकपङ्क्तिनिमित्तः) धर्मः पापाय (भवति)।

सरलार्थ :– जो सम्यग्दृष्टि भेदविज्ञानी विद्वान् साधु हैं, उनकी धर्मप्रभावना अथवा जीवदया करने के अभिप्राय से की गयी उक्त लोकाराधना/लोकानुरंजनरूप क्रिया भी कल्याणकारिणी होती है और मिथ्यादृष्टि/अविवेकी साधु हैं, उनकी विषय-कषाय अथवा अज्ञान के कारण से की गई वही की वही – लोकानुरंजनरूप क्रिया पापबंध का कारण बन जाती है।

भावार्थ :– क्रिया, परिणाम और अभिप्राय नवीन कर्मबंध में अपना-अपना भिन्न-भिन्न स्थान रखते हैं। क्रिया जो जड़ शरीरादि अचेतन द्रव्य की होने के कारण उससे किंचित् मात्र नवीन कर्मबंध नहीं होता। परिणाम अर्थात् चारित्रगुण के शुभाशुभरूप भाव स्वीकारेंगे तो अधिक से अधिक ४० कोडाकोडीसागर का बंध हो सकता है और अभिप्राय श्रद्धागुण की विपरीत पर्याय लेंगे तो ७० कोडाकोडीसागर का बंध होता है, जो अनंतसंसार का निमित्त होता है। अतः सबसे पहले अभिप्राय को यथार्थ करना चाहिए अर्थात् सम्यक्त्व की प्राप्ति करना ही उसका सच्चा साधन है। अभिप्राय बदलने के कारण परिणाम तो सहज ही सुधरते हैं और क्रिया भी यथार्थ होती है। इसकारण ही मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अधिकार के पृष्ठ २३८ पर कहा है – **फल लगता है, सो अभिप्राय में जो वासना है उसका लगता है।**

आसन्नभव्य जीव को ही मुक्ति की प्राप्ति –

मुक्तिमार्गपरं चेतः कर्मशुद्धि-निबन्धनम्।
मुक्तिरासन्नभव्येन न कदाचित्पुनः परम्।।३७८।।

अन्वय :– मुक्तिमार्गपरं चेतः कर्मशुद्धि-निबन्धनं (भवति), कदाचित् परं (चेतः) न। पुनः मुक्तिः आसन्नभव्येन (प्राप्यते)।

सरलार्थ :– मुक्ति प्राप्त करने के लिए जिन जीवों का चित्त मुक्तिमार्ग में अति तत्परता से संलग्न है, उनकी चित्त की वह एकाग्रता कर्मरूपी मल के नाश का कारण है; जो चित्त मुक्तिमार्ग पर आरूढ़ नहीं है, उसके द्वारा कभी भी कर्मों का नाश नहीं होता है और मुक्ति की प्राप्ति आसन्नभव्य जीव को ही होती है।

भावार्थ :– मुक्ति की प्राप्ति जीव को ही होती है, ऐसा सामान्य कथन है। विशेषरूप से विचार किया जाय तो मुक्ति की प्राप्ति भव्यजीवों को होती है, अभव्य जीवों को नहीं और भी सूक्ष्मता से

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथवा पर्यायगत योग्यता की मुख्यता से विचार किया जाय तो आसन्नभव्य अर्थात् जिनका संसार का किनारा नजदीक आ गया है ऐसे भव्यों को मुक्ति की प्राप्ति होती है, अन्य भव्यजीवों को नहीं। संसार में अनंत भव्यजीव भी अनंतकाल पर्यंत दुःखमय अवस्थारूप संसार में ही रुलेंगे, ऐसा कथन जिनेन्द्र भगवान की वाणी में आया है; क्योंकि यह तीन लोकमय जगत भव्यजीवों से कभी खाली होगा ही नहीं, यह नियम है।

आसन्नभव्यता की बात सागारधर्मामृत शास्त्र में आयी है और अति प्राचीन शास्त्र कार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा ३०६ में **संसारतडे नियडो** अर्थात् जिनका संसार का किनारा नजदीक आ गया है, ऐसे भव्य जीव को ही सम्यक्त्व/मोक्षमार्ग प्रगट होता है, यह कथन मिलता है।

भवाभिनन्दी, मुक्ति का द्वेषी –

कल्मष-क्षयतो मुक्तिर्भोग-सङ्गमवर्जिनाम्।
भवाभिनन्दिनामस्यां विद्वेषो मुग्धचेतसाम्॥३७९॥

अन्वय :– भोग-सङ्गम-वर्जिनां कल्मष-क्षयतः मुक्तिः (जायते)। मुग्धचेतसां भवाभिनन्दिनां अस्यां (मुक्त्यां) विद्वेषः (वर्तते)।

सरलार्थ :– जो पंचेंद्रियों के स्पर्शादि भोग्यरूप विषयों के संपर्क से रहित हैं अथवा इंद्रिय-विषयों के भोगों से और संपूर्ण बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह से सर्वथा विरक्त हैं, उन मुनिराजों के ज्ञानावरणादि आठों कर्मों का नाश होने से उन्हें मुक्ति की प्राप्ति होती है। मूढचित्त अर्थात् मिथ्यादृष्टि भवाभिनन्दी जीवों का इस मुक्ति से अतिशय द्वेषभाव रहता है।

भावार्थ :– इस श्लोक के पूर्व भाग में मुक्ति के उपादान कारण व निमित्त कारण – दोनों का ज्ञान कराया है – जैसे भोग एवं परिग्रह से विरक्तता अर्थात् वीतराग परिणाम को बताकर जीवगत उपादान कारण को स्पष्ट किया और आठों कर्मों का अभाव कहकर निमित्त कारण का खुलासा किया है। श्लोक की दूसरी पंक्ति में मिथ्यात्वजन्य अभिप्राय की भयंकरता बताई है। प्रत्यक्ष द्वेष करने की आवश्यकता नहीं है, भोगों के प्रति आकर्षण ही मुक्ति का द्वेष है।

सम्यक्त्व का माहात्म्य –

नास्ति येषामयं तत्र भवबीज-वियोगतः।
तेऽपि धन्या महात्मानः कल्याण-फल-भागिनः॥३८०॥

अन्वय :– येषां भवबीज-वियोगतः तत्र (मुक्त्यां) अयं (विद्वेषः) न अस्ति, ते महात्मानः अपि धन्याः च कल्याण-फल-भागिनः (सन्ति)।

सरलार्थ :– जिनके जीवन में अनंत दुःख का कारणरूप भवबीज अर्थात् मिथ्यादर्शन का वियोग/अभाव होने से मुक्तिसंबंधी का द्वेषभाव नहीं रहा, वे महात्मा भी धन्य हैं, प्रशंसनीय हैं और वे कल्याणरूप फल के भागी हैं।

भावार्थ :– मात्र मिथ्यादर्शन के अभाव करनेवालों को इस श्लोक में महात्मा एवं धन्य कहा है; क्योंकि मिथ्यादर्शन के अभाव का अर्थ है, संसार सीमित होना एवं अल्पकाल में मुक्ति-प्राप्ति का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पक्का निर्णय होना। इसलिए मनुष्य अथवा प्रत्येक जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का एकमात्र पुरुषार्थ करना चाहिए। तदनंतर ही मुक्ति के प्रयास का मार्ग खुलता है।

स्वामी समन्तभद्र ने सम्यग्दर्शन से सम्पन्न चाण्डाल-पुत्र को भी 'देव' लिखा है और श्री कुन्द-कुन्दाचार्य ने सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट को भ्रष्ट ही निर्दिष्ट किया है; क्योंकि उसे निर्वाण की सिद्धि/प्राप्ति नहीं होती।

इस सब कथन से यह साफ फलित होता है कि मुक्तिद्वेषी मिथ्यादृष्टि भवाभिनन्दी मुनियों की अपेक्षा देशव्रती श्रावक और अविरत-सम्यग्दृष्टि गृहस्थ भी धन्य हैं, प्रशंसनीय हैं तथा कल्याण के भागी हैं। स्वामी समन्तभद्र ने ऐसे ही सम्यग्दर्शन-सम्पन्न सद्गृहस्थों के विषय में निम्नानुसार लिखा है–

''गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो, निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान्, निर्मोहो मोहिनो मुने:।।

मोह (मिथ्यादर्शन) रहित गृहस्थ मोक्षमार्गी है। मोहसहित (मिथ्यादर्शनयुक्त) मुनि मोक्षमार्गी नहीं है। (और इसलिए) मोही/मिथ्यादृष्टिमुनि से निर्मोही सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रेष्ठ है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि मुनिमात्र का दर्जा/स्थान गृहस्थ से ऊँचा नहीं है, मुनियों में मोही और निर्मोही दो प्रकार के मुनि होते हैं। मोही मुनि से निर्मोही गृहस्थ का दर्जा ऊँचा है, श्रेष्ठ है। इसमें मैं इतना और जोड़ देना चाहता हूँ कि अविवेकी मुनि से भी विवेकी गृहस्थ श्रेष्ठ है और इसलिए उसका दर्जा/स्थान अविवेकी मुनि से ऊँचा है।

जो भवाभिनन्दी मुनि मुक्ति से अन्तरंग में द्वेष/अरुचि रखते हैं, वे जैन मुनि अथवा श्रमण कैसे हो सकते हैं? नहीं हो सकते। जैन मुनियों का तो प्रधान लक्ष्य ही मुक्ति प्राप्त करना होता है। उसी लक्ष्य को लेकर जिनमुद्रा धारण की सार्थकता मानी गयी है। यदि वह लक्ष्य ही नहीं है, तो जैन मुनिपना भी संभव नहीं है। जो मुनि उस लक्ष्य से भ्रष्ट हैं, उन्हें जैनमुनि नहीं कह सकते – वे भेषी/ढोंगी मुनि अथवा श्रमणाभास हैं।

मुक्तिमार्ग के नाशक जीव –

संज्ञानादिरुपायो यो निर्वृतेर्वर्णितो जिनैः।
मलिनीकरणे तस्य प्रवर्तन्ते मलीमसाः।।३८१।।

अन्वय :– **निर्वृतेः यः संज्ञानादिः उपायः जिनैः वर्णितः (अस्ति), मलीमसाः तस्य मलिनीकरणे प्रवर्तन्ते।।२५।।**

सरलार्थ :– जिनेन्द्र देवों ने कहा हुआ मुक्ति के उपायभूत रत्नत्रयस्वरूप सम्यग्ज्ञानादि को मलिनचित्त जीव मलिन करने में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ :– सोमदेवसूरि ने अपने ग्रंथ में स्पष्ट शब्दों में कहा है –

पंडितैर्भ्रष्टचारित्रैर्जठरैश्च तपोधनैः।
शासनं जिनचंद्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम्।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

श्लोकार्थ :– भ्रष्ट पंडितों ने और अविवेकी साधुओं ने जिनेन्द्ररूपी चंद्र के शासन अर्थात् जिनेन्द्र भगवान के उपदेश को मलिन किया है।

न्यायशास्त्र के संस्थापक तथा आद्य स्तुतिकार स्वनामधन्य आचार्य समंतभद्र ने युक्त्यनुशासन शास्त्र के ५वें श्लोक में कहा है – 'हे **वीरजिन! आपके शासन अर्थात् उपदेश में तीन लोक पर एकाधिपत्य स्थापित करने की क्षमता/सामर्थ्य है; तथापि एकाधिपत्य प्राप्त न कर सकने के तीन कारण हैं – पहला कारण कलिकाल का सद्भाव, दूसरा कारण वक्ता का नयसंबंधी अज्ञान और तीसरा कारण है श्रोताओं का कलुषित आशय।**

आराधना तथा विराधना का फल –

आराधने यथा तस्य फलमुक्तमनुत्तरम्।
मलिनीकरणे तस्य तथानर्थो बहुव्यथः ॥३८२॥

अन्वय :– यथा तस्य (निर्वृतेः उपायस्य) आराधने अनुत्तरम् फलं उक्तं तथा तस्य (निर्वृतेः उपायस्य) मलिनीकरणे अनर्थः तथा बहुव्यथः (उक्तः)।

सरलार्थ :– मोक्षमार्ग की आराधना के फलरूप में अनुपम मुक्ति की प्राप्ति होती है और जो जीव मोक्षमार्ग की विराधना करता है, उसको निगोदादि अवस्थारूप अनर्थ अवस्था की प्राप्तिपूर्वक महादुःखरूप फल मिलता है।

भावार्थ :– मुक्ति की प्राप्ति में कारण निज आत्मा है और निगोदादि अवस्था में रखडनेरूप संसार की प्राप्ति में भी कारण निज आत्मा ही है।

प्रश्न :– मुक्ति की प्राप्ति में निज आत्मा कारण है, यह तो ठीक; परंतु निगोदादि की प्राप्ति में भी निज आत्मा ही कारण है, यह कैसे?

उत्तर :– यह न असंभव है और न आश्चर्यकारक; क्योंकि मुक्ति की प्राप्ति में निजशुद्धात्मा की उपासना/आराधना अर्थात् आत्मध्यान कारण है और रखड़ने में निजशुद्धात्मा की विराधना कारण है।

दृष्टान्तपूर्वक आत्मविराधना के फल का कथन –

तुङ्गारोहणतः पातो यथा तृप्तिर्विषान्नतः।
यथानर्थोऽवबोधादि-मलिनीकरणे तथा ॥३८३॥

अन्वय :– यथा तुङ्गारोहणतः पातः यथा विषान्नतः तृप्तिः अनर्थः (कारकः भवति) तथा अवबोधादि-मलिनीकरणे (अनर्थः भवति)।

सरलार्थ :– जिसप्रकार पर्वत से नीचे गिरना तथा विषमिश्रित भोजन से तृप्ति का अनुभव करना – दोनों महा अनर्थकारी अर्थात् मरण का ही कारण है; उसीप्रकार सम्यग्ज्ञानादि को मलिन अर्थात् दूषित करना अत्यंत अनर्थकारी है अर्थात् दुःखरूप संसार में भटकने का कारण है।

भावार्थ :– तुंगारोहण से पतन एवं विषाक्त भोजन का सेवन – इन दोनों दृष्टान्तों से पाठकों को मूल विषय समझाने का आचार्य महाराज प्रयास करते हैं – हमें आपको प्राप्त इस एक मनुष्यभव में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

एक बार ही मरण की बात कही है। यदि जीव सम्यग्ज्ञानादि को अर्थात् मोक्षमार्ग को मलिन करता है अर्थात् मिथ्यादृष्टि हो जाता है तो संसार में अनंत जन्म-मरण करने का महान् दुःख भोगना पड़ता है। मिथ्यात्व से उत्पन्न दुःख की तुलना किसी भी अनर्थ से नहीं की जा सकती, वह शब्दातीत है। ग्रंथकार ने ज्ञात उदाहरणों से दुःख का ज्ञान कराने का प्रयास किया है, जो उचित ही है। ऐसे दुःख से छूटने का उपाय एक सम्यग्दर्शन ही है, अन्य कुछ नहीं।

प्रमाद ही बंध का मूल –

अयत्नचारिणो हिंसा मृते जीवेऽमृतेऽपि च।
प्रयत्नचारिणो बन्धः समितस्य वधेऽपि नो ।।३८४।।

अन्वय :– जीवे मृते च अमृते अपि अयत्नाचारिणः हिंसा (भवति। तथा) समितस्य प्रयत्नाचारिणः वधे अपि बन्धः न (भवति)।

सरलार्थ :– जो साधक यत्नाचार रहित अर्थात् प्रमाद सहित है; उसके निमित्त से अन्य जीव के मरने तथा न मरने पर भी हिंसा का पाप होता है और जो साधक ईर्यादि समितियों से युक्त हुआ – यत्नाचारी अर्थात् प्रमाद रहित है, उसके निमित्त से अन्य जीव का घात होने पर भी हिंसा के पाप जन्य कर्म का बंध नहीं होता।

भावार्थ :– मोक्षमार्ग के अंगभूत सम्यक्चारित्र में हिंसा की पूर्णतः निवृत्तिरूप अहिंसा महाव्रत की प्रधानता है। उस अहिंसा महाव्रत की मलिनता का विचार करते हुए यहाँ सिद्धान्तरूप में एक बड़े ही महत्त्व की सूचना की गयी है और वह यह कि हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध किसी जीव के मरने-न मरने (जीने) पर अवलम्बित नहीं है। कोई जीव मरे या न मरे, परन्तु जो अयत्नाचारी-प्रमादी है उसको हिंसा का दोष लगने से महाव्रत मलिन होता ही है। जो प्रयत्नपूर्वक मार्ग शोधता हुआ सावधानी से चलता है, फिर भी उसके शरीर से यदि किसी जीव का घात हो जाय तो उस जीवघात का उसको कोई दोष नहीं लगता और इससे उसका अहिंसा महाव्रत मलिन नहीं होता।

सारांश यह निकला कि हमारा अहिंसाव्रत हमारी प्रमादचर्या से मलिन होता है, किसी जीव की मात्र हिंसा हो जाने से नहीं। अतः साधु को अपने व्रत की रक्षा के लिये सदा प्रमाद के त्यागपूर्वक यत्नाचार से प्रवृत्त होना चाहिए। इस विषय में पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ के श्लोक ४५ से ४७ में वर्णित श्री अमृतचन्द्र सूरि के निम्न हेतु-पुरस्सर-वाक्य सदा ध्यान में रखने योग्य हैं :–

"युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव।।
व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा।।
यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

श्लोकार्थ :– जो साधु यत्नाचार से प्रवृत्त हो रहा है उसके रागादि के आवेश का अभाव होने से किसी का प्राणव्यपरोपण हो जाने पर भी कभी हिंसा नहीं होती। रागादि के वश प्रवृत्त होनेवाली प्रमादावस्था में तो कोई जीव मरे या न मरे हिंसा आगे-आगे दौड़ती हुई चलती है – निश्चित रूप से हिंसा होती ही है। क्योंकि जो जीव कषायरूप प्रवृत्त होता है वह पहले अपने द्वारा अपना ही घात करता है पश्चात् दूसरे जीवों का घात हो या न हो – यह उनके भाग्य से सम्बन्ध रखता है।''

प्रमाद रहित साधक का उदाहरण सहित कथन –

पादमुत्क्षिपत: साधोरीर्यासमिति-भागिन:।
यद्यपि म्रियते सूक्ष्म: शरीरी पाद-योगत:॥३८५॥
तथापि तस्य तत्रोक्तो बन्ध: सूक्ष्मोऽपि नागमे।
प्रमाद-त्यागिनो यद्वन्निर्मूर्च्छस्य परिग्रह:॥३८६॥

अन्वय :– **यद्वत् निर्मूर्च्छस्य परिग्रह: (न उक्त: तद्वत्) यद्यपि ईर्यासमिति-भागिन: साधो: पादं-उत्क्षिपत: पाद-योगत: सूक्ष्म: शरीरी म्रियते तथापि तत्र आगमे तस्य प्रमाद-त्यागिन: सूक्ष्म: अपि बन्ध: न उक्त:।**

सरलार्थ :– जिसप्रकार मूर्च्छा अर्थात् ममता रहित जीव के परिग्रह पाप नहीं कहा जाता, उसीप्रकार यद्यपि ईर्या समिति से सहित अर्थात् भले प्रकार देख-देखकर सावधानी से चलते हुए योगी के पैर को उठाकर रखते समय कभी-कभी सूक्ष्म जंतु (उड़ता हुआ) पैर तले आकर मर जाता है; तथापि जिनागम में उस प्रमादत्यागी योगी के उस जीवघात से सूक्ष्म भी बंध का होना नहीं कहा गया है।

भावार्थ :– तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ६ के सूत्र १३वें में **'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा'** कहा है अर्थात् प्रमाद (राग-द्वेष) के योग से प्राणों के घात को हिंसा कहा है और शेष चार पापों के लक्षण में भी 'प्रमत्तयोगात्' पद का सम्बन्ध लेने की अनिवार्यता बताई है। तात्पर्य यह है कि प्रमाद को ही पाप कहा जाता है, प्रमाद के अभाव में होनेवाली क्रियामात्र को हिंसा नहीं कहा जाता। मुनिराज प्रमाद रहित हैं, अत: उनके द्वारा कदाचित् किसी जीव का घात हो भी जाता है तो भी उसे हिंसा नहीं कहते हैं और उससे उन्हें सूक्ष्म भी बन्ध नहीं होता।

पिछले पद्य में प्रमाद-अप्रमाद संबंधी जो कुछ कहा है, उसको ही इन दोनों श्लोकों में उदाहरण के साथ स्पष्ट करके बतलाया है। प्रवचनसार गाथा २३२ एवं २३३ की जयसेनाचार्यकृत टीका में भी इसी आशय को स्पष्ट किया है।

प्रमादी साधक का स्वरूप –

प्रमादी त्यजति ग्रन्थं बाह्यं मुक्त्वापि नान्तरम्।
हित्वापि कञ्चुकं सर्पो गरलं न हि मुञ्चते॥३८७॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्वय :– यथा सर्पः कञ्चुकं हित्वा अपि गरलं न हि मुञ्चते (तथा) प्रमादी बाह्यं ग्रन्थं मुक्त्वापि आन्तरं न त्यज्यति।

सरलार्थ :– जिसप्रकार अतिशय विषैला सर्प काँचली को छोड़कर भी विष को नहीं छोडता है तो उसका काँचली का छोड़ना व्यर्थ है; उसीप्रकार जो प्रमादी साधक अर्थात् मुनिराज हैं वे बाह्य परिग्रह को छोड़कर भी अंतरंग परिग्रह को नहीं छोडते हैं तो उनका बाह्य परिग्रह का छोडना व्यर्थ है।

भावार्थ :– मुनिराज के मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगीपने को इस श्लोक में स्पष्ट किया है। इसप्रकार की मुनि-अवस्था अनंतबार स्वीकार की तो भी कुछ लाभ नहीं है, उससे संसार ही बढ़ता है। इसी आशय का श्लोक आचार्य मल्लिषेण ने सज्जनचित्त-वल्लभ ग्रंथ में लिखा है –

किं वस्त्र-त्यजनेन भो मुनिरसावेतावता जायते।
क्ष्वेडेन च्युतपन्नगो गतविषः किं जातवान् भूतले।।

श्लोकार्थ:– हे मुनि! वस्त्र को त्यागने मात्र से ही क्या कोई मुनि हो जाता है? क्या इस भूतल पर काँचली के छोड़ने से कोई सर्प निर्विष हुआ है?

मात्र बाह्यशुद्धि अविश्वसनीय –

अन्तःशुद्धिं बिना बाह्या न साश्वासकरी मता।
धवलोऽपि बको बाह्ये हन्ति मीनानेकशः ।।३८८।।

अन्वय :– (यथा) बकः बाह्ये धवलः अपि अनेकशः मीनान् हन्ति। तथा अन्तःशुद्धिं विना बाह्या (शुद्धिः) साश्वासकरी न मता।

सरलार्थ :– जैसे बगुला बाह्य में धवल/उज्ज्वल होने पर भी अंतरंग अशुभ परिणामों से अनेक मछलियों को मारता ही रहता है; वैसे अन्तरंग की शुद्धि के बिना अर्थात् निश्चयधर्मरूप वीतरागता के अभाव में मात्र बाह्यशुद्धि अर्थात् मात्र २८ मूलगुणों के पालनरूप व्यवहारधर्म/द्रव्यलिंगपना विश्वास के योग्य नहीं है अर्थात् कुछ कार्यकारी नहीं है – संसारवर्धक ही है।

भावार्थ :– मात्र बाह्यशुद्धि अर्थात् अट्ठाईस मूलगुणों के पालन से मोक्ष की प्राप्ति होने लगेगी तो **अनंतबार मुनि-अवस्था का स्वीकार करने पर भी द्रव्यलिंगी संसार के नेता बने रहते हैं** – यह आगम का कथन असत्य सिद्ध होता है। तब तो फिर अभव्य को भी सिद्ध होने में आपत्ति नहीं रहेगी। मिथ्यात्व के रहते हुए भी मोक्षमार्ग तथा मोक्ष की प्राप्ति होना सम्भव हो सकेगा। इसलिए बाह्यशुद्धि मोक्षमार्ग एवं मोक्ष के लिये विश्वासयोग्य नहीं है, इस परमसत्यरूप को स्वीकार करना चाहिए।

प्रमाद और अप्रमादभाव का फल –

योगी षट्स्वपि कायेषु सप्रमादः प्रबध्यते।
सरोजमिव तोयेषु निष्प्रमादो न लिप्यते ।।३८९।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्वय :– **तोयेषु सरोजं इव (यः) योगी (षट्सु अपि कायेषु) निष्प्रमादः (वर्तते सः कर्मणा) न लिप्यते। (यः योगी) षट्सु अपि कायेषु सप्रमादः (वर्तते सः कर्मणा) प्रबध्यते।**

सरलार्थ :– जिसप्रकार जल में कमल जल से सर्वथा अस्पर्शित रहता है अर्थात् जल का कमल से किंचित् भी स्पर्श नहीं होता; उसीप्रकार जो योगी प्रमाद से षट्काय जीवों की हिंसा में प्रवृत्त नहीं होते, वे ज्ञानावरणादि कर्मों से नहीं बंधते और जो प्रमाद से षट्काय जीवों की हिंसा में प्रवृत्त होते हैं, वे कर्मों से बंधते हैं।

भावार्थ :– हिंसादि पाँचों पापों में मूल तो प्रमाद ही है। राग-द्वेषरूप परिणाम को प्रमाद कहते हैं। प्रमादभाव प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर छठवें गुणस्थान पर्यंत रहता है। प्रत्येक गुणस्थान में होनेवाला प्रमादभाव भिन्न-भिन्न प्रकार का है। इस श्लोक में छठवें गुणस्थान में होनेवाले प्रमाद की मुख्यता है; क्योंकि यहाँ चारित्र-अधिकार में मुनि की मुख्यता से ग्रंथकार समझा रहे हैं और श्लोक में योगी शब्द भी है, जिसका अर्थ मुख्यता से मुनि ही होता है। जब मुनिराज छठवें गुणस्थान में आते हैं तो वे प्रमादी कहलाते हैं; तथापि महाव्रतों का स्वीकार होने से वे षट्काय जीवों की हिंसा में प्रवृत्त नहीं होते; लेकिन यदि वे मुनिराज छठवें गुणस्थान से च्युत होकर नीचे के गुणस्थानों में आते हैं और अयत्नाचार से प्रवृत्त होते हैं, तो वे षट्काय जीवों की हिंसा में बाह्य में मुनि-अवस्था होने पर भी प्रवृत्त होते हैं और उनको हिंसाजन्य परिणामों से कर्म का बंध होता है। जो मुनिराज छठवें-सातवें गुणस्थान में ही रहते हुए षट्काय जीवों की हिंसा में प्रवृत्त नहीं होते; उन्हें हिंसाजन्य कर्मों का बंध नहीं होता।

यहाँ जो कर्मबंध नहीं होता और होता है – ऐसा जो कथन किया है वह मात्र हिंसाजन्य पाप को लेकर ही किया हुआ समझना चाहिए। छठवें और सातवें आदि गुणस्थानों में भी भूमिका के अनुसार होनेवाले अबुद्धिपूर्वक परिणामों के निमित्त से जो कर्मबंध होता है, उसका यहाँ निषेध नहीं है।

प्रवचनसार गाथा २१८ का भाव इस श्लोक में बताने का सफल प्रयास ग्रंथकार ने किया है। प्रवचनसार की गाथा निम्नप्रकार है :–

अयदाचारो समणो, छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदो।
चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरूवलेवो॥

गाथार्थ :– अप्रयत आचारवाला श्रमण छहों काय संबंधी वध का करनेवाला मानने में - कहने में आया है; यदि सदा प्रयतरूप से आचरण करे तो जल में कमल की भाँति निर्लेप कहा गया है।

परिग्रह से बंध अनिवार्य –

साधुर्यतोऽङ्घिघातेऽपि कर्मभिर्बध्यते न वा।
उपधिभ्यो ध्रुवो बन्धस्त्याज्यास्तैः सर्वथा ततः ॥३९०॥

अन्वय :– **(यतः) अङ्घिघातेऽपि साधुः कर्मभिः बध्यते वा न (बध्यते)। तु उपधिभ्यः ध्रुवः बन्धः (भवति)। ततः तैः (साधुभिः) सर्वथा (उपधयः) त्याज्याः (सन्ति)।**

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :– आहार-विहारादि के समय मुनिराज के शरीर की क्रिया के निमित्त से और प्रमादरूप परिणाम के सद्भाव से अन्य जीव की हिंसा होने पर मुनिराज को कर्म का बंध होता है। और कभी कायचेष्टा के कारण जीव के घात होनेपर भी यदि प्रमादरूप परिणाम न हों तो कर्म का बंध नहीं होता; परंतु परिग्रह के कारण नियम से कर्म का बंध होता ही है। इसलिए मुनिराज परिग्रह का सर्वथा त्याग करते हैं।

भावार्थ :– कायचेष्टा से जीव का घात होने पर तो बन्ध के विषय में अनेकान्त है – कभी बंध होता है और कभी बंध नहीं भी होता। अन्तरंग में यदि प्रमादरूप अशुद्ध भाव का सद्भाव है तो बंध होता है और सद्भाव नहीं है तो बन्ध नहीं होता, परन्तु परिग्रह के विषय में बन्ध का अनेकान्त नहीं किन्तु एकान्त है – बंध अवश्य ही होता है। इसलिए सच्चे मुमुक्षु साधु परिग्रहों का सर्वथा त्याग करते हैं – किसी भी परिग्रह में ममत्व नहीं रखते।

इस श्लोक का आधार प्रवचनसार की गाथा २१९ होगी, ऐसा लगता है। गाथा निम्नप्रकार है–

हवदि व ण हवदि बंधो मदम्हि जीवेऽध कायचेट्ठम्मि।
बंधो धुवमुवधीदो इदि समणा छड्डिया सव्वं।।

गाथार्थ :- अब (उपधि के संबंध में ऐसा है कि) कायचेष्टापूर्वक जीव के मरने पर बंध होता है अथवा नहीं होता; (किन्तु) उपधि/परिग्रह से निश्चय ही बंध होता है; इसलिये श्रमणों (अर्हन्तदेवों) ने सर्व परिग्रह को छोड़ा है।

योगसारप्राभृत के इस श्लोक का यथार्थ एवं पूर्ण भाव समझने के लिये प्रवचनसार के उक्त गाथा की दोनों टीकाओं का अध्ययन जरूर करें।

अति अल्प परिग्रह भी बाधक –

एकत्राप्यपरित्यक्ते चित्तशुद्धिर्न विद्यते।
चित्तशुद्धिं बिना साधोः कुतस्त्या कर्म-विच्युतिः ।।३९१।।

अन्वय :– एकत्र अपि अपरित्यक्ते (उपधौ) चित्तशुद्धिः न विद्यते। (च) चित्तशुद्धिं विना साधोः कर्म-विच्युतिः कुतस्त्या ?

सरलार्थ :– यदि मुनिराज एक भी परिग्रह का त्याग नहीं करेंगे अर्थात् अत्यल्प भी परिग्रह का स्वीकार करेंगे तो – उनके चित्त की पूर्णतः विशुद्धि नहीं हो सकती और चित्तशुद्धि के बिना साधु की कर्मों से मुक्ति कैसे होगी? अर्थात् परिग्रह सहित साधु कर्मों से मुक्त नहीं हो सकते।

भावार्थ :– क्षेत्र, वास्तु, धन-धान्यादि के भेद से बाह्य परिग्रह दस प्रकार का और मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्यादि के भेद से अन्तरंग परिग्रह चौदह प्रकार का कहा गया है। इन चौबीस प्रकार के परिग्रहों में - से यदि एक का भी त्याग करना शेष रहे तो चित्तशुद्धि पूरी नहीं होती और जबतक चित्तशुद्धि पूरी नहीं बनती तबतक कर्मों से मुक्ति भी पूर्णतः नहीं हो पाती। अतः मुक्ति

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

के इच्छुक साधु को सभी परिग्रहों का त्याग कर अपने उपयोग को शुद्ध करना चाहिए। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने परिग्रह के त्याग को निरपेक्ष बतलाया है।

यदि त्याग निरपेक्ष न हो अर्थात् किसी भी वस्तु की अपेक्षा सहित हो तो उससे साधु के शुद्धोपयोग नहीं बनता। जैसे बाह्य में जबतक तुष का सम्बन्ध रहता है तब तक चाँवल में जो लालिमारूप मल है, वह दूर नहीं होता। जिस साधु के शुद्धोपयोग नहीं होता, उसके कर्मों से मुक्ति भी नहीं होती – राग-द्वेषरूप परिणामों से शुभाशुभ कर्म बँधते ही रहते हैं।

इस श्लोक का भाव स्पष्ट समझने के लिये प्रवचनसार की गाथा २२० की दोनों टीकाओं को अवश्य देखें। गाथा निम्नप्रकार है :–

''ण हि णिरवेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी।
अविसुद्धस्स य चित्ते कहं णु कम्मक्खओ विहिदो।।

गाथार्थ :- यदि निरपेक्ष (किसी भी वस्तु की अपेक्षा रहित) त्याग न हो तो भिक्षु के भाव की विशुद्धि नहीं होती; और जो भाव में अविशुद्ध है उसके कर्मक्षय कैसे हो सकता है?''

चेलखण्ड धारक साधु की स्थिति –

'सूत्रोक्त' मिति गृह्णानश्चेलखण्डमिति स्फुटम्।
निरालम्बो निरारम्भः संयतो जायते कदा।।३९२।।

अन्वय :– (यः) संयतः सूत्रोक्तं इति (मत्वा) चेलखण्डं स्फुटं गृह्णानः निरालम्बः (च) निरारम्भः कदा जायते ? (कदा अपि नैव)।

सरलार्थ :– जो संयमी अर्थात् मुनिराज 'आगम में कहा है' ऐसा कहकर खण्डवस्त्र/लंगोट आदि बाह्य परिग्रह को स्पष्टतया धारण करते हैं, वे निरालम्ब और निरारम्भ कब हो सकते हैं? अर्थात् कभी भी नहीं हो सकते।

भावार्थ :– यदि साधु के लिये खण्डवस्त्र आदि का रखना शास्त्र-सम्मत माना जाय तो वे साधु कभी भी आलम्बनरहित/पर की अपेक्षा-अधीनता से वर्जित और निरारम्भ अर्थात् स्व-पर-घात से शून्य नहीं हो सकेंगे। इसका अर्थ यह हुआ है कि सदा पराधीन तथा हिंसक बने रहेंगे और इसलिए स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धि एवं मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकेंगे।

इस श्लोक का अविकल भाव समझने के लिये प्रवचनसार की जयसेनाचार्यकृत टीका में समागत गाथा २३७ एवं उसकी टीका को भी देखना अत्यंत उपयोगी है।

वस्त्र-पात्रग्राही साधु की स्थिति –

अलाबु-भाजनं वस्त्रं गृह्णतोऽन्यदपि ध्रुवम्।
प्राणारम्भो यतेश्चेतोव्याक्षेपो वार्यते कथम्।।३९३।।

अन्वय :– अलाबु-भाजनं वस्त्रं (तथा) अन्यत् अपि ध्रुवं गृह्णतः यतेः प्राणारम्भः, (च) चेतोव्याक्षेपः कथं वार्यते ? (नैव वार्यते)?

सरलार्थ :– तुम्बी पात्र, वस्त्र तथा और भी कम्बलादि परिग्रह को निश्चितरूप से ग्रहण

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

करनेवाले साधु के प्राणवध और चित्त का विक्षेप अर्थात् चंचलता का कैसे निवारण किया जा सकता है? नहीं किया जा सकता। इसका अर्थ उस साधु के प्राणवध और चित्तविक्षेप सदा बने रहते हैं।

भावार्थ :– पिछले श्लोक में प्रयुक्त 'चेलखण्ड' पद यद्यपि 'खण्डवस्त्रमात्र' का वाचक है, परन्तु उपलक्षण से उसमें भाजन आदि भी शामिल हैं, इसी बात को यहाँ 'वस्त्र' पद के साथ 'अलाबुभाजनं' और 'अन्यदपि' पदों के द्वारा स्पष्ट किया गया है, 'अन्यत्' शब्द कम्बल तथा मृदु शय्यादि का वाचक/सूचक है और इसलिए इन्हें भी 'सूत्रोक्त' परिग्रह की कोटि में लेना चाहिए।

इन पर-पदार्थों के ग्रहण में प्रवृत्त योगी के प्राणघात और चित्त के विक्षेप का निराकरण नहीं किया जा सकता, शुद्धोपयोग के न होने से वे दोनों बराबर होते ही रहते हैं। 'अलाबुभाजन' और प्रवचनसार का 'दुग्धि का भाजन' दोनों एक ही अर्थ के वाचक हैं।

आचार्य जयसेनकृत प्रवचनसार की टीका में आयी हुई गाथा २३८ का भाव यहाँ पूर्ण लाने का प्रयास किया है। इस गाथा की टीका को भी जरूर पढ़ें।

परिग्रह से मन की अस्थिरता अनिवार्य –

स्थापनं चालनं रक्षां क्षालनं शोषणं यतेः।
कुर्वतो वस्त्रपात्रादेर्व्याक्षेपो न निवर्तते।।३९४।।

अन्वय :– **वस्त्र-पात्रादेः स्थापनं चालनं रक्षां क्षालनं शोषणं कुर्वतः यतेः व्याक्षेपः न निवर्तते।**

सरलार्थ :– जो योगी/साधु वस्त्र-पात्रादि का रखना-धरना, चलाना, रक्षा करना, धोना, सुखाना आदि करता है, उसके चित्त का विक्षेप अर्थात् अस्थिरता नहीं मिटती।

भावार्थ :– वस्त्र-पात्रादि के निमित्त से अनेक प्रकार के रागद्वेष/परिणामों का होना और मन में अस्थिरता होना स्वाभाविक है। वीतरागी जीवों को ही समता भाव होता है, उन्हें परद्रव्यों का संयोग-वियोग कुछ क्रोधादि विकार उत्पन्न नहीं करते; परंतु रागी जीवों को परद्रव्यों के संयोग के निमित्त से विक्षेप होना सहज है।

जयसेनाचार्य के अनुसार प्रवचनसार के २३९ गाथा का भाव और इस श्लोक के भाव में बहुत समानता पायी जाती है। अतः उक्त गाथा और उसकी टीका अवश्य देखें।

परिग्रहासक्त को आत्माराधना असंभव –

आरम्भोऽसंयमो मूर्च्छा कथं तत्र निषिध्यते।
परद्रव्यरतस्यास्ति स्वात्म-सिद्धिः कुतस्तनी।।३९५।।

अन्वय :– **तत्र (पूर्वोक्त-स्थितौ) आरम्भः असंयमः (तथा) मूर्च्छा कथं निषिध्यते ? पर-द्रव्य-रतस्य स्वात्म-सिद्धिः कुतस्तनी अस्ति।**

सरलार्थ :– वस्त्र-पात्रादि की व्यवस्था करते हुए आरम्भ, असंयम तथा ममता का निषेध कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता और इसतरह परद्रव्य में आसक्त साधु के स्वात्मसिद्धि कैसी? अर्थात् नहीं हो सकती।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– साधु हो अथवा श्रावक उसे अपने भूमिका के अनुसार अरुचिपूर्वक राग-द्वेष परिणाम तो रहेंगे; लेकिन ममता अर्थात् मिथ्यात्वजन्य ममताभाव नहीं रहेगा।

आसक्ति भाव परद्रव्य से मुझे लाभ है, सुख है, वह मेरा ही है इस प्रकार के परिणाम को व्यक्त करता है। जब तक जीव या जड़ कोई भी द्रव्य मेरे सुख-दुःख के लिये कारण है, ऐसी श्रद्धा रहेगी, तबतक सम्यक्त्व ही नहीं है अर्थात् धर्म का आरम्भ ही नहीं हुआ, ऐसा समझना चाहिए।

धर्म प्रगट करने के लिये द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतंत्रता का निर्णय आगम तथा युक्ति से होना अत्यंत आवश्यक है।

यह श्लोक प्रवचनसार गाथा २२१ का मानो पद्यानुवाद ही है।

ग्राह्य उपधि/परिग्रह का स्वरूप –

न यत्र विद्यते च्छेदः कुर्वतो ग्रह-मोक्षणे।
द्रव्यं क्षेत्रं परिज्ञाय साधुस्तत्र प्रवर्तताम्।।३९६।।

अन्वय :– द्रव्यं क्षेत्रं परिज्ञाय ग्रह-मोक्षणे कुर्वतः यत्र च्छेदः न विद्यते तत्र साधुः प्रवर्तताम्।

सरलार्थ :– द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को भले प्रकार जानकर जिन बाह्य परिग्रह का ग्रहण-त्याग करते हुए साधु के दोष नहीं लगते, उनमें साधु को प्रवृत्त होना चाहिए।

भावार्थ :– इस श्लोक में अपवाद मार्ग को लेकर कथन किया गया है। अशक्ति के कारण अपवाद मार्ग में कुछ बाह्य परिग्रह का ग्रहण किया जाता है। उनका कथन प्रवचनसार गाथा २२५ के आधार से संक्षेप में करते हैं। ग्रहण योग्य बाह्य परिग्रह चार बतलाये हैं – १. मुनिराज के शरीर के आकाररूप पुद्गल पिण्ड अर्थात् द्रव्यलिंग, २. गुरु के उपदेशरूप वचन, ३. परमागम का वाचन और ४. रत्नत्रय सम्पन्न पुरुषों में भक्तिरूप व्यवहार विनय।

पाठक प्रवचनसार गाथा २२५ की दोनों आचार्यों की टीका पढ़कर अपनी जिज्ञासा पूर्ण कर सकते हैं।

अग्राह्य परिग्रह का स्वरूप –

संयमो हन्यते येन प्रार्थ्यते यदसंयतैः।
येन संपद्यते मूर्च्छा तन्न ग्राह्यं हितोद्यतैः।।३९७।।

अन्वय :– हितोद्यतैः (साधुभिः) तत् न ग्राह्यं येन संयमः हन्यते, येन मूर्च्छा संपद्यते, (तथा) यत् असंयतैः प्रार्थ्यते।

सरलार्थ :– जो साधु अपनी हित की साधना में उद्यमी हैं, वे उन पदार्थों को ग्रहण नहीं करते, जिनसे उनकी संयम की हानि हो; ममत्व परिणाम की उत्पत्ति हो अथवा जो पदार्थ असंयमी के द्वारा प्रार्थित हो अर्थात जिन्हें असंयमी लोग निरंतर चाहते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– संयममय जीवन साधु का सर्वस्व होता है; इसलिए वे अहिंसादि महाव्रतों का पालन करते हैं। अट्ठाईस मूलगुणों का पालन भी संयम के लिये ही है। संयम में भी अहिंसा-महाव्रत मुख्य है। अतः संयम में हानिकारक उपधि का स्वीकार साधु नहीं करते।

ममत्व परिणाम से समताभाव अर्थात् वीतराग परिणामरूप निश्चयधर्म का नाश होता है। यदि निश्चयधर्म का नाश हो जाय तो साधु-जीवन रहता ही नहीं। इसकारण वीतरागता में बाधक वस्तुओं से साधु कोसों दूर रहते हैं।

असंयमी लोगों को जो पदार्थ इष्ट हैं, वे यदि मुनिराज अपने पास में रखेंगे तो जिनका समागम नहीं चाहते – ऐसे लौकिकजनों का संपर्क बना रहेगा, जो मुनिधर्म का शत्रु है। अतः असंयमियों को प्रिय ऐसे विषय-कषाय के लिये अनुकूल वस्तुओं का साधु-अवस्था में अभाव ही रहता है।

प्रवचनसार गाथा २२३ का संपूर्ण भाव ग्रंथकार ने इस श्लोक में दिया है। अतः इस गाथा की दोनों टीकाओं को जरूर देखें।

मोक्षाभिलाषी साधु का स्वरूप –

मोक्षाभिलाषिणां येषामस्ति कायेऽपि निस्पृहा।
न वस्त्वकिंचनाः किंचित् ते गृह्णन्ति कदाचन॥३९८॥

अन्वय :– **येषां मोक्षाभिलाषिणां काये अपि निस्पृहा अस्ति ते अकिंचनाः (साधवः) कदाचन किंचित् वस्तु न गृह्णन्ति।**

सरलार्थ :– मात्र मोक्ष की अभिलाषा रखनेवाले साधुजन अपने शरीर से भी विरक्त रहते हैं; इसकारण अपरिग्रहमहाव्रत के धारक मुनिराज अत्यल्प भी बाह्य परिग्रह को कदाचित् भी ग्रहण नहीं करते।

भावार्थ :– यह स्वरूप उत्सर्गमार्गी मुनिराजों का है। ये महामानव उपात्त परिग्रह शरीर के प्रति भी उपेक्षाभाव रखते हैं; जब शरीर के संबंध में भी उदास रहते हैं अर्थात् शरीर की अनुकूलता की परवाह नहीं करते हैं, तब वे अनुपात्त बाह्य परिग्रह को स्वीकार कैसे कर सकते हैं? अर्थात् स्वीकार नहीं कर सकते।

प्रवचनसार गाथा २२४ एवं इस गाथा की दोनों टीकाओं का अध्ययन जरूर करें।

जिनधर्म में स्त्रियों के लिंग संबंधी प्रश्न –

यत्र लोकद्वयापेक्षा जिनधर्मे न विद्यते।
तत्र लिङ्गं कथं स्त्रीणां सव्यपेक्षमुदाहृतम्॥३९९॥

अन्वय :– **यत्र जिनधर्मे लोकद्वयापेक्षा न विद्यते तत्र स्त्रीणां लिङ्गं सव्यपेक्षं कथम् उदाहृतम्?**

सरलार्थ :– जिस जिनेन्द्र से उपदेशित वीतराग धर्म में दोनों लोकों की अपेक्षा नहीं पायी जाती अर्थात् इहलोक तथा परलोक को लक्ष्य करके धर्म नहीं किया जाता, उस जिनधर्म में स्त्रियों के लिंग को अपेक्षा सहित/वस्त्र-प्रावरण की अपेक्षा रखनेवाला कैसे कहा गया?

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– यह श्लोक प्रश्नात्मक है। प्रश्न स्पष्ट है। अगले अनेक श्लोकों में इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है। इसलिए जिनदेव ने उन्हें उनके योग्य लिंग अर्थात् वस्त्रादि सहित लिंग का ही उपदेश दिया है। प्रवचनसार (जयसेनाचार्य की टीका में) गाथा - २४४ में यही भाव बताया गया है। गाथा का अर्थ निम्नप्रकार है – मुनिराजों के इंद्र – जिनेंद्र भगवान द्वारा कहा गया धर्म, इस लोक और परलोक की अपेक्षा नहीं करता है, तब इस धर्म में स्त्रियों के लिंग को भिन्न क्यों कहा गया है?

स्त्रीरूप पर्याय से मुक्ति न होने का प्रथम कारण –

नामुना जन्मना स्त्रीणां सिद्धिर्निश्चयतो यतः।
अनुरूपं ततस्तासां लिङ्गं लिङ्गविदो विदुः ॥४००॥

अन्वय :– यतः स्त्रीणां अमुना जन्मना सिद्धिः निश्चयतः न (भवति)। ततः लिङ्गविदः तासां अनुरूपं लिङ्गं विदुः।

सरलार्थ :– क्योंकि स्त्रियों के अपने इस जन्म से अर्थात् स्त्री-पर्याय से सिद्धि/मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती; इसलिए लिंग के जानकार जिनेन्द्र देवों ने उनके अनुरूप लिंग का उपदेश दिया है।

भावार्थ :– ग्रंथकार सबसे प्रथम सर्वज्ञ भगवान की आज्ञा बता रहे हैं कि – स्त्री-पर्याय से मुक्ति नहीं होती। प्रवचनसार (जयसेनाचार्य कृत टीका) में समागत गाथा २४५ का और इस श्लोक का एक ही अर्थ है। इस गाथा की टीका को जिज्ञासु जरूर देखें।

स्त्रियों की प्रमाद-बहुलता-दूसरा कारण –

प्रमाद-मय-मूर्तीनां प्रमादोऽतो यतः सदा।
प्रमदास्तास्ततः प्रोक्ताः प्रमाद-बहुलत्वतः ॥४०१॥

अन्वय :– यतः प्रमाद-मय-मूर्तीनां (स्त्रीणां) सदा प्रमादः (वर्तते), ततः प्रमाद-बहुलत्वतः ताः प्रमदाः प्रोक्ताः।

सरलार्थ :– क्योंकि प्रमादमय/प्रमादमूर्तिरूप स्त्रियों के सदा प्रमाद बना रहता है; अतः प्रमाद की बहुलता के कारण स्त्रियों को प्रमदा कहा गया है; इसलिए उन्हें मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

भावार्थ :– नारी में अवस्थागत स्वाभाविकरूप से प्रमाद अधिक होता है; अतः उन्हें स्त्री अवस्था से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती, इसप्रकार मुक्ति न होने का कारण बताया है।

प्रवचनसार गाथा २४६ (आचार्य जयसेन) के अनुसार ही इस श्लोक का अर्थ है। अतः इस गाथा की टीका को जरूर देखें।

स्त्रियों के मोहादि की बहुलता तीसरा कारण –

विषादः प्रमदो मूर्च्छा जुगुप्सा मत्सरो भयम्।
चित्ते चित्रायते माया ततस्तासां न निर्वृतिः ॥४०२॥

अन्वय :– (तासां स्त्रीणां) चित्ते विषादः प्रमदः मूर्च्छा जुगुप्सा मत्सरः भयं तथा माया चित्रायते, ततः तासां निर्वृतिः न (जायते)।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :– क्योंकि स्त्रियों के चित्त में प्रमद, विषाद, ममता, ग्लानि, ईर्ष्या, भय तथा माया चित्रित रहती है, इससे स्त्रियों को/स्त्री-पर्याय से मुक्ति नहीं होती।

भावार्थ :– स्त्री-पर्याय में मुक्ति नहीं हो पाती; यह वस्तु स्वरूप है। इस कथन में राग-द्वेष काम नहीं करते; क्योंकि यह कथन राग-द्वेष रहित वीतरागी जिनेन्द्रों ने कहा है। मुक्ति न होने के कारण जो बताए जा रहे हैं, वे भी बुद्धिगम्य हैं, अंधश्रद्धा के पोषक नहीं हैं।

आचार्यश्री जयसेनमान्य प्रवचनसार की गाथा २४७ में यह भाव स्पष्ट किया गया है। अतः उक्त गाथा और उसकी टीका को अवश्य पढ़े।

दोष की अनिवार्यता चौथा कारण –

न दोषेण बिना नार्यो यतः सन्ति कदाचन।
गात्रं च संवृतं तासां संवृतिर्विहिता ततः ।।४०३।।

अन्वय :– **यतः दोषेण विना नार्यः कदाचन न सन्ति। तासां च गात्रं संवृतिः विहिता (भवति)। ततः (तेभ्यः) संवृतं (व्यवस्था प्रोक्तम्)।**

सरलार्थ :– क्योंकि स्त्रियाँ पूर्वोक्त अनेक दोषों में से किसी न किसी दोष के बिना कदाचित् भी नहीं होती इसलिए उनका गात्र – अंग-उपांग स्पष्टतः संवृत्त अर्थात् स्वभाव से ही वस्त्र से ढका हुआ रहता है; इसलिए उनके लिये वस्त्र-आवरण सहित लिंग की व्यवस्था की गई /कही गयी है।

भावार्थ :– श्लोक ४०२ में स्त्रियों के अनेक दोष बताये गये हैं; उनमें से किसी स्त्री को एक भी दोष न हो, ऐसा कभी नहीं हो सकता। इसकारण निर्वाण प्राप्ति के बाधक कारणों के सद्भाव से उनको स्त्री-पर्याय से मुक्ति अशक्य है।

इस ही अर्थ को बतानेवाली आचार्य जयसेनमान्य प्रवचनसार गाथा २४८ तथा उसकी टीका को, जिज्ञासु अवश्य देखे।

निर्वाण को रोकनेवाला पाँचवाँ कारण –

शैथिल्यमार्तवं चेतश्चलनं स्रावणं तथा।
तासा सूक्ष्म-मनुष्याणामुत्पादोऽपि बहुस्तनौ ।।४०४।।

अन्वय :– **तासां (स्त्रीणां शरीरे) शैथिल्यं, आर्तवं, स्रावणं, चेतः चलनं तथा तनौ सूक्ष्म-मनुष्याणां बहुः उत्पादः अपि (जायते)।**

सरलार्थ :– क्योंकि उन स्त्रियों के शरीर में शिथिलता, ऋतुकाल, रक्तस्राव, चित्त की चंचलता और उनके अंग-उपांग में लब्ध्यपर्याप्तक सूक्ष्म मनुष्यों का उत्पाद होता रहता है। (इस कारण अहिंसा महाव्रत का पालन/संयम का पालन नहीं हो पाता)।

भावार्थ :– प्रवचनसार की जयसेनाचार्यकृत टीका में आगत २४९ गाथा में भी इसी विषय को बताया गया है। उक्त गाथा तथा उसकी टीका भी अवश्य देखें।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शरीर में जीवों की उत्पत्ति छठा कारण –

कक्षा-श्रोणि-स्तनाद्येषु देह-देशेषु जायते।
उत्पत्तिः सूक्ष्म-जीवानां यतो, नो संयमस्ततः ॥४०५॥

अन्वय :– **यतः (स्त्रीणां) कक्षा-श्रोणि-स्तनाद्येषु देह-देशेषु सूक्ष्म-जीवानां उत्पत्तिः जायते, ततः (तासां) संयमः नः (जायते)।**

सरलार्थ :– क्योंकि स्त्रियों के कांख, योनि, स्तनादिक शरीर के अंग-उपांगों में सूक्ष्म जीवों की बहुत उत्पत्ति होती है, इसलिए उनके सकल संयम नहीं बनता।

भावार्थ :– आचार्य जयसेनमान्य प्रवचनसार की गाथा २५० एवं उसकी टीका में अधिक स्पष्टीकरण आया है, उसे अवश्य देखें। वहाँ का विशेष अंश निम्न प्रकार है –

प्रश्न :– क्या पुरुषों के अंग-उपांग में सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति नहीं होती?

उत्तर :– ऐसा नहीं कहना चाहिए। पुरुषों के अंगोपांग में भी जीवों की उत्पत्ति होती है; परंतु स्त्रियों के शरीर में बहुलता से उत्पत्ति होती है। होने मात्र से समानता नहीं होती है। एक के विष की कणिका मात्र है, दूसरे के विष के पर्वत हैं। दोनों में क्या समानता है?

स्त्री-पर्याय में दिगंबरता का अभाव –

शशाङ्कामल-सम्यक्त्वाः समाचार-परायणाः।
सचेलास्ताः स्थिता लिङ्गे तपस्यन्ति विशुद्धये ॥४०६॥

अन्वय :– **शशाङ्कामल-सम्यक्त्वाः समाचार-परायणाः (च) ताः (स्त्रियः अपि) लिङ्गे सचेलाः स्थिताः विशुद्धये तपस्यन्ति।**

सरलार्थ :– जो स्त्रियाँ चंद्रमा के समान निर्मल सम्यक्त्व से सहित हैं और आगम-कथित समीचीन आचरण में प्रवीण हैं, वे स्त्रियाँ भी सवस्त्ररूप से स्थित हुई आत्मशुद्धि के लिये तपश्चरण करती हैं। (दिगम्बरता का स्वीकार नहीं कर पाती)।

भावार्थ :– इस श्लोक के अर्थ के साथ अति समानता रखनेवाली आचार्य जयसेन कृत टीका में समागत गाथा २५१ का अर्थ निम्नप्रकार है – यदि स्त्री सम्यग्दर्शन से शुद्ध हो, आगम के अध्ययन से भी सहित हो तथा घोर चारित्र का भी आचरण करती हो तो भी स्त्री के (संपूर्ण कर्मों की) निर्जरा नहीं कही गई है। इस गाथा की टीका में घोर चारित्र का अर्थ पक्षोपवास, मासोपवास किया है।

गाथा २५१ की टीका में आचार्य जयसेन ने विशेष खुलासा किया है, उसे देखें।

जिनलिंग-ग्रहण के योग्य पुरुष –

शान्तस्तपःक्षमोऽकुत्सो वर्णेष्वेकतमस्त्रिषु।
कल्याणाङ्गो नरो योग्यो लिङ्गस्य ग्रहणे मतः ॥४०७॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्वय :– शान्तः, तपःक्षमः, अकुत्सः, त्रिषु वर्णेषु एकतमः कल्याणङ्गः (च) नरः लिङ्गस्य ग्रहणे योग्यः मतः।

सरलार्थ :– जो मनुष्य शान्त हैं, तपःश्चरण करने में समर्थ हैं, सर्व प्रकार के दोषों से रहित हैं, तीन वर्ण – ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य में से किसी एक वर्ण का धारक हैं, कल्याणरूप अर्थात् निरोग शरीर के धारक हैं और शरीर के सुंदर अंगोपांगों से सहित हैं; वे ही पुरुष जिनलिंग के ग्रहण करने के लिये योग्य माने गये हैं।

भावार्थ :– जिस जिनलिंग का रूप इस अधिकार के प्रारम्भ में दिया गया है, उसको धारण करने का पात्र कौन पुरुष है, उसकी चर्चा इस श्लोक में की है, जो सरलार्थ से ही स्पष्ट है।

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है और वह यह कि श्री जयसेनाचार्य ने प्रवचनसार की '**वण्णेसु तीसु एक्को**' इस गाथा की टीका में "**एवंगुणविशिष्टो पुरुषो जिनदीक्षाग्रहणे योग्यो भवति**" लिखकर यह भी लिखा है कि "**यथायोग्यं सच्छूद्राद्यपि**" जिसका आशय है कि योग्यता के अनुसार सत् शूद्र और आदि शब्द से म्लेच्छ भी जिनदीक्षा का पात्र हो सकता है। यहाँ तो 'यथायोग्यं' पद इस बात को सूचित करता है कि सब सत् शूद्रादिक नहीं किन्तु कुछ खास योग्यता प्राप्त शूद्रादिक जैसे म्लेच्छ राजादिक, जिन्हें जिनदीक्षा के योग्य बतलाया गया है।

इस श्लोक के अर्थ को ही व्यक्त करनेवाली जयसेनाचार्य की टीका में समागत गाथा २५३ को टीका सहित देखें।

जिनलिंग-ग्रहण में बाधक व्यंग –

कुल-जाति-वयो-देह-कृत्य-बुद्धि-क्रुधादयः।
नरस्य कुत्सिता व्यङ्गास्तदन्ये लिङ्गयोग्यता।।४०८।।

अन्वय :– कुत्सिताः कुल-जाति-वयः-देह-कृत्य-बुद्धि-क्रुधादयः नरस्य व्यङ्गाः (सन्ति)। तद् अन्ये (सुकुलादयः) लिङ्गयोग्यता।

सरलार्थ :– जिनलिंग के ग्रहण करने में कुकुल, कुजाति, कुवय, कुकृत्य, कुबुद्धि और कुक्रोधादिक ये मनुष्य के जिनलिंग ग्रहण करने में व्यंग हैं/भंग हैं/बाधक हैं। इनसे भिन्न सुकुल, सुजाति आदि जिनलिंग-ग्रहण करने की योग्यता लिये हुए हैं।

भावार्थ :– कुवय का अर्थ अतिबाल वय अथवा अति अधिक वय अर्थात् वृद्धावस्था प्राप्त उम्र दीक्षा के लिये योग्य नहीं है, ऐसा भाव यहाँ समझना चाहिए।

प्रश्न :– क्या क्रोध भी सुक्रोध होता है?

उत्तर :– हाँ, क्रोध भी सुक्रोध होता है। जैसे – हिंसादि पाँच पाप भी अन्याय पाप और न्याय पाप होते हैं। मिथ्यात्व अनंतानुबंधी कषाय सहित पाप को अन्याय पाप और सम्यक्त्व सहित पाप को न्याय पाप कहते हैं। मिथ्यात्व सहित क्रोध-मानादि कषाय परिणाम कुक्रोधादि हैं और सम्यक्त्व सहित क्रोधादि परिणाम सुक्रोधादि समझना चाहिए, क्योंकि वे उपादेयबुद्धि से नहीं किये जाते।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

न्यायपाप-अन्यायपाप, सुक्रोध-कुक्रोध का भाव/मर्म समझने के लिए भावदीपिका शास्त्र का औदयिक भावाधिकार के अंतर्गत आये हुए कषायभावाधिकार में अप्रत्याख्यान कषाय का सामान्य-स्वरूप नामक प्रकरण को देखिए-पृष्ठ ६२।

व्यंग का वास्तविक स्वरूप -

येन रत्नत्रयं साधोर्नाश्यते मुक्तिकारणम्।
स व्यङ्गो भण्यते नान्यस्तत्त्वतः सिद्धिसाधने ।।४०९।।

अन्वय :– तत्त्वतः येन साधोः मुक्तिकारणं रत्नत्रयं नाश्यते सः सिद्धिसाधने व्यङ्गः भण्यते अन्यः न।

सरलार्थ :- वास्तव में जिस कारण से साधु का मोक्ष के लिए उपायभूत रत्नत्रयरूप धर्म नाश को प्राप्त होता है, उस कारण को सिद्धावस्थारूप सिद्धि के साधन में व्यंग अथवा भंग कहते हैं, अन्य कोई बाधक कारण नहीं है।

भावार्थ :- ग्रंथकार ने पूर्व श्लोक में जिनलिंग के ग्रहण करने में बाधक अनेक व्यंगों का कथन किया और इस श्लोक में उन व्यंगों को छोड़कर अन्य कोई व्यंग नहीं है, यह स्पष्ट किया। व्यंग की परिभाषा भी बता दी। जो रत्नत्रय धर्म में बाधक है, वही व्यंग है, अन्य कुछ व्यंग नहीं। यही विषय आचार्य जयसेन के प्रवचनसार की गाथा २५४ एवं टीका में आयी है। इन व्यंगधारी साधक को दिगम्बर अवस्था के साथ सल्लेखना धारण नहीं करना चाहिए, यह भी सूचित किया है। स्वयं ग्रंथकार अगले श्लोक में भी इस विषय को बता रहे हैं।

व्यंग हमेशा व्यंग ही रहता है -

यो व्यावहारिको व्यङ्गो मतो रत्नत्रय-ग्रहे।
न सोऽपि जायतेऽव्यङ्गः साधोः सल्लेखना-कृतौ ।।४१०।।

अन्वय :– यः रत्नत्रय-ग्रहे व्यावहारिकः व्यङ्गः मतः सः अपि सल्लेखना-कृतौ साधोः अव्यङ्गः न जायते।

सरलार्थ :– मुनियोग्य रत्नत्रय की प्राप्ति के लिये जो व्यावहारिक व्यंग माने गये हैं, वे ही व्यंग कोई मनुष्य (मरण समीप जानकर) सल्लेखना के अवसर पर मुनि-अवस्था धारण करना चाहे तो उसके लिये भी वे व्यंग ही बने रहते हैं, अव्यंग नहीं हो जाते।

भावार्थ :– यहाँ सल्लेखना के अवसर पर साधु बननेवाले के विषय में व्यावहारिक व्यंग की बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जो रत्नत्रयरूप जिनलिंग के ग्रहण में व्यावहारिक व्यंग श्लोक क्र. ४०८ के अनुसार माने गये हैं, वे सल्लेखना के अवसर पर अव्यंग नहीं हो जाते – व्यंग ही रहते हैं। अर्थात् सल्लेखना के अवसर पर जो मुनि बनना चाहे और उक्त प्रकार के व्यंगों में किसी व्यंग को लिये हुए हो तो वह मुनिदीक्षा को प्राप्त नहीं हो सकता। उसे दिगम्बर मुनिदीक्षा नहीं दी जा सकती।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यस्येह लौकिकी नास्ति नापेक्षा पारलौकिकी।
युक्ताहारविहारोऽसौ श्रमणः सममानसः ॥४११॥

अन्वय :– **यस्य (महापुरुषस्य) इह न लौकिकी अपेक्षा अस्ति न पारलौकिकी; युक्ताहार-विहारः असौ (महापुरुषः) सममानसः श्रमणः (अस्ति)।**

सरलार्थ :– जिस महामानव को इहलोक एवं परलोक संबंधी भोगादिक की अपेक्षा नहीं है अर्थात् जो भोगों से सर्वथा निरपेक्ष हैं, जो सर्वज्ञ कथित आगम के अनुसार योग्य आहार-विहार से सहित हैं और जो समचित्त के धारक/राग-द्वेष से रहित हैं अर्थात् अनंतानुबंधी आदि तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक वीतराग परिणाम से परिणमित हैं, वे ही महापुरुष श्रमण हैं।

भावार्थ :– छठे गुणस्थानवर्ती मुनिराज को प्रमत्तविरत श्रमण कहते हैं। वे शुभोपयोगी होते हैं। जैन मुनिराज का स्वरूप अलौकिक है। चलते-फिरते सिद्धों के समान उनकी प्रवृत्ति होती है। उनके जीवन में मात्र संज्वलन कषाय चौकड़ी ही रहती है, जिसे अमृतचन्द्राचार्य ने प्रवचनसार गाथा-५ की टीका में कणिका मात्र कहा है। इसकारण उन्हें भोगों की भावना नहीं रहती। यथायोग्य कषायोदय से आहारादिक कार्य आगमानुसार ही होते हैं और उनके भी वे मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं, उन्हें उनमें रस नहीं रहता। समभाव ही जीवन का स्थायी भाव बन जाता है। मुनिराज के बाह्य आचरण की विशेष चर्चा मूलाचार, भगवती आराधना, अनगार धर्मामृत आदि ग्रंथों से जानना चाहिए।

इस संदर्भ में प्रवचनसार गाथा २५६ एवं इसकी दोनों टीकाओं को अवश्य देखें।

अप्रमत्त अनाहारी श्रमण का स्वरूप –

कषाय-विकथा-निद्रा-प्रेमाक्षार्थ-पराङ्गमुखाः।
जीविते मरणे तुल्याः शत्रौ मित्रे सुखेऽसुखे ॥४१२॥
आत्मनोऽन्वेषणा येषां भिक्षा येषामणेषणा।
संयता सन्त्यनाहारास्ते सर्वत्र समाशयाः ॥४१३॥

अन्वय :– **(ये संयताः) कषाय-विकथा-निद्रा-प्रेमाक्षार्थ (प्रेम-अक्ष-अर्थ)-पराङ्गमुखाः जीविते (च) मरणे शत्रौ मित्रे सुखे असुखे तुल्याः (भवन्ति)। येषां आत्मनः अन्वेषणा च येषां अणेषणा भिक्षा (प्रचलति), ते सर्वत्र समाशयाः संयताः अनाहाराः सन्ति।**

सरलार्थ :– जो मुनिराज क्रोधादि चार कषायों से, स्त्रीकथादि चार विकथाओं से, स्पर्शादि प्रीतिकर पाँच इन्द्रियविषयों से, निद्रा एवं स्नेहरूप इन पन्द्रह प्रमाद परिणामों से विमुख/रहित हैं अर्थात् शुद्धोपयोग में मग्न/लीन रहते हैं; जीवन-मरण, शत्रु-मित्र एवं सुख-दुःख में समताभाव/वीतरागभाव धारण करते हैं, जो सतत आत्मा की अन्वेषणा/खोज में लगे रहते हैं (अर्थात् जो शुद्धोपयोग अथवा शुद्धपरिणतिजन्य आनन्द का रसास्वादन करते रहते हैं) जिनका आहार इच्छा से रहित अर्थात् नियम से अनुदिष्ट/सहज प्राप्त रहता है, जो अनुकूल-प्रतिकूल सब संयोग-वियोग में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सर्वत्र सदा राग-द्वेष परिणामों से रहित अर्थात् वीतराग परिणाम से परिणमित रहते हैं, उन मुनिराजों को अनाहारी संयत कहते हैं।

भावार्थ :– सप्तम एवं उससे ऊपर आठवें अपूर्वकरण आदि गुणस्थानों में विराजमान मुनिराजों को अप्रमत्त विरत मुनिराज कहते हैं। उनके जीवन में कषायादि पन्द्रह प्रमादों के कारण प्रमादभाव नहीं होता। परिणामों में वीतरागता बढती रहती है, क्योंकि शुद्धोपयोग में संलग्न हैं। सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो सातवें से दसवें गुणस्थान पर्यन्त यथापदवी कषाय-नोकषायों के उदय के निमित्त से क्रोधादि सूक्ष्म विभाव भाव होते हैं, तथापि प्रमाद की उत्पत्ति नहीं होती। आगे उपशांत मोह से अयोग केवली पर्यन्त गुणस्थानों में सर्वथा वीतरागभाव ही रहता है। यहाँ मात्र शुद्धोपयोगी मुनिराज ही अनाहारी हैं, ऐसा नहीं समझना, क्योंकि श्लोक में जिनका आहार एषणा/इच्छा से रहित है, उन्हें अनाहारी कहा है।

प्रश्न :– आहार ग्रहण करनेवाले अनाहारी कैसे ?

उत्तर :– आहार-ग्रहण करने की क्रिया भले चलती रहती है, तथापि उन्होंने श्रद्धा-ज्ञान में आत्मा को अनाहारी मान लिया है एवं आहार के वे मात्र ज्ञाता-दृष्टा हैं, अत: उन्हें आहार ग्रहण करते हुए भी अनाहारी माना गया है।

प्रवचनसार गाथा २२७ एवं इसकी दोनों टीकाओं को जरूर देखें। अनाहारी के साथ-साथ विहार करते हुए उन्हें अविहारी भी सिद्ध किया है।

देहमात्र परिग्रहधारी साधु का स्वरूप –

य: स्वशक्तिमनाच्छाद्य सदा तपसि वर्तते।
साधु: केवलदेहोऽसौ निष्प्रतीकार-विग्रह: ॥४१४॥

अन्वय :– य: निष्प्रतीकार-विग्रह: स्व-शक्तिं अनाच्छाद्य सदा तपसि वर्तते, असौ केवलदेह: (देहमात्रपरिग्रह:) साधु: (अस्ति)।

सरलार्थ :– जो मुनिराज शरीर का प्रतिकार अर्थात् शोभा, शृंगार, तेल मर्दनादि संस्कार करनेरूप राग परिणाम से रहित हैं, संयोगों में प्राप्त अपनी शरीर की सामर्थ्य और पर्यायगत अपनी आत्मा की पात्रता को न छिपाते हुए सदा अंतरंग एवं बाह्य तपों को तपने में तत्पर रहते हैं, वे देहमात्र परिग्रहधारी साधु हैं।

भावार्थ:– मुनिराज अपरिग्रह महाव्रत के धारक होते हैं, अत: वे धर्म के साधनरूप पीछी, कमंडलु और एक शास्त्र को छोड़कर अन्य कुछ रखते ही नहीं और इन तीनों के प्रति भी उन्हें राग नहीं रहता।

शरीररूप परिग्रह का स्वरूप कुछ अलग ही है। शरीर को तो अरहंत परमात्मा भी छोड़ नहीं सकते, क्योंकि जबतक आयुकर्म रहेगा, तबतक नामकर्म के निमित्त से प्राप्त शरीर तो रहेगा ही। तब शरीर के प्रति राग ही तो छोड़ सकते हैं। अत: मुनिराज शरीर में रोग हो जाय अथवा ये शरीर के लिये

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इष्ट-अनिष्ट संयोग प्राप्त हों तो वे उनके प्रति समताभाव ही रखते हैं। इसलिए शरीर रहते हुए भी वह उनका परिग्रह नहीं है, तथापि वह शरीर आत्मा के साथ तो रहेगा ही, बाह्य में उन्हें और सब दुनियाँ को भी वह शरीर दिखेगा ही। अत: मुनिराज को देहमात्र परिग्रहधारी कहने में आया है। उन्हें शरीर का संस्कार आदि करने का भाव ही नहीं आता, इसे ही चरणानुयोग में मुनिराज को शरीर का तेलमर्दनादि द्वारा संस्कार नहीं करना चाहिए – इस भाषा में कहने की जिनवाणी की पद्धति है।

मूल बात यह है कि निज शुद्धात्मा में लीनतारूप निश्चय तप आचरते हैं, तो बाह्य तप सहज अर्थात् हठ बिना हो जाते हैं। यही विषय प्रवचनसार गाथा २२८ और इसकी दोनों टीकाओं में आया है, उसे जरूर देखें।

मुनिराज के आहार का स्वरूप –

एका सनोदरा भुक्तिर्मांस-मध्वादिवर्जिता।
यथालब्धेन भैक्षेण नीरसा परवेश्मनि॥४१५॥

अन्वय :– (पूर्वोक्त-साधो:) भुक्ति: पर-वेश्मनि भैक्षेण यथालब्धेन एकासनोदरा मांस-मधु आदि-वर्जिता नीरसा (भवति)।

सरलार्थ :– देहमात्र परिग्रहधारी मुनिराज/श्रमण का आहार नियम से पराये घर पर ही होता है। वह आहार भिक्षा से प्राप्त, यथालब्ध, ऊनोदर के रूप में, दिन में एकबार, मद्य-मांस आदि सदोष पदार्थों से रहित और मधुर/मीठा रस आदि रसों से रहित प्राय: नीरस ही होता है।

भावार्थ :– मुनिराज को घर होता ही नहीं, अत: उनका आहार पराये-घर पर ही होना स्वाभाविक है। यथालब्ध आहार भिक्षा से ही प्राप्त होता है और मुनिराज के पास आहार के लिये अन्य कुछ साधन होता ही नहीं। आहार ऊनोदर होना इसलिए आवश्यक है, क्योंकि उन्हें मुख्यता से निजशुद्धात्मा का ध्यान करना है। दिन में किया गया आहार ही अहिंसामय होता है। एक बार के भोजन से भी मनुष्य शरीर धर्म-साधन के लिये अनुकूल रहता है। सर्व अभक्ष्य पदार्थों के निषेध के लिये यहाँ मधु-मांस वर्जित कहा है। मीठा आदि रसों का परित्याग रसनेन्द्रिय की वासना जीतने के लिये और निद्रादि प्रमादों को टालने के लिए भी अत्यंत आवश्यक है।

इस श्लोक के भाव को अधिक स्पष्ट करनेवाली प्रवचनसार की गाथा २२९ है। अत: जिज्ञासु इस गाथा की दोनों आचार्यों की टीका को अवश्य देखें।

मांस के साथ निगोदी जीवों का संबंध –

पक्वेऽपक्वे सदा मांसे पच्यमाने च संभव:।
तज्जातीनां निगोदानां कथ्यते जिनपुङ्गवै:॥४१६॥

अन्वय :– पक्के, अपक्के, च पच्यमाने मांसे जिनपुङ्गवै: तज्जातीनां निगोदानां सदा संभव: कथ्यते।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :– मांस चाहे कच्चा हो, चाहे आग से पकाया गया हो, चाहे आग पर पक रहा हो – तीनों प्रकार के उस मांस में जिनेन्द्र देवों ने जिस जीव का मांस है – उस ही जाति के निगोदिया जीव जो एक श्वांस में अठारह बार जन्म-मरण करते हुए निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं।

भावार्थ :– मांस में दो जाति की हिंसा बतायी जा रही है। जिस जीव का मांस है, वह उस जीव को मारे बिना तो उत्पन्न होता ही नहीं। अत: उस जीव के घात से उत्पन्न हिंसा तो हो ही गई। अब उत्पन्न हुए मांस में भी जिस जीव का मांस है, उसी जाति के निगोदिया जीवों के जन्म एवं मरण के निमित्त से हिंसा होती ही रहती है।

जयसेनाचार्य की प्रवचनसार की टीका में समागत गाथा २६१ को टीका सहित देखें, उसमें तथा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रंथ के ६७ वें श्लोक में यही आशय स्पष्ट शब्दों में है।

मांस के कारण अनिवार्य हिंसा –

मांसं पक्वमपक्वं वा स्पृश्यते येन भक्ष्यते।
अनेका: कोटयस्तेन हन्यन्ते किल जन्मिनाम्।।४१७।।

अन्वय :– येन (मनुष्येन) पक्वं अपक्वं वा मासं स्पृश्यते वा भक्ष्यते तेन (मनुष्येन) किल जन्मिनां अनेका: कोटय: हन्यन्ते।

सरलार्थ :– जो मनुष्य कच्चे मांस को अथवा आग से पकाये हुए मांस को मात्र स्पर्श करता है अथवा खाता है, वह मनुष्य निश्चितरूप से करोड़ों जीवों की हिंसा करता है।

भावार्थ :– जयसेनाचार्य कृत प्रवचनसार टीका में समागत २६२ गाथा एवं उसकी टीका में इस श्लोक ही का भाव बताया गया है। इसी गाथा को पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रंथ में संस्कृत भाषा में निबद्ध किया है।

मधु-भक्षण में हिंसा का महादोष –

बहुजीव-प्रघातोत्थं बहु-जीवोद्भवास्पदम्।
असंयम-विभीतेन त्रेधा मध्वपि वर्ज्यते।।४१८।।

अन्वय :– बहुजीव-प्रघातोत्थं (च) बहुजीवोद्भवास्पदं मधु: अपि असंयम-विभीतेन (साधुना) त्रेधा (मनसा-वचसा-कायेन) वर्ज्यते।

सरलार्थ :– मधु स्वभाव से ही अनेक जीवों के घात से उत्पन्न होता है और वह मधु अनेक जीवों के जन्म-मरण का भी स्थान है। इसलिए असंयम/हिंसा से भयभीत साधु मन-वचन-काय से मधुभक्षण का त्याग करते हैं।

भावार्थ :– यहाँ प्रथम पंक्ति में मधु के दोषों को दर्शाया है। मधु वर्जनीय बतलाते हुए उसके दो विशेषणों का उल्लेख किया गया है – एक तो यह कि वह बहुत जीवों के घात से उत्पन्न होता है, दूसरा यह कि वह बहुत जीवों की उत्पत्ति का स्थान है – बहुत जीव उसमें उत्पन्न होते रहते हैं। अपने इन दोषों के कारण मधु का सेवन हिंसारूप असंयम का जनक है। इसलिए जो साधु संयम के भंग

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होने का भय रखते हैं, वे मन-वचन-काय से तथा कृत-कारित-अनुमोदना से मधु का त्याग करते हैं।

अन्य भी अनेक अभक्ष्य पदार्थ –

कन्दो मूलं फलं पत्रं नवनीतमगृघ्नुभिः।
अनेषणीयमग्राह्यमन्नमन्यदपि त्रिधा ।।४१९।।

अन्वय :– अगृघ्नुभिः (साधुभिः) कन्दः मूलं फलं पत्रं नवनीतं अन्यत् अपि अग्राह्यं अन्नं त्रिधा (त्याज्यं भवति)।

सरलार्थ :– भोजन में लालसा रहित साधु कन्द, मूल, फल, फूल, पत्र, मक्खन आदि अभक्ष्य पदार्थ एवं उद्गमादि दोषों से दूषित होने से अग्राह्य ऐसे अन्न/भोजनादि का भी मन-वचन-काय से और कृत-कारित-अनुमोदना से त्याग करते हैं।

भावार्थ :– वास्तविक बात यह है कि मधु, मांस, कन्दमूल आदि पदार्थों का तो सामान्य श्रावक ही त्याग कर देते हैं, उनके त्याग की बात साधु के लिये कहना अटपटा सा लगता है, ऐसी शंका यहाँ कोई कर सकता है। इसका उत्तर प्रवचनसार गाथा २२९ की टीका करते समय दोनों आचार्यों ने दिया है, वह इसप्रकार है – मधु-मांस, कंदमूलादि त्याग की बात तो मात्र उपलक्षणरूप है। इससे चरणानुयोग के शास्त्र में मुनिराज के लिये हिंसा का आयतन जानकर जिन पदार्थों का त्याग बताया है, उन सब पदार्थों का त्याग अपेक्षित है, ऐसा समझना चाहिए।

मुनिराज के हाथ में प्राप्त अन्न दूसरे को देय नहीं –

पिण्डः पाणि-गतोऽन्यस्मै दातुं योग्यो न युज्यते।
दीयते चेन्न भोक्तव्यं भुङ्क्ते चेद् दोषभाग् यतिः ।।४२०।।

अन्वय :– पाणि-गतः पिण्डः अन्यस्मै दातुं योग्यः न युज्यते, दीयते चेत् (यतिना पुनः) न भोक्तव्यः, भुङ्क्ते चेत् यतिः दोषभाग् (भवति)।

सरलार्थ :– दातारों से मुनिराज के हाथ में प्राप्त हुआ प्रासुक आहार दूसरों को देनेयोग्य नहीं है। यदि मुनिराज हस्तगत आहार दूसरे को देते हैं तो उन्हें उस समय पुनः आहार नहीं लेना चाहिए। यदि वे मुनिराज हस्तगत अन्न अन्य को देकर भी स्वयं उसी समय आहार ग्रहण करते हैं तो वे दोष के भागी होते हैं।

भावार्थ :– हस्तगत आहार मुनिराज दूसरों को देते हैं तो वे उस अन्न के स्वामी बनने से परिग्रहधारी हुए, इसकारण उनके अपरिग्रह महाव्रत नहीं रहा। **दूसरी बात** अन्न-दान देने का भाव गृहस्थ के जीवन में होता है, अतः वे इन परिणामों से गृहस्थतुल्य बन जाते हैं। **तीसरी बात** आचार्य जयसेन मान्य प्रवचनसार गाथा २६३ का अर्थ इस श्लोक के अर्थ का पोषक है, अतः उस गाथा को टीका सहित देखें।

आचार्य जयसेन ने टीका के अंत में जो भाव दिया है, उसका हिन्दी अनुवाद इसप्रकार है। यहाँ

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भाव यह है जो वह हाथ में आया हुआ आहार दूसरों को नहीं देता है, उससे मोह रहित आत्मतत्त्व की भावनारूप मोहरहितता अर्थात् वीतरागता ज्ञात होती है।

चारित्र-आचरण में यथायोग्य दिशाबोध –

बालो वृद्धस्तपोग्लानस्तीव्रव्याधि-निपीडितः।
तथा चरतु चारित्रं मूलच्छेदो यथास्ति नो॥४२१॥

अन्वय :– बालः वृद्धः, तपः ग्लानः तीव्रव्याधि-निपीडितः (साधुः) तथा चारित्रं चरतु मूलच्छेदः नो अस्ति।

सरलार्थ :– जो मुनिराज छोटी उमर के (बालक) हों, वृद्ध-अवस्था को प्राप्त हुए हों, दीर्घकाल से उपवासादिक अनुष्ठान करनेवाले तपस्वी हों, रोगादिक से जिनका शरीर कृश हुआ हों अथवा किसी तीव्र व्याधि से शरीर पीड़ित हों, उन्हें चारित्र का उसप्रकार से पालन करना चाहिए, जिससे मूलगुणों का विच्छेद अथवा चारित्र का मूलतः विनाश न होने पावे।

भावार्थ :– ग्रंथकार ने बाल, वृद्ध, तपस्वी, ग्लान और व्याधि पीड़ित आदि का नाम लेकर सब प्रकार की प्रतिकूलताओं से घिरे हुए मुनिराजों का इसमें समावेश कर लिया है। इन सबको ग्रंथकार सलाह दे रहे हैं।

यहाँ मूलगुणों का विच्छेद अथवा चारित्र का मूलतः नाश न होने पावे, ऐसा कहकर ग्रंथकार ने इसमें व्यवहार तथा निश्चय दोनों प्रकार के चारित्र को लिया है। मूलगुणों का विच्छेद न हों अर्थात् सामायिक संयम के साथ २८ मूलगुणों में एक भी मूलगुण का नाश न होने पावे, ऐसा आचरण आवश्यक है। इसका अर्थ प्रतिकूलता का प्रसंग आ जाय तो मूलगुणों में छूट संभव नहीं है, ऐसा स्पष्ट संकेत व्यक्त किया है।

दूसरी बात अथवा कहकर चारित्र का मूलतः विनाश न होने पावे, इससे तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक व्यक्त वीतरागता को सुरक्षित रखने के लिये प्रेरणा दी है। वास्तविक देखा जाय तो वीतरागता ही चारित्र है, धर्म है। मुनिजीवन में तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक व्यक्त वीतरागता ही निश्चय चारित्र है। यह वीतरागता न हो तो सच्चा मुनिपना नहीं है।

प्रवचनसार गाथा २३० और इसकी दोनों आचार्यों की टीका में मुनिराज के उत्सर्गमार्ग-अपवादमार्ग को बताते हुए सर्वोत्तम खुलासा किया है, उसे जरूर देखें।

स्वल्पलेपी मुनिराज का स्वरूप –

आहारमुपधिं शय्यां देशं कालं बलं श्रमम्।
वर्तते यदि विज्ञाय 'स्वल्पलेपो' यतिस्तदा॥४२२॥

अन्वय :– यदि यतिः आहारं उपधिं शय्यां देशं कालं बलं (च) श्रमं विज्ञाय वर्तते, तदा (सः) स्वल्पलेपः (भवति)।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :– यदि यति/मुनिराज आहार, परिग्रह, देश, काल, बल और श्रम को भले प्रकार जानकर प्रवृत्त होते हैं तो वे अल्पलेपी होते हैं अर्थात् मुनिराज को थोड़े कर्म का बंध होता है।

भावार्थ :– इस श्लोक में 'उपधि' शब्द आया है, उसका अर्थ देहमात्र परिग्रह करना चाहिए अथवा पीछी कमंडलु और शास्त्र भी कर सकते हैं; अन्य नहीं। आहार शब्द से अनुदिष्टरूप से मिलनेवाला आहार ही अपेक्षित है। आचार्य जयसेन ने इस श्लोक के अर्थ की वाचक गाथा २६५ में ऐसा ही लिया है। पूरी टीका को अवश्य देखें।

आचार्य अमृतचन्द्र ने प्रवचनसार गाथा २३१ की टीका में उत्सर्ग एवं अपवादमार्ग की मैत्री/सुमेल बताया है। उसे देखने से इस श्लोक का भाव विशेष स्पष्ट होता है।

तपस्वी मुनिराज को अकरणीय कार्य –

संयमो हीयते येन येन लोको विराध्यते।
ज्ञायते येन संक्लेशस्तन्न कृत्यं तपस्विभिः ।।४२३।।

अन्वय :– **येन संयमः हीयते, येन लोकः विराध्यते (तथा) येन संक्लेशः ज्ञायते तत् (कार्यं) तपस्विभिः न कृत्यं।**

सरलार्थ :– जिनके द्वारा मुनि जीवन में स्वीकृत संयम की हानि हों, एकेन्द्रियादिक जीवों को पीड़ा पहुँचती हों एवं स्वयं को तथा परजीवों को संक्लेश परिणाम उत्पन्न होते हों – ऐसे कार्य मुनिराजों को नहीं करना चाहिए।

भावार्थ :– आचार्य समंतभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में **ज्ञानध्यानतपोरक्तः** मुनिराज ज्ञान-ध्यान एवं तप तपने में अनुरक्त रहते हैं, ऐसा कहा है। जब मुनिराज ज्ञान-ध्यान-तपोरक्त रहेंगे, तब अपने आप अन्य अकरणीय कार्य उनके जीवन में होंगे ही नहीं। इसप्रकार साधु के स्वरूप को यहाँ निषेधमूलक भाषा में व्यक्त किया है। हमेशा ग्रहणपूर्वक त्याग होता है, अतः ध्यान में निज शुद्धात्मा का ग्रहण होते ही अकार्य कार्यों का निषेध अर्थात् जीवन में उनका अभाव हो ही जाता है। इसलिए साधक जीवों का कर्त्तव्य है कि वे शुद्धात्मा के ध्यान में संलग्न रहने का प्रयास करें।

आगम के अध्ययन में प्रवृत्ति की प्रेरणा –

एकाग्रमनसः साधोः पदार्थेषु विनिश्चयः।
यस्मादागमतस्तस्मात् तस्मिन्नाद्रियतां तराम् ।।४२४।।

अन्वय :– **यस्मात् एकाग्रमनसः साधोः पदार्थेषु विनिश्चयः आगमतः (भवति)। तस्मात् तस्मिन् (आगमे) तराम् आद्रियताम्।**

सरलार्थ :– तीन लोक में स्थित सर्व पदार्थ संबंधी यथार्थ निर्णय/निश्चय एकाग्रचित्त के धारक साधु को जिनेन्द्रकथित आगम के अध्ययन से ही होता है। इसलिए साधु को विशेष आदर से आगम में प्रवृत्ति करना चाहिए अर्थात् आगम एवं परमागम का अध्ययन अत्यंत सूक्ष्मता से तथा सन्मानपूर्वक करना आवश्यक है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– मन की एकाग्रता से निज शुद्धात्मा की साधना होती है। निज शुद्धात्मा की साधना/आराधना/ध्यान ही साधु जीवन का सर्वस्व है। मन की एकाग्रता पदार्थों के निश्चय/निर्णय से होती। पदार्थों का निर्णय आगम-परमागम के अध्ययन से होता है। अध्ययन के लिये आगम सम्बन्धी परम आदर आवश्यक है।

प्रवचनसार गाथा २३२ की दोनों आचार्य कृत टीका को इस श्लोकगत विषय का भाव समझने के लिये अवश्य देखें।

जिनेन्द्रकथित आगम ही प्रमाण है –

परलोकविधौ शास्त्रं प्रमाणं प्रायशः परम्।
यतोऽत्रासन्नभव्यानामादरः परमस्ततः।।४२५।।

अन्वय :– यतः परलोकविधौ शास्त्रं प्रायशः परं प्रमाणं (अस्ति)। ततः आसन्नभव्यानां अत्र (शास्त्रे) परमः आदरः (वर्तते)।

सरलार्थ :– क्योंकि परलोक अर्थात् अगले एवं पिछले परभव के संबंध में शास्त्र अर्थात् सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान से कथित आगम ही परम/सर्वोत्तम प्रमाण अर्थात् सत्य है। इसलिए निकट भव्य जीवों को शास्त्र में प्रतिपादित तत्त्व के सम्बन्ध में परम/सर्वोत्कृष्ट आदर वर्तता है।

भावार्थ :– प्रत्येक जीव के पिछले अनंत भव मिथ्यात्व एवं पुण्य-पाप के फलरूप व्यतीत हो चुके हैं और यदि कोई जीव अभव्य हो अथवा अभव्यसम भव्य हो, उनके भी भविष्यकाल में अनंत भव होते ही रहेंगे। यह संसार में भ्रमण का कार्य भी मिथ्यात्वादि एवं पुण्य-पाप के फल की रुचि के कारण ही होता है।

भूतकाल में जिन अनंत जीवों ने मोक्ष प्राप्त कर लिया है और भविष्य में अनंत जीव मोक्ष प्राप्त करेंगे, यह सब कार्य निज भगवान आत्मा के ध्यान से/पर्याय में प्राप्त वीतरागता से ही होता है तथा इन सबका कथन मात्र शास्त्र में है। इसलिए केवल शास्त्र ही आसन्न भव्य जीवों को शरण है।

शास्त्र संबंधी आदर का सहेतुक कथन –

उपदेशं विनाप्यङ्गी पटीयानर्थकामयोः।
धर्मे तु न बिना शास्त्रादिति तत्रादरो हितः।।४२६।।

अन्वय :– अङ्गी (संसारी जीवः) अर्थ-कामयोः उपदेशं विना अपि पटीयान् (भवति)। (परंतु) धर्मे तु विना शास्त्रादि न (प्रवर्तते) इति तत्र (शास्त्रे) आदरः हितः (भवति)।

सरलार्थ :– चतुर्गतिरूप दुःखद संसार में स्थित मनुष्यादि सब जीव अर्थ और काम पुरुषार्थों के साधनों में उपदेश के बिना भी निपुण रहते हैं अर्थात् प्रवृत्ति करते ही हैं, परन्तु धर्म पुरुषार्थ के साधनों में शास्त्र के बिना अनादिकाल से कोई भी जीव प्रवृत्त नहीं होता; इसलिए शास्त्र-संबंधी आदर होना अतिशय हितकारक है।

भावार्थ :– इस श्लोक में शास्त्र शब्द से मात्र द्रव्यश्रुतरूप आगम ही नहीं समझना। यहाँ शास्त्र

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

का अर्थ देशना अर्थात् भावभासनापूर्वक तत्त्वोपदेश समझना आवश्यक है। मोक्ष-प्राप्त अनंत जीवों में अथवा अभी जो मोक्षमार्गी हो गये हैं उनमें अथवा भविष्य-काल में जो मोक्षमार्गी होंगे, उनमें एक भी देशनालब्धि के बिना धार्मिक नहीं बना है, यह सर्वथा नियम समझना चाहिए। सम्यक्त्व की प्राप्ति के पूर्व क्षयोपशमादि पाँच लब्धियाँ अनिवार्य रहती हैं – उनमें एक देशना-लब्धि भी है।

प्रवृत्ति के अभाव से पुरुषार्थ की विभिन्नता –

अर्थकामाविधानेन तदभावः परं नृणाम्।
धर्माविधानतोऽनर्थस्तदभावश्च जायते ।।४२७।।

अन्वय :– **नृणां अर्थकाम-अविधानेन तदभावः (जायते); परं धर्म-अविधानतः तदभावः च अनर्थः जायते।**

सरलार्थ :– अर्थ एवं कामपुरुषार्थ के साधनों में प्रवृत्ति न करने से किसी मनुष्य के जीवन में इन दोनों पुरुषार्थों का कदाचित् अभाव हो सकता है; परन्तु धर्मपुरुषार्थ के साधनों में प्रवृत्ति न करने से धर्मपुरुषार्थ का मात्र अभाव ही नहीं होता, धर्मपुरुषार्थ के साधनों में अनर्थ अर्थात् विपरीतता भी घटित होती है। अतः धर्मपुरुषार्थ के साधनों में प्रवृत्ति आवश्यक है।

भावार्थ :– अर्थ पुरुषार्थ का भाव धन-प्राप्त करने के उपायों से है और काम पुरुषार्थ का मतलब इंद्रिय-विषयों के भोगों से है। दोनों पापरूप अभिप्राय से गर्भित हैं। इन दोनों पुरुषार्थों में प्रवृत्ति और पूर्वभव के पुण्य का उदय न हो तो मनुष्य को धन और भोगों की प्राप्ति नहीं होगी।

यदि धर्म-पुरुषार्थ के साधन अर्थात् व्यवहारधर्म के साधनों में मनुष्य प्रवृत्त नहीं होगा तो उन साधनों के संबंध में अर्थात् देव-शास्त्र-गुरु की उपासना की प्रवृत्ति में यथार्थता नहीं रहेगी तो परम्परा से मूल वीतरागभावरूप धर्म का भी अभाव हो जायेगा। इसलिए मनुष्य को ज्ञानियों के तत्त्वज्ञानगर्भित व्यवहार-धर्म पुरुषार्थ के साधनों में निज भगवान की उपासना को ऊर्ध्व/मुख्य रखते हुए प्रवृत्ति करना चाहिए।

चारों पुरुषार्थों के आध्यात्मिक स्वरूप का ज्ञान करने के लिये नाटक समयसार के बंध अधिकार के १४ वें तथा १५ वें छन्द को जरूर देखिए।

एक शास्त्रज्ञान/तत्त्वज्ञान ही जीवों को मार्गदर्शक –

तस्माद्धर्मार्थिभिः शश्वच्छास्त्रे यत्नो विधीयते।
मोहान्धकारिते लोके शास्त्रं लोक-प्रकाशकम् ।।४२८।।

अन्वय :– **तस्मात् धर्मार्थिभिः शास्त्रे शश्वत् यत्नः विधीयते । मोह-अन्धकारिते लोके शास्त्रं (एव) लोक-प्रकाशकं (भवति)।**

सरलार्थ :– इसलिए जो भव्यात्मा वास्तविकरूप से यथार्थ धर्म के अभिलाषी अर्थात् इच्छुक हैं, वे सदा शास्त्रोपदेश की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते हैं। अति दुःखद-मोहरूपी अंधकार से परिपूर्ण व्याप्त जगत में एक शास्त्र ही अनंत जीवों को यथार्थ उपाय दिखानेवाले दीपक के समान प्रकाशक/मार्गदर्शक है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– वर्तमानकाल में इस क्षेत्र में साक्षात् सर्वज्ञ भगवान के दिव्यध्वनिरूप उपदेश का तो अभाव ही है, सच्चे गुरु भी दुर्लभ हैं। एक शास्त्र ही देव और गुरु का तथा अपने स्वरूप का परिचय देनेवाला है। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए शास्त्र को छोड़कर अन्य कोई उपाय नहीं है। अतः यहाँ ग्रंथकार ने शास्त्र की मुख्यता की है।

शास्त्र की और विशेषता –

मायामयौषधं शास्त्रं शास्त्रं पुण्यनिबन्धनम्।
चक्षुः सर्वगतं शास्त्रं शास्त्रं सर्वार्थसाधकम्।।४२९।।

अन्वय :– शास्त्रं मायामयौषधं, शास्त्रं पुण्यनिबन्धनं, शास्त्रं सर्वगतं चक्षुः (च) शास्त्रं सर्वार्थसाधकं (भवति)।

सरलार्थ :– क्रोध-मान-माया-लोभकषायरूपी रोग की सच्ची-सफल दवा शास्त्र है। सातिशय पुण्यपरिणाम एवं पुण्यकर्मबंध का सर्वोत्तम कारण शास्त्र है। जीवादि छह द्रव्य, सप्त तत्त्व अथवा नौ पदार्थों को सम्यक् रूप से दिखानेवाला/स्पष्ट करनेवाला शास्त्र ही चक्षु है और इस भव तथा परभव के सर्व प्रयोजनों को सिद्ध करनेवाला भी शास्त्र ही है।

भावार्थ :– शास्त्र का अर्थ यहाँ मात्र पुद्गलरूप वचन अथवा देखने में आनेवाले ग्रंथों को नहीं लेना। सर्व शास्त्रों का मूल विषय जीवादि छह द्रव्य, सप्त तत्त्व आदि के साथ ध्यान का ध्येयरूप भगवान आत्मा मुख्य रहना चाहिए।

शास्त्र की मुख्यता से ग्रंथकार कथन कर रहे हैं। यहाँ देव एवं गुरु का निषेध अभिप्रेत नहीं है। उनके उपदेश को ही तो शास्त्र कहते हैं। इसतरह यथार्थ भाव का स्वीकार करना आवश्यक है।

शास्त्र-भक्ति रहित साधक का स्वरूप –

न भक्तिर्यस्य तत्रास्ति तस्य धर्म-क्रियाखिला।
अन्धलोकक्रियातुल्या कर्मदोषादसत्फला।।४३०।।

अन्वय :– यस्य तत्र (शास्त्रे) भक्तिः न अस्ति तस्य अखिला धर्म-क्रिया कर्मदोषात् अन्ध-लोक-क्रिया-तुल्या असत्फला (भवति)।

सरलार्थ :– जिस साधक की आगम अर्थात् शास्त्र के प्रति भक्ति नहीं है अर्थात् अनादर है, उसकी सब धर्म-क्रियायें कर्म-दोष के कारण अंध-व्यक्ति की क्रिया के समान व्यर्थ तथा विपरीत फलदाता होती है।

भावार्थ :– यहाँ कर्मदोषात् यह शब्द अति महत्त्वपूर्ण है। जिसे शास्त्र के प्रति भक्ति नहीं है, उसकी धर्म की क्रियायें पुण्यरूप होने पर भी वे मात्र कर्मोदय के निमित्त से होती हैं, उनमें जीव का कुछ पुरुषार्थ नहीं है। इसलिए वे मोक्षमार्गरूप नहीं, मोक्षमार्ग में अनुकूल निमित्तरूप भी नहीं अर्थात् विपरीत फलदाता हैं-संसारवर्धक हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उदाहरण सहित शास्त्र की उपयोगिता –

यथोदकेन वस्त्रस्य मलिनस्य विशोधनम्।
रागादि-दोष-दुष्टस्य शास्त्रेण मनसस्तथा।।४३१।।

अन्वय :– यथा मलिनस्य वस्त्रस्य उदकेन विशोधनं (भवति)। तथा रागादि-दोष-दुष्टस्य मनसः शास्त्रेण (विशोधनं)।

सरलार्थ :– जिसप्रकार मलिन वस्त्र जल से शुद्ध/पवित्र/निर्मल होता है, उसीप्रकार राग-द्वेषादि से दूषित साधक का मन शास्त्र के अध्ययनादि से निर्मल अर्थात् वीतरागरूप बन जाता है।

भावार्थ :– श्लोक में मन शब्द आया है – उसका अर्थ आत्मा है। राग-द्वेषादि विभाव भावों से आत्मा मलिन होता है उसे निर्मल/वीतराग करना आवश्यक है और यह कार्य, साधक शास्त्र के आधार/निमित्त से कर सकता है।

शास्त्र के अध्ययन की पुनः प्रेरणा –

आगमे शाश्वती बुद्धिर्मुक्तिस्त्री-शंफली यतः।
ततः सा यत्नतः कार्या भव्येन भवभीरुणा।।४३२।।

अन्वय :– यतः आगमे (युक्ता) शाश्वती बुद्धिः मुक्तिस्त्री-शंफली (इव अस्ति)। ततः भवभीरूणा भव्येन यत्नतः सा (आगमे बुद्धिः) कार्या।

सरलार्थ :– शास्त्र के अध्ययन-मनन-चिंतन आदि में निरंतर संलग्न बुद्धि मुक्तिरूपी स्त्री की प्राप्ति के लिये दूती के समान काम करती है; इसलिए संसार अर्थात् राग-द्वेषादि परिणामों से उत्पन्न दुःख से भयभीत भव्य जीवों को अपनी बुद्धि को प्रयत्नपूर्वक शास्त्र में लगाना चाहिए।

भावार्थ :– श्लोक में भव्य और भवभीरू दो शब्द आये हैं – वे दोनों अति महत्त्वपूर्ण हैं। अभव्य जीव ११ अंग और ९ पूर्व तक शास्त्रों का अध्ययन करता है; तथापि भव्य न होने से संसार से मुक्त नहीं हो पाता। भव्य जीव भी हो तथापि जिसे संसार में सुख का भ्रम हो तो वह भी मुक्ति को प्राप्त नहीं कर पाता। इसलिए भव्य और भवभीरू जीव ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है, अन्य नहीं। इसलिए पात्र जीवों को आगम में बुद्धि लगाने की प्रेरणा ग्रंथकार ने दी है।

शास्त्रज्ञान से रहित साधक का स्वरूप –

कान्तारे पतितो दुर्गे गर्ताद्यपरिहारतः।
यथाऽन्धो नाश्नुते मार्गमिष्टस्थान-प्रवेशकम्।।४३३।।
पतितो भव-कान्तारे कुमार्गापरिहारतः।
तथा नाप्नोत्यशास्त्रज्ञो मार्ग मुक्तिप्रवेशकम्।।४३४।।

अन्वय :– यथा दुर्गे कान्तारे पतितः अन्धः गर्तादि-अपरिहारतः इष्ट-स्थान-प्रवेशकं मार्गं न अश्नुते, तथा भव-कान्तारे पतितः अशास्त्रज्ञः कुमार्ग-अपरिहारतः मुक्ति-प्रवेशकं मार्गं न आप्नोति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :– जिसप्रकार दुर्गम वन में पड़ा अर्थात् फँसा हुआ अँधा मनुष्य खड्डे आदि प्रतिकूल स्थानों का परित्याग न कर सकने से अपने इष्ट अर्थात् अभिप्रेत स्थान में प्रवेश करानेवाले मार्ग को नहीं पा सकता है।

उसीप्रकार चतुर्गतिरूप दुःखद संसार-वन में भटकता हुआ शास्त्रज्ञान से रहित जीव कुमार्ग का त्याग न कर सकने से मुक्ति में प्रवेश करानेवाले मोक्षमार्ग को प्राप्त नहीं होता अर्थात् उस सन्मार्ग पर नहीं लगता, जिसपर चलने से मुक्ति की प्राप्ति होती है।

भावार्थ :– साधक वह भले श्रावक अथवा साधु हो, इनको शास्त्र-ज्ञान की अनिवार्यता इन दो श्लोकों में बताई गई है, जो वास्तविक है। इन दो श्लोकों के द्वारा शास्त्र की उपयोगिता, आवश्यकता एवं महिमा का उपसंहार किया है।

परिणाम से ही कर्मफल में विविधता –

यतः समेऽप्यनुष्ठाने फलभेदोऽभिसन्धितः।
स ततः परमस्तत्र ज्ञेयो नीरं कृषाविव॥४३५॥
बहुधा भिद्यते सोऽपि रागद्वेषादिभेदतः।
नानाफलोपभोक्तृणां नृणां बुद्ध्यादिभेदतः॥४३६॥

अन्वय :– यतः समे अनुष्ठाने (सति) अपि कृषौ नीरं (परमः) इव (परिणामतः) फलभेदः अभिसन्धितः (भवति)। ततः तत्र (फलप्राप्तौ) सः (परिणामः) परमः ज्ञेयः।

सः (परिणामः) अपि राग-द्वेषादि भेदतः (तथा) नानाफलोपभोक्तृणां नृणां बुद्ध्यादिभेदतः बहुधा भिद्यते।

सरलार्थ :– जिसप्रकार खेती में जोतने-बीज बोने आदि रूप बाह्य कार्य समान होने पर भी उस खेत में दिये जानेवाले जल को विशेष स्थान प्राप्त है अर्थात् जल समय पर एवं आवश्यक मात्रा में देने न देने के कारण फसलरूप फल अर्थात् कार्य हीनाधिक होता है।

उसीप्रकार पुण्य-पापरूप बाह्य-क्रिया/कार्य समान होने पर भी जीव के हीनाधिक शुभाशुभ परिणाम के अनुसार कर्म-फल में भेद होता है। इसलिए कर्म-फल की प्राप्ति में जीव के परिणाम/अभिप्राय को मुख्य स्थान प्राप्त है। वह जीव का अभिप्राय भी राग-द्वेषादि के भेद से तथा कर्म-फल का उपभोग करनेवाले विविध मनुष्यों की बुद्धि आदि के भेद से अनेक प्रकार का है।

भावार्थ :– इन दोनों श्लोक में व्यवहार चारित्र की क्रिया समान होने पर भी कर्म-फल में अभिप्रायानुसार भेद होता है; यह बात उदाहरणपूर्वक सुगमरूप से बताई है।

सरलार्थ में प्रयुक्त 'परिणाम' शब्द का अर्थ अभिप्राय अर्थात् मिथ्यात्वरूप अथवा सम्यक्त्वरूप श्रद्धा की पर्याय को ग्रहण करना प्रकरणानुसार योग्य एवं महत्त्वपूर्ण है।

कर्म-फल को भोगनेवालों की बुद्धि आदि के कारण भी फल में भिन्नता की बात कही है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

फल-भोगनेवालों में भेद के कारण –

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहस्त्रिविधः प्रक्रमः स्मृतः।
सर्वकर्माणि भिद्यन्ते तद्भेदाच्च शरीरिणाम्।।४३७।।

अन्वय :– बुद्धिः ज्ञानम् असंमोहः (इति) त्रिविधः प्रक्रमः स्मृतः। तद्भेदात् च (बुद्ध्यादि-भेदात्) शरीरिणां सर्वकर्माणि भिद्यन्ते।

सरलार्थ :– बुद्धि, ज्ञान और असंमोह – इन तीनों से कर्म-फल में भेद होता है और इनसे ही देहधारी जीवों के सब कार्य भेद को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ :– अगले श्लोक में ग्रंथकार स्वयं बुद्धि आदि की परिभाषा स्पष्ट करते हैं।

बुद्धि आदि का स्वरूप –

बुद्धिमक्षाश्रयां तत्र ज्ञानमागमपूर्वकम्।
तदेव सदनुष्ठानमसंमोहं विदो विदुः।।४३८।।

अन्वय :– विदः तत्र (बुद्ध्यादिभेदेषु) अक्षाश्रयां बुद्धिम्, आगमपूर्वकं ज्ञानं, तत् (ज्ञानम्) एव सदनुष्ठानं (प्राप्नोति तदा) असंमोहं विदुः।

सरलार्थ :– विज्ञ पुरुषों ने बुद्धि आदि की परिभाषा निम्नानुसार स्पष्ट की है – इंद्रियाश्रित भाव को बुद्धि कहते हैं। आगमपूर्वक उत्पन्न जाननरूप परिणाम को ज्ञान कहते हैं और जब आगमपूर्वक प्राप्त ज्ञान ही सत्य अनुष्ठान को अर्थात् निर्मोहरूप स्थिरता को प्राप्त होता है, तब उसे असम्मोह कहते हैं।

भावार्थ :– श्लोक में ग्रंथकार ने बुद्धि और ज्ञान को भिन्नरूप से स्पष्ट किया है, यह विशेष बात है। असम्मोह शब्द से ग्रंथकार यहाँ वीतरागता को बता रहे हैं।

बुद्ध्यादि पूर्वक कार्यों के फलभेद की दिशासूचना –

चारित्रदर्शनज्ञानतत्स्वीकारो यथाक्रमम्।
तत्रोदाहरणं ज्ञेयं बुद्ध्यादीनां प्रसिद्धये।।४३९।।

अन्वय :– (यत्) यथाक्रमं चारित्र-दर्शन-ज्ञान-तत्-स्वीकारः (अस्ति)। तत्र बुद्ध्यादिनां प्रसिद्धये उदाहरणं ज्ञेयम्।

सरलार्थ :– चारित्र-दर्शन-ज्ञान का यथाक्रम स्वीकार अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्र के क्रम से जो स्वीकार है, उसमें बुद्धि आदि की प्रसिद्धि के लिए यहाँ उदाहरणरूप से भेद को जानना चाहिए।

भावार्थ :– बुद्धि आदि की विशेषता को दर्शाने के लिये यहाँ जिस फलभेद के उदाहरण की बात कही गई है उसे संक्षेपतः अगले कुछ पद्यों में बतलाया गया है।

बुद्धिपूर्वक कार्य का फल –

बुद्धिपूर्वाणि कर्माणि समस्तानि तनूभृताम्।
संसारफलदायीनि विपाकविरसत्वतः।।४४०।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्वय :– **तनूभृतां बुद्धिपूर्वाणि समस्तानि कर्माणि विपाकविरसत्वत: (भवन्ति। तत: तानि) संसारफलदायीनि (एव सन्ति)।**

सरलार्थ :– बुद्धिपूर्वक कार्य अर्थात् इंद्रियों के निमित्त से होनेवाले सब कार्य फलकाल में विभावरूप से व्यक्त होते हैं; इसलिए देहधारी जीवों के वे सर्व कार्य संसार-फलदाता ही है।

भावार्थ :– देहधारी जीवों की पाँच इंद्रियाँ हैं – स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेंद्रिय, चक्षुरिंद्रिय और कर्णेन्द्रिय। ये पाँचों इंद्रियाँ मात्र अपने-अपने स्पर्श, रस, गंध, वर्ण एवं शब्दरूप बाह्य विषय को ही जानती हैं। इन विषयों को जानने से जीव को राग-द्वेष ही उत्पन्न होते हैं। अतः बुद्धिपूर्वक कार्य का फल संसार है।

किसी भी इंद्रिय का विषय आत्मा है ही नहीं। जब तक बुद्धिपूर्वक ज्ञान का ज्ञेय भी आत्मा नहीं बनेगा तब तक धर्म प्रगट करने की सामान्य भूमिका भी नहीं बन सकती।

ज्ञानपूर्वक कार्य का फल –

तान्येव ज्ञान-पूर्वाणि जायन्ते मुक्तिहेतवे।
अनुबन्ध: फलत्वेन श्रुतशक्तिनिवेशित:॥४४१॥

अन्वय :– **तानि (बुद्धिपूर्वाणि कर्माणि) एव (यदा) ज्ञान-पूर्वाणि जायन्ते (तदा ते) मुक्तिहेतवे (जायन्ते; यत:) श्रुतशक्तिनिवेशित: अनुबन्ध: फलत्वेन।**

सरलार्थ :– बुद्धिपूर्वक होनेवाले कार्य ही जब आगम-ज्ञानपूर्वक होने लगते हैं तो वे ही कार्य मोक्ष के लिये कारणरूप अर्थात् मोक्षमार्गरूप बन जाते हैं; क्योंकि श्रुतशक्ति को लिये हुए जो अनुराग है वह क्रम से/परंपरा से मोक्षरूप फल का दाता हो जाता है।

भावार्थ :– इस श्लोक में आगम की तो महिमा बतायी ही है और साथ ही साथ राग परिणाम को व्यवहारनय से वीतरागता का कारण कहा है, जो निमित्त की अपेक्षा से सही है।

वस्तुतः राग कभी वीतरागता का कारण नहीं हो सकता। विष कभी अमृत का काम नहीं करता; तथापि निमित्त की मुख्यता से पात्र जीवों को प्रेरणा देते हुए करुणावंत ग्रंथकार ने आसन्न भव्य जीवों पर उपकार किया है।

असंमोहपूर्वक कार्य का फल –

सन्त्यसंमोहहेतूनि कर्माण्यत्यन्तशुद्धित:।
निर्वाणशर्मदायीनि भवातीताध्वगामिनाम्॥४४२॥

अन्वय :– **(यानि) कर्माणि असंमोहहेतूनि सन्ति (तानि) अत्यन्त-शुद्धित: भवातीताध्व-गामिनां निर्वाणशर्मदायीनि (भवन्ति)।**

सरलार्थ :– जो कार्य असंमोहपूर्वक अर्थात् वीतरागमय होते हैं, वे कार्य अत्यंत शुद्धि के कारण एवं स्वतः शुद्ध होते हैं; इसलिए भवातीतमार्ग अर्थात् मोक्षमार्ग पर चलनेवालों को निर्वाण/मोक्ष सुख के प्रदाता होते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– असंमोह अर्थात् मोहरहित। मोहरहित परिणाम को वीतराग कहते हैं। जिनेन्द्र देव ने वीतरागता को ही धर्म कहा है। इसलिए असंमोहपूर्वक होनेवाले कार्य को मोक्षप्रदाता कहना आगम तथा युक्ति से प्रमाण है। जो वीतरागता को ही धर्मकार्य में प्रधान ही नहीं सर्वस्व मानता है, वही जिनेन्द्र भगवान का वास्तविक अनुयायी है।

मोक्षमार्गारूढ़ जीवों का स्वरूप –

भावेषु कर्मजातेषु मनो येषां निरुद्यमम्।
भव-भोग-विरक्तास्ते भवातीताध्वगामिनः ॥४४३॥

अन्वय :– कर्मजातेषु भावेषु येषां मनः निरुद्यमं (अस्ति)। ते भव-भोग-विरक्ताः (साधवः) भवातीताध्वगामिनः (भवन्ति)।

सरलार्थ :– कर्मोदय से उत्पन्न परिणामों में तथा कर्मोदय से प्राप्त संयोगी बाह्य पदार्थों में जिन साधक जीवों का मन उद्यम रहित है, वे भव एवं भोगों से विरक्त साधक जीव भवातीतमार्गगामी अर्थात् मोक्षमार्गी हो जाते हैं।

भावार्थ :– साधक जीव भले वे श्रावक हो अथवा साधु – वे मोह कर्मोदयजन्य औदयिक परिणामों को अपना स्वरूप नहीं मानते और अघाति कर्मोदय से प्राप्त बाह्य संयोगी पदार्थों को भी अपने स्वरूप में स्वीकारते नहीं है। वे तो स्वयं को अनादि-अनंत ज्ञानानंदस्वभावी ही मानते हैं; इसलिए मोक्षमार्गारूढ़ हो जाते हैं। अतः उनको मोक्षप्राप्ति में देर तो हो सकती है; लेकिन अंधेर बिलकुल नहीं। इन जीवों का दुःखमय संसार में भटकना तो बंद हो गया है, वे मात्र कुछ काल पर्यंत ही संसार में अटके हुए हैं।

साधक अनेक, पर साधन एक ही –

एक एव सदा तेषां पन्थाः सम्यक्त्वचारिणाम्।
व्यक्तीनामिव सामान्यं दशाभेदेऽपि जायते ॥४४४॥

अन्वय :– (यथा) व्यक्तीनां दशाभेदे अपि सामान्यं इव सम्यक्त्वचारिणां तेषां पन्थाः सदा एक एव जायते।

सरलार्थ :– जिसप्रकार अनेक व्यक्तियों में विशेष अवस्थाओं की अपेक्षा अनेक भेद होने पर भी मनुष्यत्व अथवा जीवत्व की अपेक्षा एकपना ही है। उसीप्रकार मोक्षमार्गी सम्यक्त्व तथा चारित्रवान अनेक जीवों में गति, शरीर, ज्ञान आदि की अपेक्षा से कुछ भेद होने पर भी वीतरागमय मोक्षमार्ग की अपेक्षा कुछ भेद/अंतर नहीं है। उन सबमें वीतरागमय मोक्षमार्गरूप धर्म एक ही है।

भावार्थ :– तीन काल में परमार्थ का पंथ एक ही है – ऐसा आगम भी कहता है। इसीलिए अनन्त ज्ञानियों का एक मत होता है। आचार्य कुंदकुंद, उमास्वामी आदि सब आचार्यों ने और सब प्रामाणिक पंड़ितों ने भी सम्यग्दर्शन को धर्म का मूल कहा है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता को मोक्षमार्ग अर्थात् मोक्ष का उपाय बताया है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वस्तुतः निर्वाणपद एक ही –

निर्वाणसंज्ञितं तत्त्वं संसारातीतलक्षणम्।
एकमेवावबोद्धव्यं शब्दभेदेऽपि तत्त्वतः ।।४४५।।

अन्वय :– संसारातीतलक्षणं निर्वाणसंज्ञितं तत्त्वं शब्दभेदे अपि तत्त्वतः एकं एव अवबोद्धव्यम्।

सरलार्थ :– शास्त्र में ज्ञानियों ने अनेक शब्दों द्वारा एक ही मोक्ष तत्त्व को कहा है; तथापि **संसार से अतीत** इस लक्षण को प्राप्त निर्वाण अर्थात् मोक्षतत्त्व वस्तुतः एक ही है, अनेक नहीं; ऐसा जानना चाहिए।

भावार्थ :– निर्वाण/मोक्षपद के अन्य नामों का कथन अगले श्लोक में ग्रंथकार आचार्य स्वयं बता रहे हैं।

निर्वाण/मोक्ष के लिए अन्य-अन्य नाम –

विमुक्तो निर्वृतः सिद्धः परंब्रह्माभवः शिवः।
अन्वर्थः शब्दभेदेऽपि भेदस्तस्य न विद्यते।।४४६।।

अन्वय :– विमुक्तः, निर्वृतः, सिद्धः, परंब्रह्म, अभवः (तथा) शिवः अन्वर्थः शब्दभेदे अपि तस्य (अर्थ-) भेदः न विद्यते।

सरलार्थ :– विमुक्त, निर्वृत, सिद्ध, परंब्रह्म, अभव तथा शिव ये सब शब्द अन्वर्थक हैं अर्थात् इन शब्दों का एक निर्वाण/मोक्ष ही अर्थ है, अन्य नहीं। विमुक्त आदि में शब्द-भेद होने पर भी इनमें एक शब्द के वाच्य का दूसरे शब्द के वाच्य के साथ वास्तव में अर्थ-भेद नहीं है अर्थात् निर्वृत आदि शब्द का अर्थ एक मात्र निर्वाण/मोक्ष ही है।

भावार्थ :– विमुक्त आदि शब्द का शाब्दिक अर्थ निम्नप्रकार है – **१. विमुक्त –** क्रोधादि विभाव परिणमन में निमित्तभूत बंधनों से जो विशेषरूप से मुक्त हुए हैं, उन्हें विमुक्त कहते हैं। **२. निर्वृत –** जो सांसारिक सब प्रवृत्तियों से निर्वृत/अलग हो चुके हैं, उन्हें निर्वृत कहते हैं। **३. सिद्ध –** जो स्वात्मोपलब्धिरूप पूर्ण अवस्था को पहुँच गये हैं, उन्हें सिद्ध कहते हैं। **४. परंब्रह्म –** जो सब विभावों का अभाव करके अपने शुद्ध चिदानंदमय आत्म-स्वरूप में स्थिर हो गये हैं, उन्हें परंब्रह्म कहते हैं। **५. अभव –** जिनके मनुष्यादि चारों भवों (गतियों) का अभाव हो चुका है, उन्हें अभव कहते हैं। **६. शिव –** जो शिव अर्थात् परम सुख को प्राप्त कर चुके हैं, उन्हें शिव कहते हैं।

तीन विशेषणों से विशिष्ट निर्वाणतत्त्व –

तल्लक्षणाविसंवादा निराबाधमकल्मषम्।
कार्यकारणतातीतं जन्ममृत्युवियोगतः।।४४७।।

अन्वय :– तत्-लक्षण-अविसंवादाः (निर्वाणतत्त्वस्य लक्षणे अविसंवादाः जिनाः) निराबाधं, अकल्मषं, जन्ममृत्युवियोगतः (च) कार्यकारणातीतं (निर्वाणतत्त्वं) कथयन्ति।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :– निर्वाण/मोक्षतत्त्व के लक्षण को अत्यन्त स्पष्ट एवं यथार्थ जाननेवाले सर्वज्ञ जिनेंद्रदेव मोक्षतत्त्व को निराबाध, अकल्मष और कार्यकारणातीत – इन तीन विशेषणों से सहित कहते हैं।

भावार्थ :– मोक्षतत्त्व सर्वप्रकार की आकुलतादि बाधाओं से रहित होने के कारण निराबाध है, ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित होने के कारण अकल्मष (निर्मल) है और जन्म-मरण के कारणों का अभाव होने से कार्य कारणातीत है।

वीतरागता से विवाद का अभाव –

ज्ञाते निर्वाण-तत्त्वेऽस्मिन्नसंमोहेन तत्त्वतः।
मुमुक्षूणां न तद्युक्तौ विवाद उपपद्यते॥४४८॥

अन्वय :– तत्त्वतः असंमोहेन ज्ञाते अस्मिन् निर्वाण-तत्त्वे मुमुक्षूणां तद्युक्तौ विवादः न उपपद्यते।

सरलार्थ :– मोक्षतत्त्व को असंमोहरूप से अर्थात् वीतरागतापूर्वक यथार्थरूप से जानने पर मुमुक्षुओं को मोक्षसंबंधी युक्तियों के कथन में विवाद अर्थात् मतभेद नहीं हो सकता।

भावार्थ :– मोह का अर्थ विपरीत श्रद्धान एवं राग-द्वेषरूप परिणाम है। असंमोह अर्थात् न श्रद्धा की विपरीतता है और न चारित्रगत राग-द्वेषरूप विकारीभाव है। जब साधक इसप्रकार असंमोहरूप से मोक्षतत्त्व को यथार्थ जानता है, तब उसे कोई विवाद नहीं रहता है।

सर्वज्ञता से मोक्षमार्ग में एकरूपता –

सर्वज्ञेन यतो दृष्टो मार्गो मुक्तिप्रवेशकः।
प्राञ्जलोऽयं ततो भेदः कदाचिन्नात्र विद्यते॥४४९॥

अन्वय :– यतः सर्वज्ञेन दृष्टः अयं मुक्तिप्रवेशकः मार्गः प्राञ्जलः (अस्ति)। ततः अत्र (मोक्षमार्गे) कदाचित् भेदः न विद्यते।

सरलार्थ :– क्योंकि केवलज्ञान से देखा अर्थात् जाना गया मुक्तिप्रवेशमार्ग अर्थात् मोक्षमार्ग प्रांजल अर्थात् स्पष्ट एवं निर्दोष है; इसलिए मोक्षमार्ग के स्वरूप में तथा कथन में कभी कोई मतभेद नहीं होता; इसका अर्थ मोक्षमार्ग में नियम से एकरूपता रहती है।

भावार्थ :– मोक्षमार्ग का कथन अनादिकाल से मूलतः तो अनंत ज्ञानी अर्थात् सर्वज्ञ तीर्थंकर अरंहतों ने किया है। तदनंतर गणधर एवं अन्य आचार्य मुनिराजों ने किया है। उनके अनुसार ही अनेक विद्वानों ने भी किया है और कर भी रहे हैं; तथापि मोक्षमार्ग के कथन में भेद नहीं है – एकरूपता ही है। कुछ लोगों को जो मतभेद लगता है, वह उनके अज्ञान की महिमा है।

जिन्होंने सब जाना है, उनके तत्त्व-कथन में एकरूपता आना तो स्वाभाविक है। जो महापुरुष वीतरागी होते हैं, वे ही सर्वज्ञ हो जाते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

देशना के विभिन्नता का कारण –

विचित्रा देशनास्ततत्र भव्यचित्तानुरोधतः।
कुर्वन्ति सूरयो वैद्या यथाव्याध्यनुरोधतः ।।४५०।।

अन्वय :– यथा व्याधि-अनुरोधतः वैद्याः विचित्राः देशनाः कुर्वन्ति (तथैव) सूरयः भव्यचित्तानुरोधतः तत्र (मोक्षमार्गे) सूरयः विचित्राः देशनाः (कुर्वन्ति)।

सरलार्थ :– जिस समय जिस रोगी की जिसप्रकार की व्याधि/बीमारी होती है; उस समय चतुर वैद्य उस व्याधि तथा रोगी की प्रकृति आदि के अनुरूप योग्य भिन्न-भिन्न औषधि की योजना करते हैं; उसीप्रकार मुक्तिमार्ग के संबंध में भी आचार्य महोदय भव्य जीवों के चित्तानुरोध से नाना प्रकार की देशनाएँ देते हैं।

भावार्थ :– अरहंत सर्वज्ञ भगवंत की मूल देशना प्रथमानुयोग आदि चार अनुयोगों में निबद्ध है; इसका कारण देशना के योग्य भिन्न-भिन्न जीवों की पात्रता ही है। एक द्रव्यानुयोग में भी व्यवहारनय–निश्चयनय के कथन का कारण भी देशना योग्य भिन्न-भिन्न जीवों की पात्रता ही है। अनगारधर्म एवं सागारधर्म के भेद का कारण भी जीवों की विभिन्न पात्रता ही है। उपादानमूलक कथन तथा निमित्तमूलक कथन में भी जीवों की पात्रता ही कारण है। इस तरह देशना के भेद जिनवाणी में उपलब्ध होते हैं; तथापि मोक्षमार्ग तो एक वीतरागरूप ही है। इस वीतरागरूप मूल प्रयोजन को आचार्य कुंदकुंद ने पंचास्तिकाय संग्रह शास्त्र के गाथा १७२ में तथा आचार्य अमृतचंद्र ने इस गाथा की टीका में विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया है।

मुक्ति का कारण –

कारणं निर्वृतेरेतच्चारित्रं व्यवहारतः।
विविक्तचेतनध्यानं जायते परमार्थतः।।४५१।।

अन्वय :– एतत् (पूर्वोक्तं) चारित्रं व्यवहारतः निर्वृतेः कारणं (अस्ति)। परमार्थतः (तु) विविक्त-चेतन-ध्यानं (निर्वृतेः कारणं) जायते।

सरलार्थ :– इस चारित्र अधिकार में २८ मूलगुणों की मुख्यता से कहा हुआ चारित्र व्यवहारनय से निर्वाण/मुक्ति का कारण है। निश्चयनय से कर्मरूपी कलंक से रहित निज शुद्धात्मा का ध्यान ही निर्वाण का कारण है।

भावार्थ :– मुनिराज के जीवन में अनंतानुबंधी आदि तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक व्यक्त वीतरागमय सुखरूप शुद्ध पर्याय ही निश्चय चारित्र है। वह निश्चय चारित्र शुद्धात्मा के निर्विकल्प ध्यान से ही प्रगट होता है।

जब यह निश्चय अर्थात् सच्चा धर्म व्यक्त रहता है, उस समय मुनिराज के जीवन में सहचररूप से २८ मूलगुणों के पालनरूप पुण्य परिणाम भी होता ही है, उसे यथार्थ धर्म के साथ-साथ होने से व्यवहारनय से मुक्ति का कारण कहा जाता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वास्तविकरूप से तो यह शुभोपयोगरूप चारित्र कर्मबंध का ही कारण है। प्रवचनसार की छठी गाथा तथा उसकी टीका में यह विषय विशेष स्पष्ट हुआ है, अतः वह टीका अविकल रूप से दे रहे हैं –

''दर्शन-ज्ञान प्रधान चारित्र से, यदि वह (चारित्र) वीतराग हो तो मोक्ष प्राप्त होता है; और उससे ही, यदि वह सराग हो तो देवेन्द्र-असुरेन्द्र-नरेन्द्र के वैभवक्लेशरूप बन्ध की प्राप्ति होती है। इसलिये मुमुक्षुओं को इष्ट फलवाला होने से वीतरागचारित्र ग्रहण करने योग्य (उपादेय) है और अनिष्ट फलवाला होने से सराग चारित्र त्यागने योग्य (हेय) है।''

व्यावहारिक चारित्र के दो भेद –

यो व्यावहारिकः पन्थाः सभेद-द्वय-संगतः।
अनुकूलो भवेदेको निर्वृतेः संसृतेः परः ॥४५२॥

अन्वय :– **यः व्यावहारिकः पन्थाः (अस्ति; सः) सभेद-द्वय-संगतः (भवति)। एकः निर्वृतेः अनुकूलः भवेत् परः संसृतेः (अनुकूलः भवेत्)।**

सरलार्थ :– व्यावहारिकचारित्ररूप जो मार्ग अर्थात् उपाय है, उसके दो भेद हैं – एक निर्वाण/मुक्ति के लिये अनुकूल है और दूसरा संसार के लिए अनुकूल है।

भावार्थ :– इस श्लोक में व्यवहार चारित्र के भेद बताते हुए ग्रंथकार की विवक्षा जिनेंद्रकथित व्यवहार और सरागी देवों द्वारा कहा हुआ व्यवहार चारित्र का स्वरूप समझाने की है। सही देखा जाय तो वीतरागी सर्वज्ञ देवों से भिन्न जो कोई भी देव दुनियाँ में माने/जाने जाते हैं, वे सच्चे देव हो ही नहीं सकते। तथा उनसे कथित धर्म में न व्यवहार चारित्र है और न निश्चय चारित्र। दुनियाँ अर्थात् अनभ्यासी सामान्यजन जिस व्रत-नियम आदि को चारित्र कहते हैं, उसकी अपेक्षा लेकर सरागधर्म के धारक जीवों के चारित्र को भी ग्रंथकार ने व्यवहार चारित्र के नाम से कहा है। इनमें से जिनेन्द्रकथित व्यवहार चारित्र तो मुक्ति के लिए अनुकूल है और अन्य द्वारा कथित चारित्र संसार का ही कारण है।

मोक्ष एवं संसार के लिये अनुकूल चारित्र –

निर्वृतेरनुकूलोऽध्वा चारित्रं जिन-भाषितम्।
संसृतेरनुकूलोऽध्वा चारित्रं पर-भाषितम् ॥४५३॥

अन्वय :– जिन-भाषितं चारित्रं निर्वृतेः अनुकूलः अध्वा (वर्तते)। (च) पर-भाषितं चारित्रं संसृतेः अनुकूलः अध्वा (वर्तते)।

सरलार्थ :– वीतराग-सर्वज्ञ भगवान द्वारा कहा गया २८ मूलगुणरूप चारित्र, वह मोक्ष के लिये अनुकूल मार्ग (उपाय) है और वीतराग तथा सर्वज्ञता से रहित किसी अन्य वक्ता द्वारा कहा गया चारित्र, वह संसार के लिये अनुकूल मार्ग है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– असत्य कथन के लिये दो कारण जगतप्रसिद्ध है – एक कारण मोह-राग-द्वेष और दूसरा कारण अज्ञान/जानकारी का अभाव। जिनेंद्र भगवान वीतरागी होने से मोह-राग-द्वेषरूप विकारी भावों से सर्वथा रहित हुए हैं; अतः अत्यन्त स्वस्थचित्त अर्थात् मध्यस्थ/साक्षीस्वरूप हो गये हैं। इसकारण उनको कोई अपना अथवा पराया रहा ही नहीं।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे सर्वज्ञ हो चुके हैं, सच्चे मोक्षमार्ग का तथा अन्य अनंत विषयों का उन्हें पूर्ण ज्ञान है। अब उन्हें जानना कुछ बचा ही नहीं है। इसकारण अब उन्हें असत्य कथन करने का कुछ कारण ही नहीं रहा। इसलिए वे जो कुछ कथन करेंगे वह नियम से सर्वथा सत्य ही होगा। अतः जिनेन्द्र-कथित व्यवहार चारित्र मोक्षमार्ग तथा मोक्ष के लिये अनुकूल ही रहता है।

जिनेंद्र भगवान को छोड़कर धर्म का कथन करनेवाले जो अन्य वक्ता हैं, वे वीतरागी तथा सर्वज्ञ न होने से उनका उपदेश निर्दोष हो ही नहीं सकता। उनसे प्रतिपादित व्यवहार चारित्र (जिसे लौकिक अपेक्षा से ही स्थूलरूप से व्यवहारचारित्र कहा है) मोक्षमार्ग एवं मोक्ष का कारण न होने से दुःखरूप तथा दुःखकारक संसार का ही कारण होना स्वाभाविक है।

जिनेंद्र-कथित व्यवहार चारित्र मोक्ष के लिये अनुकूल होने का कारण –

चारित्रं चरतः साधोः कषायेन्द्रिय-निर्जयः।
स्वाध्यायोऽतस्ततो ध्यानं ततो निर्वाणसंगमः ॥४५४॥

अन्वय :– (जिन-भाषितं) चारित्रं चरतः साधोः कषायेन्द्रिय-निर्जयः (भवति)। अतः स्वाध्यायः (भवति)। ततः (स्वाध्यायतः) ध्यानं (जायते) ततः (ध्यानात्) निर्वाणसंगमः (जायते)।

सरलार्थ :– जिनेंद्र-कथित २८ मूलगुणरूप व्यवहार चारित्र का यथार्थ आचरण करने से क्रोधादि कषायों का एवं स्पर्शनेंद्रियादि इंद्रियों का जीतना होता है। इनको जीतने से शास्त्र का स्वाध्याय/निजात्मा का ज्ञान तथा अनुभव होता है। इस कारण आत्मध्यान होता है। आत्म-ध्यान से मुक्ति की प्राप्ति होती है।

भावार्थ :– व्यवहार चारित्र से मुक्ति की प्राप्ति पर्यंत का सर्वक्रम इस श्लोक में बता दिया है; तथापि इस कथन को व्यवहार का/उपचार का ही कथन समझना चाहिए; क्योंकि अभव्य जीव अथवा दुरानुदूर भव्य जीव भी व्यवहारचारित्र का आचरण करते हुए संसार के ही नेता बने रहते हैं एवं संसार में चारों गतियों में दुःख भोगते हुए भटकते हैं। वास्तव में यथार्थ व्यवहारचारित्र भी निश्चयचारित्र के बिना नहीं होता; अतः मिथ्यादृष्टि जीवों का चारित्र व्यवहारचारित्र भी नहीं है, वह तो व्यवहाराभास है।

यदि व्यवहार चारित्र अर्थात् पुण्यपरिणाम से निश्चयधर्म अर्थात् वीतरागता प्रगट होती है; ऐसा मानेंगे तो शुद्धोपयोग का कारण शुभोपयोग मानना पड़ेगा। इसे स्वीकारते ही शुभोपयोग का कारण अशुभोपयोग मानना आनिवार्य हो जायगा, जो वास्तविक नहीं हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इस विषयसंबंधी विशेष स्पष्टीकरण हेतु मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अधिकार का पृष्ठ २५६ अवश्य देखें।

इस श्लोक से हमें यह भी समझना आवश्यक है कि जिस किसी भी जीव को निश्चयधर्म की प्राप्ति होती है, वह व्यवहार धर्मपूर्वक ही होती है, अन्यक्रम से नहीं। जिनेंद्रप्रणीत व्यवहारचारित्र/पुण्यरूप धर्म निश्चय चारित्र का/वीतराग परिणाम का पूर्वचर कारण मानना चाहिए। व्यवहार चारित्र निश्चय चारित्र का सहचर कारण भी होता है; तथापि अज्ञानीजन व्यवहार धर्म को निश्चयधर्म का कर्तारूप कारण अथवा उत्पादक कारण मानते हैं, जबकि निमित्तरूप कारण मानना वास्तविक है।

करणानुयोग के कथनानुसार प्रथम, चतुर्थ अथवा पंचम गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनिराज शुभोपयोग की भूमिका में स्वभावसन्मुख पुरुषार्थ से शुद्धोपयोगपूर्वक सीधे सप्तम अर्थात् अप्रमत्तविरत गुणस्थान को प्राप्त कर भावलिंगी मुनिराज हो जाते हैं; इससे भी सब विषय सहज स्पष्ट होता है।

व्यवहार चारित्र शुद्धात्मा के ध्यान में कारण –

(वंशस्थ)

इदं चरित्रं विधिना विधीयते
ततः शुभध्यान-विरोधि-रोधकम्।
विविक्त-मात्मान-मनन्त-मीशते
न साधवो ध्यातुमृतेऽमुना यतः।।४५५।।

अन्वय :– यतः साधवः अमुना (व्यवहारचारित्रेण) ऋते विविक्तं अनन्तं आत्मानं ध्यातुं न ईशते ततः इदं शुभध्यान-विरोधि-रोधकं चरित्रं विधिना विधीयते।

सरलार्थ :– चूँकि साधक व्यवहारचारित्र के बिना शुद्ध-अनन्त आत्मा का ध्यान करने में समर्थ नहीं होते हैं, अतः वे अशुभध्यान को रोकने में समर्थ ऐसे इस व्यवहारचारित्र का विधिपूर्वक आचरण करते हैं।

भावार्थ :– अशुभ ध्यान का अर्थ आर्त एवं रौद्र ध्यान ही समझना चाहिए। शुभोपयोगरूप व्यवहारचारित्र जीव को अशुभ से बचाता हुआ शुद्धोपयोग के लिए अनुकूल होता है।

जब कभी किसी भी जीव को शुद्धोपयोगरूप मोक्षमार्ग का उत्पाद/प्रारंभ होता है वह शुभोपयोगरूप व्यवहारधर्म के व्ययपूर्वक ही होता है; अशुभोपयोग के अभावपूर्वक नहीं। इस अपेक्षा से पुण्य के कारण ही धर्म उत्पन्न होता है; ऐसा व्यवहारनय से कथन करना और मानना भी शास्त्रसम्मत ही है। यह मर्म न समझने के कारण पुण्य को ही धर्म का उत्पादक मानना भी गलत है और धर्म प्रगट होने के पहले पुण्य-परिणाम होते ही नहीं, यह मानना भी उचित नहीं है। विवक्षा समझकर यथार्थ निर्णय करना अनिवार्य है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सर्वोत्तम चारित्र के धारक योगीश्वर का स्वरूप –

(स्रग्धरा)

राग-द्वेष-प्रपञ्च-भ्रम-मद-मदन-क्रोध-लोभ-व्यपेतो
यश्चारित्रं पवित्रं चरति चतुरधीर्लोकयात्रानपेक्षः।
स ध्यात्वात्म-स्वभावं विगलितकलिलं नित्यमध्यात्मगम्यं
त्यक्त्वा कर्मारि-चक्रं परम-सुख-मयं सिद्धिसद्म प्रयाति ।।४५६।।

अन्वय :– यः चतुरधीः (योगी) राग-द्वेष-प्रपञ्च-भ्रम-मद-मदन-क्रोध-लोभ-व्यपेतः लोकयात्रानपेक्षः पवित्रं चारित्रं चरति सः अध्यात्मगम्यं विगलितकलिलं आत्मस्वभावं नित्यं ध्यात्वा कर्मारिचक्रं त्यक्त्वा परमसुखमयं सिद्धिसद्म प्रयाति।

सरलार्थ :– जो चतुरबुद्धि योगीश्वर राग-द्वेषरूप प्रपंच/छलादि परिणाम, भ्रम, मद, मान, कामभाव, क्रोध और लोभ से रहित होकर लोकयात्रा अर्थात् संसार के व्यवहार की अपेक्षा न रखता हुआ उपर्युक्त चारित्ररूप प्रवृत्त होता है; वह सर्वथा पाप रहित शुद्धात्मस्वभाव का सदा ध्यान करते हुए कर्मरूपी शत्रुओं के समूह का भेदकर/नष्ट कर परमसुखमय सिद्धिसदन अर्थात् मुक्ति-महल को प्राप्त होता है।

भावार्थ :– यह चारित्र अधिकार का अंतिम श्लोक है। सर्वोत्तम शुद्धिरूप चारित्र ही मोक्षदाता है, यह विषय यहाँ स्पष्ट किया है। यहाँ योगीश्वर के कुछ खास विशेषण दिये हैं, जैसे – राग-द्वेषादि विकारी परिणामों से रहित होना एवं लोकयात्रा की अपेक्षा न करना – इन दोनों विशेषणों से योगीश्वर की पूर्ण वीतरागता स्पष्ट होती है। चतुरधी अर्थात् बुद्धि की चतुरता इस विशेषण से हम उनके सर्वोत्तम शुद्धोपयोगरूप अवस्था को जान सकते हैं, इसे शुद्धात्मा का ध्यान भी कह सकते हैं। कर्मारिचक्रं त्यक्त्वा से घाति-अघाति कर्मों के नाश का संकेत समझ में आता है। **परम सुखमय** शब्द से अव्याबाध अनंत सुखरूप अवस्था स्पष्ट होती है। संक्षेप में कहा जाय तो यह श्लोक १४वें गुणस्थान में होनेवाले कार्य का ज्ञान कराता है; जिसके बाद नियम से मुक्तावस्था की प्राप्ति होती है, जो साधक के सर्वोत्तम चारित्र का स्थान है। इसतरह ग्रंथकार ने चारित्र अधिकार का समापन किया है।

इसप्रकार श्लोक क्रमांक ३५७ से ४५६ पर्यन्त कुल १०० श्लोकों में यह आठवाँ 'चारित्र-अधिकार' पूर्ण हुआ।

●●●

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

९

चूलिका-अधिकार

मुक्तजीव सदा आनन्दित रहते हैं –

दृष्टिज्ञानस्वभावस्तु सदानन्दोऽस्ति निर्वृतः।
न चैतन्य-स्वभावस्य नाशो नाश-प्रसङ्गतः ॥४५७॥

अन्वय :– निर्वृतः (जीवः) तु दृष्टिज्ञानस्वभावः सदानन्दः अस्ति। (तस्य) चैतन्य स्वभावस्य (कदापि) नाशः न (जायते; जीवद्रव्यस्य) नाश-प्रसङ्गतः।

सरलार्थ :– निर्वृति अर्थात् मुक्तअवस्था को प्राप्त हुआ जीव दर्शन-ज्ञान स्वभाव को धारण किये हुए सदा/अनंतकालपर्यंत अनंत-अव्याबाध सुखरूप रहता है। जीव के दर्शन-ज्ञानरूप चैतन्य स्वभाव का कभी नाश नहीं होता; क्योंकि स्वभाव का नाश मानने से जीव द्रव्य के ही नाश का प्रसंग उपस्थित होता है, जो अशक्य है।

भावार्थ :– चूलिका का अर्थ आगम में विभिन्न प्रकार से आता है – १. पर्वत के ऊपर क्षुद्र पर्वत सरीखी चोटी; २. सर्व अनुयोगद्वारों से सूचित अर्थों की विशेष प्ररूपणा करनेवाली ही चूलिका हो, यह कोई नियम नहीं है, किन्तु एक, दो अथवा सब अनुयोगद्वारों से सूचित अर्थों की विशेष प्ररूपणा करना चूलिका है; ३. विशेष व्याख्यान, उक्त या अनुक्त व्याख्यान अथवा उक्तानुक्त अर्थ का संक्षिप्त व्याख्यान – ऐसे तीन प्रकार चूलिका शब्द का अर्थ जानना चाहिए। उपर्युक्त तीनों अर्थों में से तीसरा अर्थ ही यहाँ उपयुक्त प्रतीत होता है।

इस श्लोक में ग्रंथकार ने मुक्तजीव के स्वरूप का कथन किया है। इस कथन से स्वयमेव वैशेषिक मत का निरसन हो जाता है। वैशेषिक मत के अनुसार मुक्तावस्था में जीव के चेतना आदि गुणों का नाश हो जाता है। अरहंत के मतानुसार एवं वस्तुस्वभाव की दृष्टि से किसी भी द्रव्य का नाश तो होता ही नहीं, इतना ही नहीं जिन गुणों के समूहरूप द्रव्य सहज निष्पन्न हैं, उन गुणों का भी कभी नाश नहीं होता। जाति की अपेक्षा जीवादि छहों द्रव्यों का और संख्या की अपेक्षा अनंतानंत जीवादि द्रव्यों का तो नाश होता ही नहीं और प्रत्येक द्रव्य में विद्यमान किसी भी गुण का कभी नाश नहीं होता। यह वस्तुस्वरूप तर्क एवं अनुमान से भी स्पष्ट समझ में आता है।

मुक्तात्मा का चैतन्य निरर्थक नहीं –

सर्वथा ज्ञायते तस्य न चैतन्यं निरर्थकम्।
स्वभावत्वेऽस्वभावत्वे विचारानुपपत्तितः ॥४५८॥

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्वय :– **तस्य (निर्वृतस्य) चैतन्यं सर्वथा निरर्थकं न ज्ञायते (यतो हि निरर्थकस्य) स्वभावत्वे अस्वभावत्वे विचार-अनुपपत्तित:।**

सरलार्थ :– मुक्तात्मा का चैतन्य सर्वथा निरर्थक भी ज्ञात नहीं होता; अर्थात् सार्थक ज्ञात होता है; क्योंकि निरर्थक को स्वभाव या अस्वभाव मानने पर चैतन्य की निरर्थकता का विचार नहीं बनता।

भावार्थ :– मुक्तात्मा के चैतन्य को सांख्यमतानुयायी सर्वथा निरर्थक बतलाते हैं। वे कहते हैं कि चैतन्य ज्ञेय के ज्ञान से रहित होता है। उसका निषेध करते हुए यहाँ दो विकल्प उपस्थित किये गये हैं – आत्मा का चैतन्य निरर्थक स्वभावरूप है या निरर्थक स्वभावरूप नहीं है? इन दोनों में से किसी की भी मान्यता पर निरर्थकता का विचार नहीं बनता, ऐसा सूचित किया गया है।

आत्मा का चैतन्य निरर्थक स्वभावरूप नहीं है, इस द्वितीय विकल्प की मान्यता से तो चैतन्य की स्वभाव से सार्थकता स्वतः सिद्ध हो जाती है और इसलिए आपत्ति के लिये कोई स्थान ही नहीं रहता। शेष आत्मा का चैतन्य निरर्थक स्वभावरूप है ऐसा प्रथम विकल्प मानने पर आत्मा के चैतन्य को निरर्थक बतलानेरूप विचार किसी भी प्रकार से संगत नहीं बैठता, इसको अगले दो श्लोकों में स्पष्ट किया गया है।

चैतन्य को आत्मा का निरर्थक स्वभाव मानने पर दोषापत्ति –

निरर्थक-स्वभावत्वे ज्ञानभावानुषङ्गत:।
न ज्ञानं प्रकृतेर्धर्मश्चेतनत्वानुषङ्गत: ॥४५९॥
प्रकृतेश्चेतनत्वे स्यादात्मत्वं दुर्निवारणम्।
ज्ञानात्मकत्वे चैतन्ये नैरर्थक्यं न युज्यते ॥४६०॥

अन्वय :– **(आत्मन: चैतन्ये) निरर्थक-स्वभावत्वे प्रकृते: ज्ञानभाव-अनुषङ्गत:, ज्ञानं (च प्रकृते:) धर्म: न, चेतनत्वानुषङ्गत:।**

प्रकृते: चेतनत्वे आत्मत्वं दुर्निवारणं स्यात् (अत:) चैतन्ये ज्ञानात्मकत्वे (सति तस्य चैतन्यस्य) नैरर्थक्यं न युज्यते।

सरलार्थ :– यदि चैतन्य को आत्मा का निरर्थक स्वभाव माना जाय – सार्थक स्वभाव न मानकर प्रकृतिजनित विभाव स्वीकार किया जाय – तो प्रकृति के ज्ञानत्व का प्रसंग उपस्थित होता है और ज्ञान प्रकृति का धर्म है नहीं; क्योंकि ज्ञान को प्रकृति का धर्म मानने पर प्रकृति के चेतनत्व का प्रसंग उपस्थित होता है।

यदि प्रकृति के चेतनत्व माना जाये तो आत्मत्व मानना भी अवश्यंभावी होगा। अतः चैतन्य के ज्ञानात्मक होने पर उसके निरर्थकपना नहीं बनता।

भावार्थ :– पिछले श्लोक में चैतन्य के निरर्थक न होने की जो बात कही गयी है उसी का इन दोनों श्लोकों में निरर्थक स्वभाव नाम के विकल्प को लेकर स्पष्टीकरण किया गया है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

चैतन्य को आत्मा का निरर्थक स्वभाव मानने का अर्थ यह होता है कि चैतन्य आत्मा का सार्थक (स्वकीय) स्वभाव न होकर उसका विभाव परिणाम हैं। कोई भी विभाव परिणाम पर के निमित्त बिना नहीं होता। आत्मा के विभाव परिणाम का कारण पौद्गलिक कर्म होता है, जिसे प्रकृति भी कहते हैं। विभाव परिणाम जब चैतन्यरूप है तब उसकी जननी प्रकृति भी ज्ञानरूप ठहरती है; परन्तु ज्ञान प्रकृति का धर्म नहीं है। उसे प्रकृति का धर्म मानने पर प्रकृति के चेतनपने का प्रसंग उपस्थित होता है, जिसे सांख्यमतावलम्बियों ने भी नहीं माना है।

यदि प्रकृति के चेतनधर्म का सद्भाव माना जायेगा तो उसको आत्मा (पुरुष) मानना अनिवार्य हो जायेगा; क्योंकि सांख्यों ने पुरुष/आत्मा को चेतनरूप में स्वीकार किया है और प्रकृति को जड़रूप होने पर निरर्थकपना कुछ नहीं बनता। ज्ञान आत्मा का स्वभाव होने से उसमें निरर्थकपने की संगति नहीं बैठती। ऐसी स्थिति में सांख्यों की उक्त मान्यता सदोष ठहरती है।

मुक्ति में भी आत्मा का अभाव नहीं –

नाभावो मुक्त्यवस्थायामात्मनो घटते ततः।
विद्यमानस्य भावस्य नाभावो युज्यते यतः ।।४६१।।

अन्वय :– यतः विद्यमानस्य भावस्य अभावः न युज्यते ततः मुक्त्यवस्थायां आत्मनः अभावः (अपि) न घटते।

सरलार्थ :– क्योंकि विद्यमान/सत्स्वरूप वस्तु का कभी अभाव नहीं होता, यह त्रैकालिक सत्य है; इसलिए मुक्त अवस्था में भी आत्मा का अभाव कभी घटित नहीं होता।

भावार्थ :– द्रव्य का लक्षण सत् अर्थात् स्वतःसिद्ध है। विश्व में स्थित कोई भी सत्स्वरूप वस्तु/द्रव्य है, उसका कभी सर्वथा नाश नहीं होता; इस महान सत्य को इस श्लोक में बताया है। द्रव्य की अवस्था बदलना जुदी बात है और द्रव्य का सर्वथा नाश हो जाना जुदी बात है। इस विषय का समर्थन आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५ के सूत्र २९ में '**सद्द्रव्यलक्षणम्**' द्वारा किया है। आचार्य समंतभद्र ने भी '**सतो न नाशः**' (सत् का नाश नहीं होता) इन शब्दों से स्पष्ट किया है। आचार्य कुंदकुंद ने भी प्रवचनसार तथा पंचास्तिकायसंग्रह की अनेक गाथाओं में इसे समझाया है।

इस श्लोक से सहज ही बौद्ध मत का भी निराकरण हो जाता है। बौद्ध दर्शन की मान्यता के अनुसार प्रदीप के बुझ जाने के समान मुक्त अवस्था में आत्मा का नाश हो जाता है।

जीव के स्वभाव-विभाव का दृष्टान्त सहित निरूपण –

यथा चन्द्रे स्थिता कान्तिर्निर्मले निर्मला सदा।
प्रकृतिर्विकृतिस्तस्य मेघादिजनितावृतिः ।।४६२।।
तथात्मनि स्थिता ज्ञप्तिर्विशदे विशदा सदा।
प्रकृतिर्विकृतिस्तस्य कर्माष्टककृतावृतिः ।।४६३।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्वय :– यथा निर्मले चन्द्रे सदा स्थिता निर्मला कान्तिः तस्य प्रकृतिः, मेघादिजनितावृतिः (तस्य) विकृतिः।

तथा विशदे आत्मनि सदा स्थिता विशदा ज्ञप्तिः तस्य प्रकृतिः, कर्माष्टककृतावृतिः (तस्य) विकृतिः।

सरलार्थ :– जिसप्रकार निर्मल चन्द्रमा में सदा विद्यमान निर्मल कान्ति उसकी प्रकृति/स्वभाव है और मेघादिजनित आवृति/आवरण उसकी विकृति/विभाव है।

उसीप्रकार निर्मल आत्मा में सदा विद्यमान निर्मल ज्ञप्ति/जाननरूप कार्य उसकी प्रकृति/स्वभाव है और आठ कर्मों की आवृति/आवरण उसकी विकृति/विभाव है।

भावार्थ :– जिसप्रकार चन्द्रमा की निर्मल कान्ति उसका मूल स्वभाव है और उस पर मेघादि का आवरण आने पर जो मलिनता आती है, वह विभाव है। उसीप्रकार आत्मा का जानना-देखना मूल स्वभाव है और आठ कर्मों के निमित्त से जो मोह-राग-द्वेषादि की मलिनता उत्पन्न होती है, वह विभाव परिणमन है। जैसे चन्द्रमा पर मेघों का आवरण आने पर भी उसकी कान्ति सदैव विद्यमान रहती है, वैसे ही आठ कर्मों से आवृत्त होने पर भी आत्मा का निर्मल ज्ञान-दर्शनरूप स्वभाव सदैव विद्यमान रहता है।

निमित्त के अभाव से नैमित्तिकभाव का अभाव –

जीमूतापगमे चन्द्रे यथा स्फुटति चन्द्रिका।
दुरितापगमे शुद्धा तथैव ज्ञप्तिरात्मनि ।।४६४।।

अन्वय :– यथा जीमूतापगमे चन्द्रे चन्द्रिका स्फुटति तथा एव दुरितापगमे आत्मनि शुद्धा ज्ञप्तिः (स्फुटति)।

सरलार्थ :– जिसप्रकार मेघों का आवरण निकल जाने पर निर्मल चंद्रमा में निर्मल चाँदनी स्फुटित/व्यक्त हो जाती है; उसीप्रकार ज्ञानावरणादि आवरण कर्म निकल जाने पर निर्मल आत्मा में मात्र जाननरूप ज्ञप्ति/केवलज्ञानरूप ज्योति स्फुटित/व्यक्त हो जाती है।

भावार्थ :– उपरिम तीन श्लोकों में उदाहरण सहित यह विषय स्पष्ट किया गया है कि किसी भी द्रव्य/वस्तु के मूल स्वभाव का कभी नाश नहीं होता और जो द्रव्य में विभाव/विकार होता हुआ जानने-देखने में आता है उसके लिये कोई ना कोई पर पदार्थ की पर्याय ही निमित्तस्वरूप रहती है। किसी भी द्रव्य में विभावरूप पर्याय स्वयमेव अपने में से नहीं होती। निमित्त की उपस्थिति में द्रव्य वैभाविक शक्ति की पर्यायगत योग्यता से अपने आप विभावरूप परिणमित होता है। द्रव्य में निमित्त विभाव उत्पन्न करता है, ऐसा भी नहीं।

समयसार गाथा २७८, २७९ में आचार्य कुंदकुंद ने और इन गाथाओं की टीका एवं कलश १७४ में आचार्य अमृतचंद्र ने इस अलौकिक विषय को स्पष्ट किया है। इन दोनों आचार्यों ने इस

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विषय को स्पष्ट करने के लिये स्फटिक एवं सूर्यकांतमणि के अलग-अलग दृष्टान्त दिये हैं, विषय दोनों का एक ही है। इस श्लोक में ग्रन्थकार ने मेघपटल का दृष्टान्त लिया है।

कर्मरूप आवरण का नाश क्षणभर में –

धुनाति क्षणतो योगी कर्मावरणमात्मनि।
मेघस्तोममिवादित्ये पवमानो महाबलः ।।४६५।।

अन्वय :– महाबलः पवमानः आदित्ये मेघस्तोमं क्षणतः धुनाति इव योगी आत्मनि कर्मावरणं (क्षणतः धुनाति)।

सरलार्थ :– जिसप्रकार सूर्य पर आये हुए मेघ समूह को तीव्र वेग/गति से चलनेवाला महाबलवान पवन क्षणभर में भगा देता है; उसीप्रकार आत्मा के ऊपर आये हुए कर्मों के आवरण को योगी क्षणभर में नष्ट कर देता है।

भावार्थ :– यहाँ ग्रंथकार कर्मावरण लिखकर मुख्यता से ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्मों की ओर संकेत करते हुए क्षीणमोह गुणस्थान का ज्ञान कराना चाहते हैं। क्षणभर शब्द से यथायोग्य अंतर्मुहूर्त काल ही समझना चाहिए, एक समय नहीं।

वास्तविक देखा जाय तो सादि मिथ्यादृष्टि मनुष्य भी मात्र एक ही अंतर्मुहूर्त में (जिसमें अनेक अन्तर्मुहूर्त गर्भित हैं) मिथ्यात्व से लेकर चारों घाति एँवं अघाति कर्मों का नाश करके सिद्धपद प्राप्त कर सकता है। इसके लिये धवल पुस्तक ४ पृष्ठ ३३६ अथवा व्याख्याकार की गुणस्थान विवेचन में 'गुणस्थानातीत सिद्ध' प्रकरण अंत का अंश देखें।

मोक्षप्राप्ति के पहले अधिक से अधिक ३२ बार भावलिंगी मुनिपना का स्वीकार भी शास्त्र में कहा गया है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद अधिक से अधिक किंचित् न्यून अर्धपुद्गलपरावर्तन काल पर्यंत संसार में जीव रहता है। ये सर्व विवक्षाएँ अलग-अलग अपेक्षा से सही हैं।

योग का लक्षण –

विविक्तात्म-परिज्ञानं योगात्संजायते यतः।
स योगो योगिभिर्गीतो योगनिर्धूत-पातकैः ।।४६६।।

अन्वय :– यतः योगात् विविक्तात्म-परिज्ञानं संजायते (ततः) योगनिर्धूत-पातकैः योगिभिः सः योगः गीतः।

सरलार्थ :– जिस योग से अर्थात् ध्यान से शुद्ध आत्मा का अत्यंत स्पष्ट ज्ञान होता है, उसे जिन्होंने योग के द्वारा पातक अर्थात् घातिकर्मों का नाश किया है – ऐसे योगियों ने योग कहा है।

भावार्थ :– इस श्लोक में योग का लक्षण कहा है। श्लोकगत योगी शब्द अरहंत पदधारी जीव के लिये ही आया है; क्योंकि उस योगी ने घातिया कर्मों का नाश किया है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसी अधिकार में आगे ग्रंथकार ने श्लोक क्र. ४७० में **निर्मल ज्ञान की स्थिरता को ही ध्यान कहा है।** ध्यान और योग में कुछ अंतर नहीं है। **त्रिकाली निज भगवान आत्मा में वर्तमानकालीन प्रगट ज्ञान को लगाना ही ध्यान है और वही योग है।**

योग अर्थात् ध्यान के दो कार्य बताये हैं – एक तो त्रिकाली निज भगवान आत्मा को जानना अर्थात् आत्मा में ही आत्मा को लगाये रखना। दूसरा कार्य ज्ञानावरणादि घाति कर्मों का नाश करना। प्रथम कार्य धर्म को प्रगट करनेरूप है और दूसरा कार्य धर्म को पूर्ण करनेरूप है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रारंभ में धर्म प्रगट करना हो तो ध्यान आवश्यक है ही, इतना ही नहीं धर्म की पूर्णता के लिये भी ध्यान ही अनिवार्य है।

ध्यान से उत्पन्न सुख की विशेषता –

निरस्त-मन्मथातङ्कं योगजं सुखमुत्तमम्।
शमात्मकं स्थिरं स्वस्थं जन्ममृत्युजरापहम्॥४६७॥

अन्वय :– योगजं सुखं उत्तमं निरस्त-मन्मथ-आतङ्कं शमात्मकं स्वस्थं स्थिरं (तथा) जन्ममृत्युजरापहम् (अस्ति)।

सरलार्थ :– योग से अर्थात् ध्यानजन्य-विविक्तात्म परिज्ञान से उत्पन्न हुआ जो सुख है वह उत्तम, कामदेव के आतंक से/विषय वासना की पीड़ा से रहित, शान्तिस्वरूप, निराकुलतामय, स्थिर, स्वात्मस्थित और जन्म-जरा तथा मृत्यु का विनाशक है।

सुख एवं दुःख का संक्षिप्त लक्षण –

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
वदन्तीति समासेन लक्षणं सुख-दुःखयोः॥४६८॥

अन्वय :– परवशं सर्वं दुःखं (अस्ति),आत्मवशं सर्वं सुखं (अस्ति); इति (सर्वज्ञाः) सुख-दुःखयोः लक्षणं समासेन वदन्ति।

सरलार्थ :– 'जो-जो पराधीन है वह सब दुःख है और जो-जो स्वाधीन है वह सब सुख है' इसप्रकार (सर्वज्ञ भगवान) संक्षेप से सुख-दुःख का लक्षण कहते हैं।

भावार्थ :– यहाँ संक्षेप में सुख और दुःख – दोनों के लक्षणों का उल्लेख किया गया है, जिनसे वास्तविक सुख-दुःख को सहज ही परखा/पहचाना जा सकता है। जिस सुख की प्राप्ति में थोड़ी-सी भी पराधीनता/पर की अपेक्षा है, वह वास्तव में सुख न होकर दुःख ही है और जिसकी प्राप्ति में कोई पराधीनता/पर की अपेक्षा नहीं, सब कुछ स्वाधीन है, वही सच्चा सुख है। अतः जो इन्द्रियाश्रित सुख कहा अथवा माना जाता है, वह दुःख ही है; यह निर्णय करना चाहिए।

सुख के स्वरूप को स्पष्ट और सरल रीति से जानने के लिये प्रवचनसार शास्त्र के ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन में गाथा क्रमांक ५३ से ६८ पर्यंत प्रथम अध्याय में सुखाधिकार दिया है, उसे टीका सहित

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जरूर पढ़ें। वहीं आगे गाथा ७६ में अत्यंत विशदरूप से कहा है – **इन्द्रियों से भोगा जानेवाला सुख पराधीन, बाधासहित, विच्छिन्न, बंध का कारण और विषम है; अतः उसे दुःख ही जानो।**

भोग एवं आत्मज्ञान का स्वरूप –

ततः पुण्यभवा भोगा दुःखं परवशत्वतः।
सुखं योगभवं ज्ञानं स्वरूपं स्ववशत्वतः ॥४६९॥

अन्वय :– ततः पुण्यभवाः भोगाः परवशत्वतः दुःखं (भवति).। योगभवं ज्ञानं स्ववशत्वतः सुखं स्वरूपं (भवति)।

सरलार्थ :– जो जो पराधीन है वह सब दुःख है। इसलिए पुण्य से उत्पन्न हुए जो जो भोग हैं, वे सब परवश/पराधीन होने से दुःखरूप हैं। योग अर्थात् ध्यान से उत्पन्न हुआ जो निज शुद्ध आत्मा का ज्ञान है, वह स्वाधीन होने से सुखरूप एवं अपने आत्मा का स्वरूप है।

भावार्थ :– इस श्लोक में प्रथम तो पुण्य से उत्पन्न पराधीन सुख को दुःख ही बता दिया है, जैसे कि प्रवचनसार में गाथा ७५ तथा उसकी टीका में समझाया है – 'जिनकी विषयतृष्णा उदित है, ऐसे जीव तृष्णाओं के द्वारा दुःखी होते हुए मरणपर्यंत विषय सुखों को चाहते हैं और दुःखों से संतप्त होते हुए/दुःखदाह को सहन न करते हुए उन्हें भोगते हैं।'

प्रवचनसार की छठवीं गाथा की टीका में देवेंद्रादि के वैभव को क्लेश बताया है। गाथा ६४ एवं उसकी टीका में भी उदाहरणों सहित इंद्रियधारी को दुःखी सिद्ध किया है।

श्लोक के उत्तरार्द्ध में ध्यान से उत्पन्न शुद्धात्मा के ज्ञान को सुखरूप बतलाया है। इसी विषय का खुलासा प्रवचनसार की ५९, ६०, ६१, ६२ इन चार गाथाओं और इनकी टीका में स्पष्ट किया है। वहाँ ज्ञान का संदर्भ केवलज्ञान से लगाया है। इन चार गाथाओं और उनकी टीका में कथित केवलज्ञान को ही यहाँ अमितगति आचार्य ने संक्षेप में ज्ञान शब्द से अभिहित किया है।

ध्यान का लक्षण –

ध्यानं विनिर्मलज्ञानं पुंसां संपद्यते स्थिरम्।
हेमं क्षीणमलं किं न कल्याणत्वं प्रपद्यते ॥४७०॥

अन्वय :– पुंसां विनिर्मलज्ञानं (यदा) स्थिरं (भवति; तदा) ध्यानं संपद्यते। (यतः) क्षीणमलं हेमं किं कल्याणत्वं न प्रपद्यते ? (प्रपद्यते एव।)।

सरलार्थ :– पुरुषों का अर्थात् जीवों का निर्मल/सम्यग्ज्ञान जब स्थिर होता है, तब उस ज्ञान को ही ध्यान कहते हैं। यह ठीक ही है, क्योंकि किट्ट-कालिमादिरूप मल से रहित हुआ सुवर्ण क्या कल्याणपने को प्राप्त नहीं होता? अर्थात् शुद्ध सुवर्ण कल्याणपने को प्राप्त होता ही है। इस संसार में निर्मल सुवर्ण को कल्याण नाम से भी जाना जाता है।

भावार्थ :– आत्मवस्तु को यथार्थ जानना सम्यग्ज्ञान है और उसी आत्मवस्तु को अथवा अन्य पदार्थ को भी वीतराग भाव से यथार्थ जानते रहना ध्यान है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रश्न :– आत्मा को छोड़कर अन्य वस्तु को जानते हुए भी क्या ध्यान हो सकता है – वीतरागभाव रह सकता है?

उत्तर :– हाँ; आत्मवस्तु को छोड़कर अन्य द्रव्यों को वीतरागभाव से जानते रहने से कुछ बिगाड़ नहीं होता। इस विषय को अधिक स्पष्ट जानने के लिये मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र के निश्चयाभासी प्रकरण में पृष्ठ २११ से २१३ जरूर देखें।

मूढ़ जीवों की मान्यता –

गन्धर्वनगराकारं विनश्वरमवास्तवम्।
स्थावरं वास्तवं भोगं बुध्यन्ते मुग्धबुद्धयः ।।४७१।।

अन्वय :– मुग्धबुद्धयः गन्धर्वनगराकारं (इव) विनश्वरं (च) अवास्तवं भोगं स्थावरं वास्तवं (च) बुध्यन्ते।

सरलार्थ :– मूढ़बुद्धि मनुष्य अर्थात् जिन्हें वस्तुस्वरूप का ठीक परिज्ञान नहीं है, वे गन्धर्वनगर के आकार के समान विनाशीक और अवास्तविक भोग समूह को स्थिर और वास्तविक समझते हैं।

भावार्थ :– गंधर्वनगर शब्द का अर्थ – आकाश में बादलों से बना हुआ काल्पनिक सुंदर नगर। जिन पुण्योत्पन्न भोगों का ४६९वें श्लोक में उल्लेख है, वे आकाश में रंग-बिरंगे बादलों से स्वतः बने सुन्दर गन्धर्वनगर के समान विनश्वर और अवास्तविक हैं। उन्हें मूढ़बुद्धि स्थिर और वास्तविक समझते हैं, यह उनकी बड़ी भूल है।

यहाँ प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले बादलों के आकार की क्षणभंगुरता की ओर संकेत करके भोगों की अस्थिरता और निःसारता को उसके समकक्ष दर्शाया है। जो लोग भ्रमवश विषय भोगों को ऐसा नहीं समझते, उन्हें मोह से दूषितमति सूचित किया है।

आत्मा का महान रोग –

चित्त-भ्रमकरस्तीव्रराग-द्वेषादि-वेदनः।
संसारोऽयं महाव्याधिर्नानाजन्मादिविक्रियः ।।४७२।।
अनादिरात्मनोऽमुख्यो भूरिकर्मनिदानकः।
यथानुभवसिद्धात्मा सर्वप्राणभृतामयम् ।।४७३।।

अन्वय :– चित्तभ्रमकरः, तीव्रराग-द्वेषादि वेदनः, नाना-जन्मादि विक्रियःअयं संसारः (आत्मनः) महाव्याधिः (अस्ति)।

अयं (महाव्याधिः) आत्मनः अनादिः अमुख्यः, भूरिकर्मनिदानकः, सर्वप्राणभृतां (च) यथा-अनुभवसिद्धात्मा (अस्ति)।

सरलार्थ :– यह संसार जो चित्त में भ्रम उत्पन्न करनेवाला, राग-द्वेषादि की वेदना को लिये हुए तथा जन्म-मरणादिकी विक्रिया से युक्त है, वह आत्मा का महान रोग है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यह महान रोग आत्मा के साथ अनादि-सम्बन्ध को प्राप्त है, अप्रधान है, बहुत कर्मों के बन्ध का कर्ता है और सर्व प्राणियों को ऐसा ही आत्मा अनुभव में आता रहता है, अत: यथा-अनुभवसिद्ध है।

भावार्थ :– ग्रंथकार आचार्य अमितगति पाठकों को संसार के सत्यस्वरूप का ज्ञान कराते हुए संसार से पाठकों को विरक्त करने के लिये प्रेरणा दे रहे हैं। वास्तविक देखा जाय तो विरक्तभाव के बिना जीव को अध्यात्म का सच्चा आनंद भी प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए साधक को साधना के लिए ज्ञान एवं वैराग्य परिणाम आवश्यक है।

सिद्ध जीव पुनः संसारी नहीं हो सकता –

सर्वजन्मविकाराणामभावे तस्य तत्त्वतः।
न मुक्तो जायतेऽमुक्तोऽमुख्योऽज्ञानमयस्तथा।।४७४।।

अन्वय :– **तस्य (आत्मन:) तत्त्वत: सर्वजन्मविकाराणां अभावे (सति; य: जीव:) मुक्त: (भवति; स:) अमुक्त: अमुख्य: तथा अज्ञानमय: न जायते।**

सरलार्थ :– आत्मा के सर्व संसार-विकारों का वस्तुतः अभाव हो जाने पर जो जीव मुक्त अर्थात् सिद्ध आत्मा हो जाता है, वह परमात्मा फिर कभी अमुक्त अर्थात् संसार पर्याय का धारक संसारीजीव नहीं होता, न साधारण प्राणी बनता है और न अज्ञानरूप ही परिणत होता है।

भावार्थ :– संसारी जीव के जब भवजन्य विकारों का संपूर्ण अभाव हो जाता है, तब वह सिद्ध परमात्मा हो जाता है। ऐसा मुक्त जीव पुनः विकार सहित होकर संसारी नहीं बनता।

इस श्लोक से अवतारवाद का निषेध हो जाता है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जो अवतार लेते हैं, वे सिद्ध नहीं हुए थे। संसार में ही देव गति में गये थे, वहाँ से मनुष्य-जन्म में आये हैं। स्वर्ग को अज्ञान से कुछ लोग मुक्त जीवों का स्थान मानते हैं। जिनधर्म के प्रथमानुयोग के ग्रंथों में हजारों कहानियाँ हैं, उनमें परभव की घटनाएँ तो आयी हैं, लेकिन कोई भी कहानी ऐसी नहीं है, जिसमें मुक्त जीव ने अवतार लिया हो।

सिद्ध संसारी नहीं होते, इसका सोदाहरण समर्थन –

यथेहामयमुक्तस्य नामयः स्वस्थता परम्।
तथा पातकमुक्तस्य न भवः स्वस्थता परम्।।४७५।।

अन्वय :– **यथा इह आमयमुक्तस्य आमय: न (वर्तते) परं स्वस्थता (जायते)। तथा पातकमुक्तस्य भव: (संसार:) न (अवतिष्ठते) परं स्वस्थता (जायते)।**

सरलार्थ :– जिसप्रकार इस लोक/संसार में जो मनुष्य रोग से रहित हो गया है, उसके रोग नहीं रहता; वह परम स्वस्थता को ही प्राप्त हो जाता है। उसीप्रकार जो पातक अर्थात् ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित हो गया है, उसके भव अर्थात् संसार नहीं रहता; वह परम स्वस्थता को प्राप्त हो जाता है अर्थात् मुक्तावस्था में ही अनंत काल तक विद्यमान रहता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– श्लोक में आया हुआ पातक शब्द का सामान्य अर्थ पाप कार्य है। यहाँ तो उसका अर्थ कर्म किया है अर्थात् पाप और पुण्य दोनों कर्मों को एक ही माना है, यह विशेष अर्थ यहाँ समझना आवश्यक है। अर्थात् पुण्य को भी पातक बता दिया है; क्योंकि पुण्य कर्म के नाश के बिना कोई जीव मुक्त नहीं हो सकता।

ज्ञानी के भोग संसार के कारण नहीं –

शुद्धज्ञाने मनो नित्यं कार्येऽन्यत्र विचेष्टते।
यस्य तस्याग्रहाभावान् न भोगा भवहेतवः ।।४७६।।

अन्वय :– यस्य मनः नित्यं शुद्ध ज्ञाने वर्तते, अन्यत्र कार्ये विचेष्टते तस्य भोगाः आग्रह-अभावात् न भवहेतवः।

सरलार्थ :– जिसका मन अर्थात् व्यक्त/प्रगट ज्ञान सदा शुद्ध ज्ञान में अर्थात् त्रिकाली निज शुद्ध आत्मा में रमा/संलग्न रहता है; अन्य किसी कार्य में जिसकी उपादेय बुद्धि से कोई प्रवृत्ति नहीं होती उसके पंचेंद्रियों के भोग आसक्ति के अभाव में संसार के कारण नहीं होते।

भावार्थ :– जो अपने को मात्र ज्ञाता-दृष्टा मानता है, अन्य औदयिक भावों से अपने को सदा काल भिन्नरूप ही अनुभवता है और अपने व्यक्त ज्ञान को स्वभाव में ही संलग्न रखता है, ऐसा मोक्षमार्गी साधक श्रावक अपनी भूमिका के योग्य पंचेंद्रियों के भोगों में एकत्वबुद्धिरूप मिथ्यात्व परिणामपूर्वक संलग्न नहीं होता, अतः उसके वे भोग-परिणाम संसार के कारण नहीं बनते।

समयसार की गाथा १९३, १९६ में तथा इनकी टीका में एवं कलश १३४, १३५, १४६, १४८, १४९ में इस श्लोकगत विषय को विशेष विशदरीति से बताया है, उनका अध्ययन जरूर करें।

ज्ञानी भोगों में अनासक्त और अनासक्ति से मोक्ष –

मायाम्भो मन्यतेऽसत्यं तत्त्वतो यो महामनाः।
अनुद्विग्नो निराशङ्कस्तन्मध्ये स न गच्छति ।।४७७।।
मायातोयोपमा भोगा दृश्यन्ते येन वस्तुतः।
स भुञ्जानोऽपि निःसङ्गः प्रयाति परमं पदम् ।।४७८।।

अन्वय :– यः महामनाः मायाम्भः तत्त्वतः असत्यं मन्यते सः (तत्प्रति) अनुद्विग्नः निराशङ्कः (अत एव) तन्मध्ये न गच्छति।

येन भोगाः मायातोयोपमा दृश्यन्ते सः वस्तुतः (भोगान्) भुञ्जानः अपि निःसङ्गः (वर्तयन्) परमं पदं प्रयाति।

सरलार्थ :– जिसप्रकार महामना/सम्यग्दृष्टि/ज्ञानी/मोक्षमार्गी जीव मायाजल अर्थात् मृगमरीचिका को वास्तविक रीति से असत्य जानते हैं; अतः वे उससे न उद्विग्न होते हैं, न आकुलित होते हैं और न उसमें रमते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उसीप्रकार जिन्हें पंचेन्द्रियों के भोग वास्तव में माया के समान असत्य/आभासमात्र दिखाई देते हैं, वे महामना/महात्मा जीव भोगों को भोगते हुए भी आसक्ति के अभाव से निःसंग वर्तते हुए परमपद/मोक्ष को पाते हैं।

भावार्थ :– निज शुद्ध आत्मतत्त्व में रत ज्ञानी के भोग बंध के कारण नहीं हो सकते, इस विषय को इन दो श्लोकों में उदाहरण सहित बताया है।

मृगमरीचिका जितनी असत्य/झूठ एवं अवास्तविक है उतना ही असत्यपना ज्ञानी को भोगों में लगता है। ज्ञानी को आत्मा ही सुखसागरस्वरूप अनुभव में आता है। देखने में आनेवाला भोग का कार्य तो पूर्व कर्मोदय से होता है, उसका ज्ञानी मात्र ज्ञातादृष्टा है। यहाँ सम्यग्दर्शन की मुख्यता से मिथ्यात्व का बंध नहीं होता, यह बताना है। चारित्रमोहजन्य परिणामों के कारण जो होने योग्य बंध है, उसका यहाँ निषेध नहीं है। अध्यात्म में मिथ्यात्व के बंध को ही बंध माना जाता है। करणानुयोग की सूक्ष्म कथन की सब विवक्षाएँ यहाँ मान्य करना चाहिए, जो ज्ञान के ज्ञेयरूप हैं।

तत्त्वदृष्टिवंत जीव का स्वरूप –

भोगांस्तत्त्वधिया पश्यन् नाभ्येति भवसागरम्।
मायाम्भो जानतासत्यं गम्यते तेन नाध्वना।।४७९।।

अन्वय :– (यथा) मायाम्भः असत्यं जानता तेनअध्वना न गम्यते (तथा) भोगान् तत्त्वधिया (असत्यं) पश्यन् भवसागरं न अभ्येति।

सरलार्थ :– जैसे मृगमरीचिका को असत्य जल के रूप में देखते-जानते हुए ज्ञानी जीव पानी प्राप्त करने की इच्छा से उस मृगमरीचिका के रास्ते से नहीं जाते, मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं। वैसे पंचेंद्रियों के भोगों को तत्त्वदृष्टि से असत्य देखते-जानते हुए ज्ञानी जीव भवसागर को प्राप्त नहीं होते अर्थात् मोक्षमार्गी ही बने रहते हैं।

भावार्थ :– इस श्लोक में ग्रंथकार तत्त्वधिया/तत्त्वबुद्धि/तत्त्वदृष्टि शब्द से सम्यक्त्व की महिमा बताना चाहते हैं। वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान करना ही मूल कार्य है। जिसे सम्यग्दर्शन हो गया, उसका संसार सीमित हो गया तथा मोक्ष जाने का भी काल निश्चित हो गया है। इसलिए तत्त्वनिर्णय पूर्वक आत्मानुभूति करनेरूप कार्य ही मनुष्य जीवन में सर्वोत्तम कार्य है, ऐसा जानकर उसके लिये ही पुरुषार्थ करना चाहिए।

तत्त्वदृष्टिहीन जीव का स्वरूप –

स तिष्ठति भयोद्विग्नो यथा तत्रैव शङ्कितः।
तथा निर्वृतिमार्गेऽपि भोगमायाविमोहितः।।४८०।।

अन्वय :– यथा (मायाजले) शङ्कितः भय-उद्विग्नः सः (जीवः) तत्र (मायाजले) एव तिष्ठति; तथा भोगमायाविमोहितः (जीवः) अपि निर्वृतिमार्गे (शङ्कितः प्रवर्तति)।

सरलार्थ :– जिसप्रकार मृगमरीचिका अर्थात् मायाजल में जिसे असत्यपने का निर्णय नहीं है;

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

ऐसा मनुष्य भय से सदा दुःखी रहता है; उसीप्रकार पंचेंद्रियों के भोगों में दुःख ही है, ऐसा निर्णय मोह से जिसे नहीं है, वह जीव मोक्षमार्ग में शंकित हुआ वर्तता है।

भावार्थ :– अनंत अरहंतों का उपदेश जिनवाणी में है। उस जिनवाणी के अध्ययन-मनन-चिंतन से और स्वानुभव से जब तक पंचेंद्रियों के भोगों में सुख नहीं है – **एक अपनी आत्मा में ही सुख है, आत्मा स्वयमेव सुखमय ही है।** इसतरह की श्रद्धा नहीं होती तबतक अज्ञानी जीव मोक्षमार्ग में निःशंक नहीं हो पाता। अतः आचार्य कुंदकुंद ने प्रवचनसार गाथा ८६ में स्पष्ट कहा है – **"जिनशास्त्र द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थों को जाननेवाले के नियम से मोहोपचय/मोहसमूह का क्षय हो जाता है; इसलिए शास्त्र का सम्यक् प्रकार से अध्ययन करना चाहिए।"**

मोह का क्षय होने पर मोक्षमार्ग में जीव निःशंक होकर प्रवर्तता है; अतः मोह के नाश के लिए शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।

भोग का फल –

धर्मतोऽपि भवो भोगो दत्ते दुःख-परंपराम्।
चन्दनादपि संपन्नः पावकः प्लोषते न किम्।।४८१।।

अन्वय :– (यथा) चन्दनात् अपि सम्पन्नः पावकः किं न प्लोषते ? (प्लोषते एव; तथा) धर्मतः अपि (सम्पन्नः) भवः भोगः दुःख-परंपरां दत्ते।

सरलार्थ :– जिसप्रकार शीतलस्वभावी चंदन से भी उत्पन्न हुई अग्नि जलाने का ही काम करती है; उसीप्रकार पुण्यरूप व्यवहार धर्म से प्राप्त हुआ सहज भोग भी जीव को दुःख की परम्परा को ही देता है।

भावार्थ :– ग्रंथकार पंचेंद्रिय भोग का सत्य स्वरूप बताते हैं – वीतरागमय धर्म की साधना करते समय शुभ परिणामों से पुण्य तो होता ही है। उस पुण्य से सहज प्राप्त भोग को भोगनेरूप परिणाम भी दुःखरूप एवं दुःखकारक है। ज्ञानी जीव इसतरह भोग का सत्य स्वरूप जानते हैं; अतः उन्हें भोगों का आकर्षण नहीं रहता। जो भोगनेरूप कार्य देखने में मिलता है, वह कर्मोदयजन्य औदयिकभाव है। उसमें ज्ञानी आसक्त नहीं होते, इसलिए सुखी रहते हैं। जहाँ राग है वहाँ नियम से दुःख है। इसी विषय को छहढाला में अति मार्मिकता से कहा है –

यह राग-आग दहै सदा, तातैं समामृत सेइए।
चिर भजे विषय-कषाय, अब तो त्याग निज-पद वेइए।।

विद्वानों की दृष्टि में लक्ष्मी और भोग –

विपत्सखी यथा लक्ष्मीर्नानन्दाय विपश्चिताम्।
न कल्मषसखो भोगस्तथा भवति शर्मणे।।४८२।।

अन्वय :– यथा विपत्सखी लक्ष्मीः विपश्चितां आनन्दाय न (भवति); तथा कल्मषसखः भोगः शर्मणे न भवति।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :– जिसप्रकार विपत्ति/आपत्ति जिसकी सखी अर्थात् सहेली है, वह लक्ष्मी अर्थात् धन-संपत्ति विद्वानों के लिये आनंददायक नहीं होती; उसीप्रकार कल्मष अर्थात् पाप ही जिसका साथी है वह भोग विद्वानों के लिये सुखकारी नहीं होता।

भावार्थ :– इष्ट स्पर्शादि विषयों को भोगनेवाले मोही जीव के भाव को यहाँ पाप कहा है। **धन और भोग ये सुखदाता हैं,** ऐसी मिथ्या मान्यता ही मूल पाप है। उस पाप को मिटाने का प्रयास निजशुद्ध आत्मा के आश्रय से ही होता है। अतः पात्र जीव को येन-केन प्रकारेण पर में सुख की मिथ्या मान्यता मिटाना चाहिए और उसके लिये निज शुद्ध आत्मा के आश्रय का प्रयास करना आवश्यक है।

सच्चा वैराग्य का स्वरूप –

भोग-संसार-निर्वेदो जायते पारमार्थिकः।
सम्यग्ज्ञान-प्रदीपेन तन्नैर्गुण्यावलोकने ॥४८३॥

अन्वय :– सम्यग्ज्ञान-प्रदीपेन तत्-नैर्गुण्यावलोकने (कृते) भोग-संसार-निर्वेदः पारमार्थिकः जायते।

सरलार्थ :– जब सम्यग्ज्ञानरूप दीपक से पंचेंद्रियों के रम्य भोग और आकर्षक लगनेवाले राग-द्वेषरूप संसारवर्धक परिणामों में निर्गुणता अर्थात् निरर्थकता/व्यर्थता भलीभाँति समझ में आती है, तब भोग और संसार से वास्तविक/सच्चा वैराग्य होता है।

भावार्थ :– श्लोक में वैराग्य का निषेधमूलक कथन किया है; इसे विधिमूलक इसप्रकार समझ लेना चाहिए – जब जीव को मात्र निज शुद्ध आत्मा में सुख एवं सार्थकता का अनुभव/प्रतीति होती है; तब स्वयमेव ही भोग और संसार की निरर्थकता ख्याल में आती है। वास्तविकरूप से देखा जाय तो अपनी आत्मा की सच्ची प्रतीति/श्रद्धा होने पर वैराग्य भाव भी स्वयं ही सच्चा हो जाता है, उसके लिये कुछ अलग पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नहीं रहती।

जैसे अंधेरे को दूर करने के लिये मात्र दीपक के प्रकाश की आवश्यकता है, अन्य कोई उपाय नहीं है; वैसे ही सच्चे वैराग्य के लिये अर्थात् सम्यक्चारित्र के लिये श्रद्धा को यथार्थ बनाना है, अन्य कोई यथार्थ उपाय नहीं है। संक्षेप में कहना हो तो ग्रहणपूर्वक ही त्याग होता है, ग्रहण के बिना त्याग, त्याग ही नहीं है, वह व्यर्थ प्रयास है। जो मात्र त्याग-त्याग ही करते हैं और निज शुद्ध आत्मा का ग्रहण नहीं करते, वे उसके विचार तक भी नहीं पहुँच पाते। उन्हें धर्म तो प्रगट होता ही नहीं, वे सातिशय पुण्य के भागी भी नहीं बनते; विपरीत मान्यता के कारण मात्र तीव्र मिथ्यात्व का बंध करते हैं।

परम भक्ति का स्वरूप –

निर्वाणे परमा भक्तिः पश्यतस्तद्गुणं परम्।
चित्र-दुःखमहाबीजे नष्टे सति विपर्यये ॥४८४॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्वय :– चित्र-दु:खमहाबीजे विपर्यये नष्टे सति निर्वाणे परं तद्गुणं पश्यत: परमा भक्ति: (भवति)।

सरलार्थ :– अनेक प्रकार के दु:खों के बीजस्वरूप मिथ्यात्व के नष्ट होने पर निर्वाण अर्थात् मुक्त-अवस्था में प्राप्त होनेवाले सर्वोत्तम गुणसमूहों को देखने-जाननेवाले साधक को परमभक्ति व्यक्त होती है।

भावार्थ :– इस श्लोक में ग्रंथकार सम्यक्त्व तथा सम्यग्ज्ञान की महिमा व्यक्त कर रहे हैं। समयसार शास्त्र के निश्चयस्तुति के प्रकरण में ३१ से ३३ तीन गाथाएँ आयी हैं। इनकी टीका में आचार्य अमृतचंद्र ने विशेष खुलासा किया है। इन सबका भाव यहाँ ग्रंथकार ने संक्षेप में व्यक्त किया है। पाठकों को समयसार के उक्त प्रकरण का गहराई से अवश्य अध्ययन करना चाहिए। समयसार में **निश्चय स्तुति** शब्द का प्रयोग है, यहाँ **परम भक्ति** शब्द से उसी भाव को व्यक्त किया है।

सच्चे त्याग का स्वरूप –

ज्ञानवन्तः सदा बाह्यप्रत्याख्यान-विशारदाः।
ततस्तस्य परित्यागं कुर्वते परमार्थतः ॥४८५॥

अन्वय :– ततः बाह्यप्रत्याख्यान-विशारदाः ज्ञानवन्तः परमार्थतः तस्य (विपर्यय-ज्ञानस्य) सदा परित्यागं कुर्वते।

सरलार्थ :– इसकारण बाह्य पदार्थों के त्याग में प्रवीण अर्थात् सम्यग्ज्ञान के धारक साधक मिथ्यात्व का वास्तविकरूप से त्याग करते हैं।

भावार्थ :– वास्तविक देखा जाय तो मिथ्यात्व का त्याग ही बहुत बड़ा त्याग है। श्रद्धा में यथार्थता आते ही जीवन बदल जाता है। सम्यग्दृष्टि की मात्र श्रद्धा ही सम्यक् होती है, ऐसा नहीं; अनंतगुणों में सम्यक्पना व्यक्त होता है। इसलिए सम्यग्दृष्टि ही सच्चा त्यागी है। **यहाँ चारित्र में शुद्धि की वृद्धि के लिए जो पुरुषार्थ आवश्यक होता है, वह श्रद्धा की अपेक्षा से कई गुणा अधिक होता है; यह स्वीकारना भी आवश्यक है।** ग्रंथकार ने समयसार के ३४, ३५ गाथाओं का मर्म एक ही श्लोक में देने का प्रयास किया है। इसलिए दोनों गाथाओं का टीका सहित अवलोकन यहाँ अतिशय उपयोगी हैं। हम इनके मात्र भावार्थ को दे रहे हैं –

''आत्मा को परभाव के त्याग का कर्तृत्व है वह नाममात्र है। वह स्वयं तो ज्ञानस्वभाव है। परद्रव्य को पर जाना, और फिर परभाव का ग्रहण न करना वही त्याग है। इसप्रकार स्थिर हुआ ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा कोई भाव त्याग नहीं है।

जबतक परवस्तु को भूल से अपनी समझता है, तभी तक ममत्व रहता है; और जब यथार्थ ज्ञान होने से परवस्तु को दूसरे की जानता है, तब दूसरे की वस्तु में ममत्व कैसे रहेगा? अर्थात् नहीं रहे यह प्रसिद्ध है।''

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ज्ञानी पापों से निर्लिप्त –

न ज्ञानी लिप्यते पापैर्भानुमानिव तामसैः।
विषयैर्विध्यते ज्ञानी न संनद्धः शरैरिव।।४८६।।

अन्वय :– तामसैः भानुमान् इव ज्ञानी पापैः न लिप्यते। संनद्धः शरैः इव ज्ञानी विषयैः न विध्यते।

सरलार्थ :– जिसप्रकार सूर्य अंधकारों से व्याप्त अर्थात् आच्छादित नहीं होता अर्थात् अँधकार सूर्य के प्रकाश को ढक नहीं सकता – प्रकाश को नष्ट नहीं कर सकता, उसीप्रकार ज्ञानी की भूमिका में होनेवाले योग्य/न्याय्य पापों से उसका व्यक्त धर्म व्याप्त/आच्छादित नहीं होता अर्थात् ज्ञानी के न्याय्य पाप उसके व्यक्त धर्म को ढक नहीं सकते – धर्म को नष्ट नहीं कर सकते। जिसप्रकार युद्ध में कवच (बख्तर) पहना हुआ योद्धा बाणों से नहीं बिंधता, उसीप्रकार ज्ञानी पंचेंद्रिय के विषयों को भोगने के कारण कर्मों से नहीं बंधता।

भावार्थ :– सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान की महिमा इस श्लोक में स्पष्ट की है। इस श्लोक का भावार्थ समझने के लिये समयसार कलश १३४ अत्यन्त उपयोगी है, अतः यहाँ उद्धृत कर रहे हैं –

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल।
यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुंजानोऽपि न बध्यते।।

कलशार्थः– वास्तव में वह (आश्चर्यकारक) सामर्थ्य ज्ञान की ही है अथवा विराग की ही है कि कोई (सम्यग्दृष्टि जीव) कर्मों को भोगता हुआ भी कर्मों से नहीं बँधता! (वह अज्ञानी को आश्चर्य उत्पन्न करती है और ज्ञानी उसे यथार्थ जानता है।)

श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र गुण का कार्य/परिणमन एक-दूसरे से संज्ञा-संख्या-लक्षण एवं प्रयोजन की अपेक्षा से कथंचित् भिन्न-भिन्न है, यह विषय जानना अति आवश्यक है।

ज्ञान की महिमा –

अनुष्ठानास्पदं ज्ञानं ज्ञानं मोहतमोऽपहम्।
पुरुषार्थकरं ज्ञानं ज्ञानं निर्वृति-साधनम्।।४८७।।

अन्वय :– ज्ञानं अनुष्ठानास्पदं , ज्ञानं मोहतमोऽपहं, ज्ञानं पुरुषार्थकरं, (च) ज्ञानं निर्वृति-साधनम् (अस्ति)।

सरलार्थ :– सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र का आधार है, मोहरूपी महा अंधकार को नाश करनेवाला एक मात्र सम्यग्ज्ञान है, पुरुष अर्थात् आत्मा के प्रयोजन को पूरा करनेवाला मोक्ष का साक्षात् साधन सम्यग्ज्ञान है।

भावार्थ :– अध्यात्म शास्त्र में ज्ञान को प्रमुख स्थान दिया जाता है। इसलिए ही अध्यात्म का शिरमौर ग्रंथ समयसार के प्रौढ़ टीकाकार आचार्य अमृतचंद्र ने प्रत्येक अधिकार के प्रारंभ में प्रथम

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ज्ञान की ही महिमा गाई है; जो पाठकों को एक बार तो जरूर देखना चाहिए। समयसार कलश ५९ व ६० के अर्थ भी मननीय है।

आत्मा का ज्ञान एक ऐसा अलौकिक गुण है, जिसके आधार/आश्रय से जीव धर्म को समझ सकता है, धर्म को प्रगट करने का पुरुषार्थ कर सकता है, धर्म को पूर्ण कर सकता है और पूर्ण प्रगट हुए धर्म को वैसा का वैसा अनन्तकाल पर्यंत स्थिर रख सकता है।

धवला टीका में वीरसेन आचार्य ने मिथ्यादृष्टि के ज्ञान (निरपेक्ष मात्र ज्ञान) को भी मंगल कहा है। (धवला पुस्तक १, पृष्ठ ३७ से ३९)।

तत्त्वचिंतकों का अलौकिक ध्येय तत्त्व –

विकारा निर्विकारत्वं यत्र गच्छन्ति चिन्तिते।
तत् तत्त्वं तत्त्वतश्चिन्त्यं चिन्तान्तर-निराशिभिः ॥४८८॥

अन्वय :– यत्र चिन्तिते विकाराः निर्विकारत्वं गच्छन्ति तत् तत्त्वं तत्त्वतः चिन्तान्तर-निराशिभिः चिन्त्यं (भवति)।

सरलार्थ :– जिस (निज भगवान आत्मा) का चिन्तन/ध्यान करने पर विकार निर्विकारता को प्राप्त हो जाते हैं (वीतरागमय धर्म प्रगट हो जाता है), उस (चिन्तनयोग्य ध्येय) तत्त्व का अन्य चिन्ताओं से निरिच्छ पुरुषों को वास्तविक चिन्तन करना चाहिए।

भावार्थ :– विकार अर्थात् रागद्वेषमय भाव जीव का दुःखदायक विभाव परिणाम है। इस श्लोक में क्रोधादि विकारों के अभाव का परम सत्य उपाय ध्येयस्वरूप आत्मा का चिन्तन/ध्यान बताया है, जिसके लिये प्रत्येक जीव सर्वथा स्वाधीन है; क्योंकि प्रत्येक जीव का अनादि शुद्ध स्वरूप उसके लिये ध्येय है। चिंतक/ध्याता जब ध्येयरूप निजभगवान आत्मा का ध्यान करता है, तब उसके विकार सहज विगलित/नष्ट हो जाते हैं – वीतरागभाव प्रगट होता है। इस प्रगट होनेवाले वीतराग भाव को धर्म, संवर, मोक्षमार्ग इत्यादि शब्दों से शास्त्र में कहा गया है।

आचार्य कुंदकुंद ने अष्टपाहुड-मोक्षपाहुड की गाथा १०३ में भी इस अलौकिक तत्त्व को स्पष्ट बताया है, उसका भाव इसप्रकार है – **लोक में नमस्कार करने योग्य इंद्रादि हैं, उनसे भी नमस्कार करने योग्य, ध्यान करने योग्य और स्तुति करने योग्य जो तीर्थंकरादि हैं; उनसे भी स्तुति करने योग्य है, ऐसा कुछ है, वह इस देह में ही स्थित (जो त्रिकाली शुद्ध निज भगवान आत्मा) है, उसको यथार्थ जानो।**

निज परम तत्त्व एक ही उपादेय

विविक्तमान्तरं ज्योतिर्निराबाधमनामयम्।
यदेतत् तत्परं तत्त्वं तस्यापरमुपद्रवः ॥४८९॥

अन्वय :– यत् एतत् विविक्तं निराबाधं (च) अनामयं आन्तरं ज्योतिः (अस्ति), तत् परं तत्त्वं (अस्ति)। तस्य अपरं (सर्वं) उपद्रवः।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :– यह जो विविक्त अर्थात् कर्मरूपी कलंक से रहित-अनादि अनंत, स्वभाव से सर्वथा शुद्ध, निर्भय, निरामय/निर्विकार अंतरंग ज्योति अर्थात् ज्ञानमय आत्मतत्त्व है, वही परम तत्त्व है, उससे भिन्न अन्य सब उपद्रव है।

भावार्थ :– समयसार में कलश १३८, १३९ व गाथा २०३ तथा इस गाथा की टीका में अपद और पद शब्द का प्रयोग करते हुए अत्यन्त प्रेरणादायी कथन किया है, जो मूलतः पठनीय है। समयसार के इस समग्र प्रकरण को यहाँ इस श्लोक में समेटने का प्रयास किया है। इनमें से मात्र कलश १३९ का अर्थ हम यहाँ दे रहे हैं – **वह एक ही पद आस्वादन के योग्य है, जो कि विपत्तियों का अपद है (अर्थात् जिसमें आपदायें स्थान नहीं पा सकतीं) और जिसके आगे अन्य (सब) पद, अपद ही भासित होते हैं।**''

यहाँ योगसार प्राभृत शास्त्र में अपद का भाव उपद्रव/ऊधम शब्द से बताया गया है।

मुमुक्षुओं का स्वरूप –

न कुत्राप्याग्रहस्तत्त्वे विधातव्यो मुमुक्षुभिः।
निर्वाणं साध्यते यस्मात् समस्ताग्रहवर्जितैः ॥४९०॥

अन्वय :– **मुमुक्षुभिः कुत्र अपि तत्त्वे आग्रहः न विधातव्यः; यस्मात् समस्त-आग्रह-वर्जितैः निर्वाणं साध्यते।**

सरलार्थ :– जो मोक्ष के अभिलाषी/इच्छुक जीव हैं, उन्हें अन्य किसी भी तत्त्व का अर्थात् व्यवहार धर्म के साधन/निमित्तरूप पुण्यपरिणामों का अथवा शुभ क्रियाओं का आग्रह/हठ नहीं रखना चाहिए; क्योंकि जो समस्त प्रकार के आग्रहों से/एकांत अभिनिवेशों से रहित हो जाते हैं अर्थात् मध्यस्थ/सहज रहते हैं वे ही सिद्धपद को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ :– जिनधर्म में अपेक्षाओं को बहुत बड़ा महत्व है। जो जीव अपेक्षा नहीं जानते उनको तत्त्व का निर्णय होना कठिन है, फिर उन्हें धर्म कैसे प्रगट होगा?

आग्रही जीव को मोक्षमार्ग एवं मोक्ष नहीं होता, यह विषय समयसार शास्त्र में ४०८ से ४१३ पर्यंत की गाथाओं में, उनकी टीका तथा कलशों में भी बताया है। आचार्य पूज्यपाद ने भी समाधिशतक के ८७, ८८, ८९ श्लोकों में लिंग, जाति और ग्रंथ के आग्रह का निषेध किया है।

आचार्य श्री अमितगति ने मात्र एक श्लोक में उपरोक्त सर्व विषय बताने का सफल प्रयास किया है।

मुमुक्षु की निर्विकल्पता –

कर्ताहं निर्वृतिः कृत्यं ज्ञानं हेतुः सुखं फलम्।
नैकोऽपि विद्यते तत्र विकल्पः कल्पनातिगे ॥४९१॥

अन्वय :– **अहं कर्ता, निर्वृतिः कृत्यं, ज्ञानं हेतुः सुखं (च) फलम् (अस्ति एतेषु सर्वेषु) एकः अपि विकल्पः तत्र कल्पनातिगे (ध्येयस्वरूप आत्मनि) न विद्यते।**

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :– मैं कर्ता हूँ, मुक्ति प्राप्त करना मेरा कर्त्तव्य है, निर्वाणरूप कार्य के लिये ज्ञान कारण है और ज्ञान का फल सुख है – इत्यादि में से एक भी विकल्प उस कल्पनातीत/अलौकिक मुमुक्षु में नहीं होता है।

भावार्थ :– इस श्लोक में मुमुक्षु की निर्विकल्पता का स्वरूप बताया है। मुक्ति के साधक मुमुक्षु में कर्ता, कार्य, कारण और फल का भी कोई विकल्प नहीं रहता है। इनमें से एक भी विकल्प रहे तो मुक्ति की साधना नहीं बनती है, अतः मुमुक्षु इन सब विकल्पों से निर्विकल्प ही रहता है।

आत्मा जड़ कर्मों से सदा भिन्न –

आत्म-व्यवस्थिता यान्ति नात्मत्वं कर्मवर्गणाः।
व्योमरूपत्वमायान्ति व्योमस्थाः किमु पुद्गलाः ।।४९२।।

अन्वय :– व्योमस्थाः पुद्गलाः किमु व्योमरूपत्वं आयान्ति ? (अर्थात् न आयान्ति; तथा एव) आत्म-व्यवस्थिताः कर्मवर्गणाः आत्मत्वं न यान्ति।

सरलार्थ :– विशाल लोकाकाश में व्याप्त अनंतानंत स्थूल तथा सूक्ष्म पुद्गल क्या कभी आकाशद्रव्यरूप परिणमित हो सकते हैं? नहीं, कदापि नहीं। आकाश, आकाशरूप रहता है और पुद्गल पुद्गलद्रव्यरूप ही रहते हैं। उसीप्रकार संसारी आत्मा के प्रदेशों में खचाखच/ठसाठस भरी हुई ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप परिणमित कार्माणवर्गणाएँ आत्मतत्त्व/चेतनपने को प्राप्त नहीं हो सकती, वे सब कार्माणवर्गणाएँ पुद्गलरूप ही रहती हैं और आत्मा भी आत्मद्रव्यरूप ही रहता है।

भावार्थ :– इस श्लोक में ग्रंथकार ने आत्मा और पुद्गलद्रव्य की भिन्नता की बात समझाई है। पुद्गलद्रव्य में भी आँखों से देखने में न आनेवाले कर्मरूप परिणत कार्मणवर्गणा की बात कही है, वह शास्त्रानुसार परम सत्य है।

अज्ञानी तो प्रत्यक्ष में भिन्नरूप से विद्यमान दुकान, मकान, सोना, चाँदी को भी अज्ञान/कल्पना से अपना मान लेता है, इसकारण दुःखी होता है। अतः सुखी होना हो तो भेदज्ञान करना अनिवार्य है। शुद्ध जीव पुद्गल और जीव की विकारी अवस्था से कैसा भिन्न है, यह जानने के लिये समयसार की ४९ से ५५ तक की गाथाओं को टीका एवं भावार्थ के साथ जरूर देखें।

जीव-पुद्गल जिसतरह परस्पर सदा से भिन्न थे, हैं और रहेंगे उसीतरह धर्मादि चारों द्रव्य आपस में और जीव-पुद्गलों से भी भिन्न ही थे, हैं और भिन्न ही रहेंगे। अनंतानंत द्रव्यों में से प्रत्येक द्रव्य एक-दूसरे से भिन्न ही हैं, उनमें अत्यन्ताभाव है, यह जिनेंद्र-कथित तत्त्वज्ञान का मूल है। जो इस मूलभूत भेदज्ञान को नहीं समझ पाता, उसे अध्यात्म समझ में आना अशक्य है। इस विषय को आचार्य अमृतचंद्र ने समयसार गाथा ३ की टीका में भी स्पष्ट किया है, उसे जरूर देखें।

नामकर्मजन्य अवस्थाओं से आत्मा सदा भिन्न –

स्थावराः कार्मणाः सन्ति विकारास्तेऽपि नात्मनः।
शाश्वच्छुद्धस्वभावस्य सूर्यस्येव घनादिजाः ।।४९३।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्वय :– **घनादिजाः (विकाराः) शाश्वत्-शुद्ध-स्वभावस्य सूर्यस्य इव कार्मणाः स्थावराः विकाराः ते अपि आत्मनः न सन्ति।**

सरलार्थ :– जिसप्रकार आकाश में मेघ आदि के निमित्त से सूर्य के प्रकाश में उत्पन्न होनेवाले भिन्न-भिन्न आकाररूप विकार, अनादि से शुद्ध स्वभावरूप सूर्य के नहीं हो सकते अर्थात् मेघजन्य विकार और सूर्य दोनों एक-दूसरे से भिन्न ही रहते हैं; उसीप्रकार नामकर्म के उदय के निमित्त से पृथ्वी, अप, तेज, वायु और वनस्पतिरूप एकेंद्रिय जीवों का स्थावररूप आकार शुद्ध स्वभावरूप जीव नहीं हो सकते अर्थात् स्थावररूप आकार और शुद्ध जीव दोनों एक-दूसरे से भिन्न ही हैं।

भावार्थ :– नामकर्म के निमित्त से निर्मित स्थावर आकार से त्रिकाल शुद्ध जीव को यहाँ भिन्न बताया है; क्योंकि कर्म के निमित्त से होनेवाली अवस्था का संबंध कर्म के उदय के साथ है, जीव के सहज स्वभाव के साथ नहीं।

समयसार गाथा ६५, ६६ इन गाथाओं की टीका और ३८, ३९ कलशों का भाव ग्रंथकार ने इस श्लोक में बताया है। अतः समयसार का उक्त अंश पाठक जरूर देखें।

मोहकर्मजन्य रागादि भावों से आत्मा सदा भिन्न –

रागादयः परीणामाः कल्मषोपाधिसंभवाः।
जीवस्य स्फटिकस्येव पुष्पोपाधिभवा मताः ।।४९४।।

अन्वय :– **पुष्पोपाधिभवाः स्फटिकस्य (परिणामाः) इव जीवस्य रागादयः परीणामाः कल्मषोपाधिसंभवाः मताः।**

सरलार्थ :– जिसप्रकार पुष्पों की उपाधि/निमित्त से स्फटिक के अनेक प्रकार के रंगादिरूप परिणाम/अवस्थाएँ होती हैं; उसीप्रकार मोहनीयकर्म के निमित्त से जीव के क्रोध-मान-माया-लोभादिरूप रागादि परिणाम होते हैं।

भावार्थ :– रागादि परिणाम जीवकृत नहीं है, जीव का सहजस्वभाव नहीं है। अतः आत्मा रागादि परिणामों से भिन्न है। रागादि परिणाम मोहकर्म के निमित्त से होते हैं। यदि मोह कर्म का निमित्त न हो तो वे नहीं होते; इस अपेक्षा की मुख्यता करके इस श्लोक में जीव को रागादि से भिन्न बताया है; जो अध्यात्म की अपेक्षा सत्य ही है।

समयसार शास्त्र की गाथा ६८ एवं उसकी टीका तथा भावार्थ को पाठक सूक्ष्मता से पढ़ेंगे तो यह विषय और स्पष्ट होगा।

कषाय परिणाम का कर्ता कर्म है –

परिणामाः कषायाद्या निमित्तीकृत्य चेतनाम्।
मृत्पिण्डेनेव कुम्भाद्यो जन्यन्ते कर्मणाखिलाः ।।४९५।।

अन्वय :– **मृत्पिण्डेन कुम्भाद्याः इव चेतनां निमित्तकृत्य अखिलाः कषायाद्याः परिणामाः कर्मणा जन्यन्ते।**

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :– जिसप्रकार (कुंभकार का निमित्त पाकर) जड़ मिट्टी ही स्वयं घटादि को उत्पन्न करती है; अर्थात् घटादि की कर्त्ता मिट्टी है, कुंभकार नहीं। उसीप्रकार चेतना का निमित्त पाकर कर्म, क्रोध-मान-माया-लोभादिरूप समस्त कषाय परिणाम उत्पन्न करते हैं।

भावार्थ :– उदाहरण में जिसप्रकार मिट्टी ही घटादि की कर्ता है, उसीप्रकार क्रोधादि कषाय का कर्ता जड़ मोहनीय कर्म है।

कषाय परिणामों का स्वरूप –

आत्मनो ये परीणामाः मलतः सन्ति कश्मलाः।
सलिलस्येव कल्लोलास्ते कषाया निवेदिताः ।।४९६।।

अन्वय : – आत्मनः ये परीणामाः मलतः कश्मलाः सन्ति ते (परीणामाः) सलिलस्य कल्लोलाः इव कषायाः निवेदिताः।

सरलार्थ :– आत्मा के जो परिणाम कर्मरूपी मल के निमित्त से मलीन/विभावरूप हो जाते हैं, वे परिणाम जल की कल्लोलों की तरह कषाय कहे गये हैं।

भावार्थ :– क्रोध, मान, माया, लोभ परिणामों को कषाय कहते हैं। वे जीव के मूल स्वभाव नहीं, जो स्वयमेव ही ज्ञान की तरह किसी निमित्त के बिना स्वभावरूप हों। कर्मरूप मल का निमित्त पाकर ही जीव के कषाय होते हैं, कर्मरूप मल के अभाव में कषाय नहीं होते। जल की कल्लोंलें जैसे क्षणभंगुर/अस्थायी अर्थात् मात्र एक ही अंतर्मुहूर्त कालावधि पर्यंत टिकती हैं, उसीप्रकार विकार नियम से अस्थायी होता है और स्वभाव त्रैकालिक रहता है। विभाव दुःखरूप, दुःख का कारण तथा दुःखदायक होता है और स्वभाव सुखरूप, सुख का कारण एवं सुखदाता होता है।

कालुष्य और कर्म में निमित्त-नैमित्तिक संबंध –

कालुष्याभावतोऽकर्म कालुष्यं कर्मतः पुनः।
एकनाशे द्वयोर्नाशः स्याद् बीजाङ्कुरयोरिव ।।४९७।।

अन्वय : – कर्मतः कालुष्यं (उत्पद्यते), पुनः कालुष्य-अभावतः (च) अकर्म (भवति)। बीज-अङ्कुरयोः इव एकनाशे (सति) द्वयोः नाशः स्यात्।

सरलार्थ :– मोहनीय कर्म के उदय के निमित्त से जीव में क्रोधादिरूप कलुषता की उत्पत्ति होती है और क्रोधादिरूप कलुषता के अभाव से ज्ञानावरणादि कर्म का अभाव होता है। बीज और अंकुर की तरह दोनों में से किसी एक का नाश होने पर दोनों का एकसाथ नाश हो जाता है।

भावार्थ :– नये कर्मबंध में निमित्त मात्र मोह परिणाम ही है अर्थात् श्रद्धा की विपरीतता और चारित्र की विपरीतता ही बंधकारक भाव है। अन्य ज्ञानावरणादि कर्म के निमित्त से होनेवाला जीव का विभाव परिणाम कर्मबंध में बिलकुल निमित्त नहीं है। इसलिए आस्रव और बंध के कारण तत्त्वार्थसूत्रादि सभी शास्त्रों में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय को ही बताया है। इन चारों परिणामों को एक शब्द में कहना हो तो मोह, दो शब्दों में कहना हो तो राग-द्वेष, तीन शब्दों में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मोह-राग-द्वेष, चार शब्दों में कहना हो तो क्रोधादि चार कषाय अधिक विस्तार से कथन करना हो तो मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी आदि १६ कषाय और हास्यादि नौ नोकषाय कह सकते हैं।

जैसे-जैसे मिथ्यात्वादि परिणामों का अभाव होता जाता है, वैसे-वैसे नया कर्म का भी बंध रुकता जाता है; जो करणानुयोग के शास्त्र गोम्मटसार कर्मकाण्ड आदि से जानने योग्य है।

कालुष्य और कर्म इन दोनों में से किसी एक का अभाव हो जाने से दोनों का अभाव हो जाता है, इसका स्पष्ट अर्थ यह हो गया कि इनमें कर्त्ता-कर्म-संबंध नहीं है मात्र निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। निमित्त-नैमित्तिक संबंध में काल की प्रत्यासति/नजदीकता होती है अर्थात् निमित्त और नैमित्तिक का काल एक ही होता है।

कषाय के अभाव से शुद्धि/वीतरागता की वृद्धि –

यदास्ति कल्मषाभावो जीवस्य परिणामिनः।
परिणामास्तदा शुद्धाः स्वर्णस्येवोत्तरोत्तराः ॥४९८॥

अन्वय : – यदा परिणामिनः जीवस्य कल्मषाभावः अस्ति, तदा (तस्य जीवस्य) परिणामाः सुवर्णस्य इव उत्तरोत्तराः शुद्धाः (जायन्ते)।

सरलार्थ :– जिस समय परिणमनस्वभावी संसारी साधक जीव के मोह-राग-द्वेषरूप कलुषता का यथागुणस्थान अभाव हो जाता है, उस समय उस जीव के वीतरागरूप धर्मपरिणाम उत्तरोत्तर सुवर्ण के समान शुद्ध होते चले जाते हैं।

भावार्थ :– अशुद्ध सुवर्ण अग्नि में डालकर तपाये जाने पर जैसे-जैसे अधिक-अधिक तपाया जाता है; वैसे-वैसे स्वभावतः उत्तरोत्तर शुद्ध होता जाता है। वैसे ही प्रतिसमय नयी-नयी पर्यायरूप से परिणमन करने का जिसका स्वभाव है, ऐसा संसारी साधक अर्थात् मोक्षमार्गस्थ जीव त्रिकाली निज शुद्ध आत्मा का जैसा-जैसा आश्रयरूप पुरुषार्थ अधिक-अधिक करता जाता है; वैसी-वैसी उस मात्रा में मोक्षमार्गस्थ साधक जीव की शुद्धता/वीतरागता बढ़ती जाती है। उससे पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा भी गुणस्थानानुसार होती रहती है, जोकि स्वाभाविक है।

कषाय के अभाव से सिद्धदशा की प्राप्ति –

कल्मषाभावतो जीवो निर्विकारो विनिश्चलः।
निर्वात-निस्तरङ्गाब्धि-समानत्वं प्रपद्यते ॥४९९॥

अन्वय : – कल्मषाभावतः जीवः निर्वात-निस्तरङ्गाब्धि-समानत्वं निर्विकारः विनिश्चलः प्रपद्यते।

सरलार्थ :– जिसप्रकार वायु तथा तरंग के अभाव से समुद्र-निर्विकार तथा निश्चल/स्थिर होता है; उसीप्रकार मिथ्यात्व एवं कषायरूप कल्मष के अभाव से मोक्षमार्गस्थ आत्मा निर्विकार एवं निश्चल होता है अर्थात् सिद्धपरमात्मा हो जाता है।

भावार्थ :– सिद्ध परमात्मा बनने का उपाय कषायों का अभाव करना ही है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रश्न :– कषायों के अभाव से जीव क्षीणमोही हो जाता है, आप सिद्ध परमात्मा हो जाता है – ऐसा क्यों कहते हो ?

उत्तर :– निर्विकार शब्द से जीव पूर्ण वीतरागी हो जाता है, ऐसा अर्थ समझना चाहिए और श्लोक में विनिश्चल शब्द भी ग्रंथकार ने दिया है, जिसका अर्थ स्थिर होता है, इससे योग का अभाव बताया गया है। इस कारण हमने सिद्ध परमात्मा ऐसा अर्थ करना योग्य समझा है।

आत्मा का यथार्थ स्वरूप –

अक्ष-ज्ञानार्थतो भिन्नं यदन्तरवभासते।
तद्रूपमात्मनो ज्ञातृज्ञातव्यमविपर्ययम्।।५००।।

अन्वय : – अक्ष-ज्ञानार्थत: भिन्नं यत् अन्त: अवभासते, तत् ज्ञातृज्ञातव्यं आत्मन: अविपर्ययं रूपं (अस्ति)।

सरलार्थ :– (स्पर्शेनेन्द्रिय आदि पाँच इंद्रियों से स्पर्श, रस, गंध, वर्ण एवं शब्दरूप पुद्गलमय/जड़ ज्ञेय पदार्थों का ज्ञान होता है। इन स्पर्श-रस आदि) इंद्रियज्ञान के विषयों से भिन्न अंतरंग में ज्ञाता के द्वारा ज्ञातव्य अर्थात् अनुभव में आनेवाला जो पदार्थ है, वही आत्मा का विपरीतता से रहित यथार्थ स्वरूप है।

भावार्थ :– इस श्लोक में आत्मा के स्वरूप अनुभव की मुख्यता से बात बताई गई है। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द ये पाँचों इंद्रियों के विषय हैं। स्पर्शादि गुण-पर्यायों में से एक भी आत्मा में नहीं है। इससे यह स्पष्ट होता है कि इंद्रियों से आत्मा जानने/अनुभव में नहीं आता, वह आत्मा मात्र स्वानुभवगम्य है।

श्लोक में जो ज्ञाता शब्द आया है वह मोक्षमार्गस्थ साधक जीव के लिये आया है। साधक के अनुभव में आत्मा जैसा आता है, वैसा ही आत्मा का यथार्थ स्वरूप है।

समयसार कलश ३५, ३६ में आत्मा को मात्र चैतन्य-शक्तिमय कहकर उसका अनुभव करने की प्रेरणा दी है। आगे ५० से ५५ पर्यंत की गाथाओं में आत्मा को वर्णादि से लेकर रागादि पर्यंत २९ भावों से भिन्न कहा है। इन गाथाओं की टीका में अमृतचंद्र आचार्य ने प्रत्येक भाव आत्मा नहीं है – यह बताते समय अपनी अनुभूति से भिन्न होना, यही एक ही हेतु सामने रखा है।

यहाँ ग्रंथकार ने समयसार के इस मर्म को **ज्ञातृज्ञातव्यं** शब्द से कहने का प्रयास किया है।

व्यक्तरूप परमज्योति का स्वरूप –

यत्रासत्यखिलं ध्वान्तमुद्द्योतः सति चाखिलः।
अस्त्यपि ध्वान्तमुद्द्योतस्तज्ज्योतिः परमात्मनः।।५०१।।

अन्वय : – यत्र (यस्य) असति अखिलं ध्वान्तं (भवति) च (यस्य) सति अखिल: उद्योत: (भवति)। ध्वान्तं अपि उद्योत: अस्ति, तत् आत्मन: परं ज्योति: (अस्ति)।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :– जिसके विद्यमान न होनेपर सब अंधकार है अर्थात् सब ज्ञेय ज्ञात नहीं होते और विद्यमान होनेपर सब उद्योतरूप है अर्थात् लोकालोक में व्याप्त अनंततानंत ज्ञेय युगपत/ एकसाथ विशदरूप से ज्ञात होते हैं; इतना ही नहीं अंधकार भी उद्योतरूप से परिणत हो जाता है अर्थात् अंधकार भी अंधकाररूप से जानने में आता है, वह आत्मा की परमज्योति अर्थात् केवलज्ञान है।

भावार्थ :– श्लोक क्रमांक ४८९ में शक्तिरूप परम ज्योति की चर्चा है और इस श्लोक में व्यक्तरूप परम ज्योति अर्थात् केवलज्ञान का कथन किया है।

केवलज्ञान की विशेष महिमा जिनवाणी में यत्र-तत्र-सर्वत्र है। केवलज्ञान ही जिनधर्म का मूल है। केवलज्ञान को छोड दिया जाय तो न जिनधर्म रहेगा और न जिनवाणी/शास्त्र।

प्रवचनसार में गाथा २१ से ५२ पर्यंत ज्ञानाधिकार है, इसे जयसेनाचार्य ने **सर्वज्ञसिद्धि अधिकार** कहा है। केवलज्ञान के विशेष स्वरूप को समझने के लिये प्रवचनसार गाथा ३७ से ३९ टीका सहित अवश्य देखें।

आचार्य अमृतचंद्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के मंगलाचरण में भी केवलज्ञान को परम ज्योति कहा है और तत्त्वार्थसार में प्रत्येक अध्याय के मंगलाचरण में ज्ञान को ज्योति की ही उपमा दी है।

सब द्रव्य स्वस्वभाव में स्थित है –

सर्वे भावाःस्वभावेन स्वस्वभाव-व्यवस्थिताः।
न शक्यन्तेऽन्यथा कर्तुं ते परेण कदाचन॥५०२॥

अन्वय : – सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभाव-व्यवस्थिताः (सन्ति), ते परेण कदाचन अन्यथा कर्तुं न शक्यन्ते।

सरलार्थ :– (जाति की अपेक्षा जीवादि छह द्रव्य और संख्या की अपेक्षा अनंतानंत) सब द्रव्य स्वभाव से अपने-अपने स्वभाव अर्थात् स्वरूप में सदा स्थित रहते हैं; वे सभी द्रव्य पर के द्वारा कभी अन्यथारूप नहीं किये जा सकते।

भावार्थ :– प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने स्वभाव में स्थित है – यह वस्तु-व्यवस्था का अटल नियम इस श्लोक में बताया है। यह वस्तुस्थिति यदि जीव समझ लें तो वह दुःखी कैसे हो सकता है? उसे कौन दुःखी कर सकता है? जीव का स्वभाव जानना है, अतः जीव हमेशा मात्र जानने का ही काम करेगा; अन्य किसी भी द्रव्य में परिवर्तन/फेरफार करने का उसका काम ही नहीं है। पुद्गलादि का भी अपना-अपना स्वभाव है। वे सर्व अपने-अपने स्वभाव में ही रहते हैं और जीव उनका जाननहार होने से उनको मात्र जानता है। धर्म प्रगट करने के लिए तो इतना ही समझना है और कुछ करना नहीं है।

प्रवचनसार गाथा ९८ की टीका में यह विषय आया है उसका अत्यावश्यक अंश निम्नप्रकार है **– वास्तव में द्रव्यों से द्रव्यांतर की उत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि सर्वद्रव्य स्वभावसिद्ध है। (उनकी)**

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्वभाव-सिद्धता तो उनकी अनादिनिधनता से है; क्योंकि अनादिनिधन साधनान्तर (अन्य साधन) की अपेक्षा नहीं रखता।''

आत्मा भी अपने स्वभाव में स्थित –

नान्यथा शक्यते कर्तुं मिलद्भिरिव निर्मलः।
आत्माकाशमिवामूर्तः परद्रव्यैरनश्वरः ॥५०३॥

अन्वय : – आकाशं इव निर्मलः अमूर्तः अनश्वरः आत्मा मिलद्भिः परद्रव्यैः इव अन्यथा कर्तुं न शक्यते।

सरलार्थ :– जिसप्रकार आकाशद्रव्य स्वभाव से निर्मल, अमूर्त तथा अविनश्वर है, वह उसमें अवगाहन प्राप्त करनेवाले जीवादि अनंतानंत परद्रव्यों के द्वारा अन्यथारूप नहीं किया जा सकता; उसी प्रकार स्वभाव से निर्मल, अमूर्तिक अविनश्वर आत्मा उसके एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध में आनेवाले अनंतानंत परद्रव्यों के द्वारा अन्यथारूप नहीं किया जा सकता – वह सदैव ज्ञानस्वभावी ही रहता है।

भावार्थ :– श्लोक क्रमांक ५०२ में ग्रंथकार ने जिनागम का सामान्य नियम बताया है कि सर्वद्रव्य अपने-अपने स्वभाव में ही रहते हैं और श्लोक ५०३ में उस सामान्य नियम को आत्मा पर लागू करके आत्मा भी अपने स्वभाव में स्थित रहता है, ऐसा कहकर आगम का मूल प्रयोजन अध्यात्म को बताया है। विषय को स्पष्ट करने के लिये आकाश का दृष्टान्त दिया है।

हम प्रत्यक्ष में भी देख सकते हैं कि आकाश में जलती हुई अग्नि कभी आकाश को जला नहीं सकती।

प्रश्न :– अग्नि अनेक पदार्थों का जलाती हुई हम प्रत्यक्ष में देखते हैं।

उत्तर :– भाई! आप थोड़ा शांत चित्त से विचार करो। आकाश के उदाहरण से विषय स्पष्ट न होता हो तो हम अभ्रक अथवा राख आपके हाथ में देते हैं। उसे आप आग में डालकर परीक्षा करो। अभ्रक अथवा राख नहीं जलेगा। जो पदार्थ स्वयं जलने योग्य है वही जलता है और अग्नि को उसमें निमित्त कहा जाता है। इससे यह विषय अति स्पष्ट है कि प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने स्वभाव में स्थित है, कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता। इसलिए आत्मा के संयोग में सभी द्रव्य आते हैं, तथापि आत्मा के स्वभाव को कोई द्रव्य अन्यथारूप न कर पाया है, न कर रहा है और न कर पायेगा। इस वस्तु स्वरूप को जानना और श्रद्धान करना अत्यावश्यक है।

देह और आत्मा की सकारण भिन्नता –

देहात्मनोः सदा भेदो भिन्नज्ञानोपलम्भतः।
इन्द्रियैर्ज्ञायते देहो नूनमात्मा स्वसंविदा ॥५०४॥

अन्वय : – भिन्नज्ञानोपलम्भतः देह-आत्मनोः सदा भेदः (भवति)। देहः इन्द्रियैः (ज्ञायते) आत्मा (च) नूनं स्वसंविदा (ज्ञायते)।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :– भिन्न-भिन्न ज्ञानों से उपलब्ध अर्थात् ज्ञात होने के कारण शरीर और आत्मा में सदा परस्पर भेद है। शरीर, इंद्रियों से अर्थात् इंद्रिय-निमित्तक मतिज्ञान से जाना जाता है और आत्मा निश्चय ही स्वसंवेदनज्ञान से जानने में आता है।

भावार्थ :– शरीर पुद्गल द्रव्य है और पुद्गलों में स्पर्श, रस, गंध और वर्ण ये चार गुण तथा इनकी पर्यायें होती हैं। शब्द भी पुद्गल की ही द्रव्य-पर्याय है। इन पुद्गलों के गुण-पर्यायों का ज्ञान नियम से इंद्रियों के निमित्त से ही होता है। इस कारण जिसका ज्ञान इंद्रियों के निमित्त से होता है, वह पुद्गल द्रव्य है; ऐसा निर्णय करना सहज है।

आत्मा में स्पर्शादि चार गुण एवं शब्दरूप पर्याय नहीं है। अतः आत्मा इंद्रिय के निमित्त से जानने में नहीं आता। आत्मा तो आत्मा से अर्थात् स्वसंवेदन ज्ञान से ही जानने में आता है। इसकारण देह और आत्मा में सदा से भिन्नता है, यह निश्चित है।

कर्म एवं जीव एक-दूसरे के गुणों के घातक नहीं –

न कर्म हन्ति जीवस्य न जीवः कर्मणो गुणान्।
वध्य-घातकभावोऽस्ति नान्योऽन्यं जीवकर्मणोः ।।५०५।।

अन्वय : – कर्म जीवस्य गुणान् न हन्ति। जीवः (च) कर्मणः (गुणान्) न (हन्ति)। जीवकर्मणोः अन्योऽन्यं वध्य-घातकभावः न अस्ति।

सरलार्थ :– ज्ञानावरणादि कर्म जीव के ज्ञानादि गुणों का घात/नाश नहीं करते और जीव कर्मरूप पुद्गल के स्पर्शादि गुणों का घात नहीं करता। ज्ञातास्वभावी जीव और स्पर्शादि गुणमय कर्म इन दोनों का परस्पर एक-दूसरे के साथ वध्य-घातक भाव नहीं है – अर्थात् दोनों स्वतंत्र हैं, एक-दूसरे के घातक नहीं हैं।

भावार्थ :– अनभ्यासी लोग तो कर्म को बलवान मानते ही है; परंतु आगमाभ्यासी लोग भी कर्म जीव को संसार में अनादि से भ्रमा रहा है, ऐसी मान्यता रखते हैं। इस मिथ्या मान्यता का नाश होना अति आवश्यक है। शास्त्र में व्यवहारनय से कहे हुए कर्म के नाम भी अज्ञानी को अज्ञान पोषण के लिये अनुकूल लगते हैं; जैसे ज्ञानावरण, दानान्तराय आदि।

प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। कोई किसी का कुछ बिगाड-सुधार नहीं करता – जिनागम का यह मूल विषय समझना चाहिए, इस श्लोक में यही बात स्पष्ट की है। जीव कर्म का घात करता है, ऐसा तो अज्ञानी नहीं मानता; लेकिन कर्म जीव के ज्ञानादि गुणों का घात करता है, यह मिथ्या मान्यता चलती है। इस मान्यता पर यह श्लोक कुठाराघात करता है।

निमित्त के अभाव में मोक्ष –

यदा प्रतिपरीणामं विद्यते न निमित्तता।
परस्परस्य विश्लेषस्तयोर्मोक्षस्तदा मतः ।।५०६।।

अन्वय : – यदा (जीवकर्मणोः) परस्परस्य परीणामं प्रति निमित्तता न विद्यते तदा तयोः (जीव-कर्मणोः परस्परस्य) विश्लेषः (जायते सः) मोक्षः मतः।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सरलार्थ :– जब जीव और कर्म के परस्पर में एक-दूसरे के प्रत्येक परिणाम/पर्याय के संबंध में निमित्तपना नहीं रहता अर्थात् निमित्तपना का अभाव हो जाता है, तब जीव और कर्म – दोनों का जो विश्लेष अर्थात् सर्वथा पृथक् हो जाना है, वह पृथक्पना ही मोक्ष है।

भावार्थ :– मोक्ष/मुक्ति अर्थात् परस्पर में निमित्त-नैमित्तिकरूप से जो जीव और कर्म का संबंध था, उसका अभाव। यहाँ मोक्ष मात्र जीव को ही होता है ऐसा नहीं, कर्मरूप पुद्गल भी जीव से सर्वथा भिन्न हो गया; इसलिए कर्म का भी मोक्ष हो गया। पहले मिथ्यात्वादि के कारण जीव को कर्म का बंध होता था। जब मिथ्यात्वादि का भूमिकानुसार अभाव होता जाता है, तदनुसार तत्-तत् संबंधी कर्मबंध होना रुक जाता है और पूर्वबद्ध कर्म धीरे-धीरे जीव से भिन्न होते रहते हैं – इसे कर्म की निर्जरा कहते हैं। निर्जरा होते-होते जीव की वीतरागता/शुद्धि बढ़ती जाती है और अन्त में जीव पूर्ण वीतराग/शुद्ध हो जाता है तथा कर्म भी जीव से भिन्न हो जाते हैं – इसे ही मोक्ष कहते हैं।

पहले ज्ञानावरणादि कर्मों का अभाव/नाश हो जाता है और बाद में जीव मुक्त होता है ऐसा नहीं अथवा पहले जीव मुक्त हो जाता है और बाद में कर्मों का नाश हो जाता है – ऐसा भी नहीं। कर्मों का नाश और जीव का मोक्ष – ये दोनों कार्य एक समय में हो जाते हैं।

कर्म का उदय और जीव का औदयिक भाव – इनमें भी समयभेद नहीं है, दोनों एक समय में होते हैं। जैसे अंधकार का जाना और प्रकाश का होना – दोनों एक ही समय में होते हैं; वैसे ही निमित्तरूप एक द्रव्य की पर्याय और नैमित्तिकरूप दूसरे द्रव्य की पर्याय – दोनों एक ही समय में होते हैं। छह द्रव्यों में कुछ द्रव्य निमित्तरूप हैं और कुछ नैमित्तिक रूप ऐसा नहीं है। कुंभकार के हाथों का हिलना कुंभ के बनने में निमित्त है और कुंभ का अलग-अलग आकार होते रहना हाथ के हिलने में निमित्त है। वैसे कर्मों का अभाव होना जीव के मुक्ति में निमित्त है और जीव का मुक्त होना अर्थात् परम शुद्धरूप परिणमन होना कर्मों के अभाव में निमित्त है।

जीव का पर्याय के साथ क्षणिक तादात्म्य संबंध –

येन येनैव भावेन युज्यते यन्त्रवाहकः।
तन्मयस्तत्र तत्रापि विश्वरूपो मणिर्यथा॥५०७॥

अन्वय : – यन्त्रवाहकः (जीवः) येन येन भावेन युज्यते तत्रापि तत्र तन्मयः एव (भवति) यथा विश्वरूपः मणिः।

सरलार्थ :– जिसप्रकार विश्वरूपधारी अर्थात् स्फटिकमणि उज्ज्वल है; इसलिए उसके नीचे जैसा डंक लगाते हैं वैसा ही स्फटिकमणि भासित होता है; उसीप्रकार देहरूपी यन्त्र को धारण करनेवाला जीव जिस-जिस भाव के साथ जुड़ता है, उस-उस भाव के साथ वहाँ वह तन्मय हो जाता है अर्थात् क्षणिक तादात्म्य-संबंधरूप हो जाता है।

भावार्थ :– प्रवचनसार गाथा ९ तथा उसकी आचार्य अमृतचंद्र एवं जयसेन रचित टीका को ही

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यहाँ ग्रंथकार ने मात्र एक ही श्लोक में देने का सफल प्रयास किया है। परमात्मप्रकाश अध्याय दूसरा दोहा १७३ एवं उसकी टीका में भी इसी विषय को बताया गया है। इसलिए पाठक दोनों ग्रंथों का जरूर अवलोकन करें।

उक्त दोनों ग्रंथों में तो मात्र द्रव्य परिणमन करता है यह बताया है और यहाँ ग्रंथकार ने तन्मय होने की बात कही है। यहाँ तन्मय होने का अर्थ नित्य तादात्म्य-संबंध न लेकर क्षणिक तादात्म्य-संबंध होता है, ऐसा समझना चाहिए।

आत्मभावना के अभ्यास की प्रेरणा –

तेनात्मभावनाभ्यासे स नियोज्यो विपश्चिता।
येनात्ममयतां याति निर्वृत्यापरभावतः ॥५०८॥

अन्वय : – येन अपरभावतः निर्वृत्य आत्ममयतां याति तेन विपश्चिता सः (आत्मा) आत्मभावनाभ्यासे नियोज्यः।

सरलार्थ :– चूँकि परभाव से निवृत्त होकर अर्थात् परभावों को छोड़कर ही आत्मा आत्मरूपता को प्राप्त होता है; इसलिए विद्वानों को यही योग्य है कि वे अपनी आत्मा को आत्मभावना में लगावें।

भावार्थ :– ग्रंथकार विद्वानों को आत्मभावना में संलग्न होने की प्रेरणा दे रहे हैं।

प्रश्न :– विद्वानों को ही क्यों प्रेरणा दे रहे हैं? अन्य सामान्य लोगों को प्रेरणा क्यों नहीं दी?

उत्तर :– जिसप्रकार वैद्य जिस मरीज पर उपचार सफल होगा, उसे ही औषधियाँ देते हैं, सलाह देते हैं, जो एकदम मरणासन्न है उसे नहीं। उसीप्रकार यहाँ ग्रंथकार भी जिसपर उपदेश कार्यकारी होवे उसे ही उपदेश देते हैं, अन्य अपात्रों को नहीं।

आत्मभावना आत्मा में तन्मयता की पूर्व भूमिका है। जिसे आत्मा की भावनारूप शुभोपयोग भी न हो उसे आत्ममग्नतारूप शुद्धोपयोग नहीं हो सकता। अशुभोपयोग से सीधा शुद्धोपयोग में गमन नहीं हो सकता। शुद्धोपयोग शुभोपयोगपूर्वक ही होता है, यह नियम है। इसलिए दिगंबर वीतरागी संत भी जब शुद्धोपयोग में स्थिर नहीं रह पाते हैं, तब शुभोपयोग का स्वीकार करते हैं और शुद्धोपयोग का प्रयास जारी रखते हैं। यहाँ यह भी नहीं समझना चाहिए कि शुभोपयोग शुद्धोपयोग का उत्पादक अर्थात् कर्त्ता है, मात्र इतना ही समझना चाहिए कि शुभोपयोग की भूमिका के बिना शुद्धोपयोग नहीं होता। इसलिए यहाँ ग्रंथकार परभावों को छोड़कर आत्मभावनारूप शुभोपयोग की प्रेरणा दे रहे हैं, जो निश्चयधर्म प्रगट करने के लिये उपयोगी सिद्ध हो सकता है; परंतु नियमरूप नहीं है।

निज भगवान आत्मा के आश्रय से धर्म प्रगट होगा – ऐसी श्रद्धा है और प्रयास भी तदनुसार चलता है, इसकारण शुभोपयोग हो ही जाता है और परभाव से निवृत्त होने का काम भी हठ के बिना होता है। इस सहज त्याग को ही परभाव से निवृत्त होना कहते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कर्ममल से रहित आत्मा निर्बंध –

युज्यते रजसा नात्मा भूयोऽपि विरजीकृतः।
पृथक्कृतं कुतः स्वर्णं पुनः किट्टेन युज्यते ॥५०९॥

अन्वय : – (यथा) किट्टेन पृथक्कृतं स्वर्णं पुनः (किट्टेन) कुतः युज्यते ? (तथा एव) रजसा विरजीकृतः आत्मा अपि भूयः (रजसा) न युज्यते।

सरलार्थ :– जिसप्रकार किट्ट कालिमारूप मल से भिन्न किया गया शुद्ध सुवर्ण फिर से किट्ट कालिमा से युक्त होकर अशुद्ध नहीं हो सकता; उसीप्रकार जो ज्ञानावरणादि आठों कर्मरूपी रज से रहित हुआ है, वह शुद्ध आत्मा भी फिर से कर्मों से युक्त नहीं होता अर्थात् बंधता नहीं है।

भावार्थ :– त्रिकाली शुद्ध ज्ञायकस्वभावी निज भगवान आत्मा में मग्नता करने का अलौकिक शुद्धोपयोगरूप पुरुषार्थ पुनः पुनः विशेषरूप से करते रहने से जो साधक आत्मा बंध के मिथ्यात्वादि कारणों का नाश करके पूर्वबद्ध कर्मों से भी रहित होकर सिद्ध परमात्मा हो गया है, वह कर्मबंध के कारणों के अभाव में फिर से ज्ञानावरणादि कर्मों से नहीं बंधता है।

जैसे दूध से दही, दही से मक्खन, मक्खन से घी तैयार हो जाने पर वह घी पुनः दूध आदिरूप नहीं हो सकता; वैसे सिद्ध परमात्मा फिर से संसारी नहीं होते। इसलिए जिनवाणी में कहीं भी भगवान ने अवतार लिया, ऐसा कथन नहीं मिलेगा। एक बार कर्मों से सर्वथा मुक्त हो जाने पर पुनः संसार में आने का कुछ कारण नहीं है। कारण के बिना कार्य न होने का स्वाभाविक नियम है।

उपादान कारण बिना कार्य नहीं होता –

दण्ड-चक्र-कुलालादि-सामग्रीसम्भवेऽपि नो।
संपद्यते यथा कुम्भो विनोपादानकारणम् ॥५१०॥
मनो-वचो-वपुःकर्म-सामग्रीसम्भवेऽपि नो।
संपद्यते तथा कर्म विनोपादानकारणम् ॥५११॥

अन्वय : – यथा दण्ड-चक्र-कुलालादि-सामग्रीसम्भवे अपि उपादानकारणं विना कुम्भः नो सम्पद्यते।

तथा मनःवचःवपुःकर्म-सामग्रीसम्भवे अपि उपादानकारणं विना कर्म न सम्पद्यते।

सरलार्थ :– जिसप्रकार दण्ड, चक्र और कुंभकार आदि निमित्तरूप अनेक प्रकार की कारण सामग्री का सद्भाव होनेपर भी मृत्पिण्डरूप उपादान कारण के बिना कुम्भ/घटरूप कार्य की उत्पत्ति नहीं होती।

उसीप्रकार मन-वचन-काय की क्रियारूप निमित्तकारण स्वरूप सामग्री का सद्भाव/अस्तित्व होने पर भी मिथ्यात्व, अविरति आदि कलुषतारूप उपादान कारण के बिना कर्म की उत्पत्ति नहीं होती।

भावार्थ :– उपादान-निमित्त के संबंध में जो निर्णय नहीं कर पाते उनको इस श्लोक में सर्वोत्तम

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

रीति से बोध दिया है। मनुष्य जीवन में साधक मुनिराज हो, व्रती श्रावक हो, सम्यग्दृष्टी हो अथवा कोई साधारण मनुष्य हो, वह जब-जब बात करेगा तो निमित्त को प्रधान करके करेगा। लोकव्यवहार ऐसा ही चलता है और चलेगा। यदि तात्त्विक निर्णय न हो तो वचन-व्यवहार जैसा होता है/चलता है वैसा ही वास्तविक स्वरूप भी मान लिया जाता है तो जीवन दुःखमय हो जाता है। अतः वस्तुस्वरूप का यथार्थ निर्णय करना चाहिए।

निमित्त से ही कार्य होता है – ऐसी धारणा तथा श्रद्धा हो तो परद्रव्यों के ही दोष देखने में आयेंगे। कभी सामनेवाले मनुष्य का दोष, कभी पुद्गल का दोष, कभी ज्ञानावरणादि कर्म की गलती, कभी काल ही प्रतिकूल है, कभी शरीर ही प्रतिकूल है, मैं क्या करूँ? कभी समझानेवाला ही नहीं मिला, हम कैसे ज्ञान करेंगे? इत्यादिरूप से दूसरों की ही कमी दिखाई देती है। परंतु जब कार्य उपादान से होता है, तब अन्य द्रव्य की पर्याय उपस्थित रहती है – ऐसा सम्यग्ज्ञान होने पर जीवन की दिशा बदलती है। जीवन की दिशा और दशा बदले – ऐसा उपदेश यहाँ ग्रंथकार उदाहरण सहित दे रहे हैं।

घटरूप कार्य में मिट्टी ही मूल है, जब मिट्टी में घटरूप परिणमन की पर्यायगत पात्रता हो तो वहाँ दण्ड, चक्र, कुम्भकार आदि अनुकूल निमित्तरूप संयोग मिल ही जाते हैं।

अनेक बार यह प्रत्यक्ष देखने में भी आता है कि दण्ड चक्र, कुम्भकार तो है और मिट्टी प्रतिकूल अर्थात् रेतीली हो तो घट नहीं बनता। जब मिट्टी अनुकूल हो तब दण्डादि सामग्री को निमित्त कहने का व्यवहार होता है।

जो द्रव्य कार्यरूप से परिणत होता है, उसे उपादान कहते हैं। जब कोई भी द्रव्य अपनी पात्रतानुसार कार्यरूप परिणत हो जाता है, उस समय अन्य परद्रव्य की अनुकूल पर्यायों को निमित्त कहते हैं; यह वस्तु की सहज अनादि से व्यवस्था है।

उपादान-निमित्त का यथार्थ ज्ञान करने के लिये पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट से प्रकाशित 'निमित्तोपादान' पुस्तक का अध्ययन जरूर करें, साथ ही 'मूल में भूल' पुस्तक को पढ़ना भी न भूलें।

कर्मबंध का उपादान कारण –

कालुष्यं कर्मणो ज्ञेयं सदोपादानकारणम्।
मृद्द्रव्यमिव कुम्भस्य जायमानस्य योगिभिः ॥५१२॥

अन्वय : – (यथा) जायमानस्य कुम्भस्य मृद्द्रव्यं इव कर्मणः उपादानकारणं कालुष्यं (अस्ति इति) योगिभिः सदा ज्ञेयम्।

सरलार्थ :– जिसप्रकार मिट्टी से उत्पन्न होनेवाले घट का उपादान कारण मिट्टीरूप पुद्गल द्रव्य है, उसीप्रकार ज्ञानावरणादि कर्म का उपादान कारण मिथ्यात्व-अविरति आदिरूप कलुषता है; यह विषय योगियों को सदा जानना चाहिए।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– कर्मबंध का उपादान कारण कलुषता बताया गया है तथा यह भी स्पष्ट किया है कि मन-वचन-काय की क्रियारूप निमित्तस्वरूप सामग्री होने पर भी कलुषता के अभाव में कर्म-बंधरूप कार्य नहीं होता।

समयसार शास्त्र के बंधाधिकार में २३७ से २४६ तक इन दस गाथाओं में, इनकी टीका में और १६४ आदि अनेक कलशरूप काव्यों में कर्मबंध का मूल रागपरिणाम को ही बताया है। इन सबका अतिशय संक्षेप में यहाँ ग्रंथकार ने कथन किया है। समयसार में जिसे णेहभाव तथा रागादि भाव कहा है, उसे इस श्लोक में कालुष्य शब्द से अभिहित किया है। समयसार नाटक के बंधाधिकार में भी यह सब कथन आया है। इन सबको देखना पाठकों के लिये उपयोगी होगा।

यहाँ हम समयसार के कलश १६४ का अनुवाद दे रहे हैं – "**कर्मबंध को करनेवाला कारण न तो बहु कर्मयोग्य पुद्गलों से भरा हुआ लोक है, न चलनस्वरूप कर्म (अर्थात् मन-वचन-काय की क्रियारूप योग) है, न अनेक प्रकार के करण (इन्द्रियाँ) हैं और न चेतन-अचेतन का घात है; किन्तु उपयोगभू अर्थात् आत्मा रागादि के साथ जो ऐक्य को प्राप्त होता है वही एकमात्र (मात्र रागादि के साथ एकत्व प्राप्त करना वही) वास्तव में पुरुषों के बंधकारण है।**"

जीव कषायादिरूप नहीं होता –

यथा कुम्भमयो जातु कुम्भकारो न जायते।
सहकारितया कुम्भं कुर्वाणोऽपि कथंचन।।५१३।।
कषायादिमयो जीवो जायते न कदाचन।
कुर्वाणोऽपि कषायादीन् सहकारितया तथा।।५१४।।

अन्वय : – यथा सहकारितया कुम्भं कुर्वाण: अपि कुम्भकार: कथंचन कुम्भमय: जातु न जायते;

तथा सहकारितया कषायादीन् कुर्वाण: अपि जीव: कदाचन कषायादिमय: न जायते।

सरलार्थ :– जिसप्रकार सहकारिता के रूप में अर्थात् निमित्त की अपेक्षा से कुंभ को करता हुआ कुंभकार कभी कुंभरूप नहीं होता, कुंभकार ही रहता है।

उसीप्रकार सहकारिता के रूप में अर्थात् निमित्त की अपेक्षा से क्रोधादि कषायें करता हुआ भी यह जीव कभी क्रोधादि कषायरूप नहीं होता, जीव ही रहता है।

भावार्थ :– कोई यह शंका करे कि क्रोधादि कषायों को करता हुआ जीव कषायादिमय हो जाता है। कषाय ही जीव का स्वभाव बन जाता है, तो फिर जीव कषाय से रहित कैसे हो पायेगा? इस शंका का समाधान ही इन दो श्लोकों में ग्रंथकार ने किया है।

जिसतरह कुंभकार जीवन में कितने भी कुंभों को करे तो भी वह कुंभकार अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता हुआ इस दुनियाँ में प्रत्यक्ष देखा जाता है। उसीतरह जीव क्रोधादि कषाय करता है ऐसा व्यवहारनय से अथवा अशुद्ध निश्चयनय से जिनवाणी में कितना भी कथन आवे तो भी जीव

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कभी अपने ज्ञाता स्वभाव को छोड़कर क्रोधादिस्वभावमय नहीं होता; क्योंकि स्वभाव का अभाव होना अशक्य है।

कर्मोदय के निमित्त से और अनादि कषायरहित अपनी शुद्धस्वभाव का स्वीकार न करने से जीव की पर्याय में क्रोधादि कषायें उत्पन्न होती हुई देखी जाती हैं; तथापि जब जीव अपने त्रिकाली स्वभाव का ज्ञान-श्रद्धान करता है, तब पहले तो विपरीत मान्यतारूप मिथ्यात्व छूटता है। तदनंतर स्वभाव के यथार्थ श्रद्धान के साथ अपनी आत्ममग्नता – शुद्धोपयोगरूप पुरुषार्थपूर्वक क्रम-क्रम से कषायें भी छूट जाती हैं।

अग्नि के निमित्त से पानी कितना भी गरम हो; तथापि वही गरम पानी अग्नि के अभाव में स्वयं स्वभाव से शीतल होता है, उसीप्रकार जीव अज्ञानवश कषायरूप परिणत होता आया है; लेकिन जब स्वरूप का भान होता है अर्थात् आत्मस्वभाव का ज्ञान होता है तो क्रोधादि अज्ञानरूप परिणति सहज छूट जाती है।

इसी अध्याय के श्लोक क्रमांक ५०२ व ५०३ में सब द्रव्य एवं आत्मा भी सदा अपने स्वभाव में स्थित रहते हैं, ऐसा कहा है। अतः जीव का स्वभाव कभी कषायादिरूप नहीं होता, यह बात सत्य है।

कर्ता जीव निराकर्ता बनता है –

यः कर्म मन्यते कर्माकर्म वाकर्म सर्वथा।
स सर्वकर्मणां कर्ता निराकर्ता च जायते ॥५१५॥

अन्वय : – यः (जीवः) कर्म सर्वथा कर्म मन्यते वा अकर्म (सर्वथा) अकर्म (मन्यते); सः (जीवः) सर्वकर्मणां कर्ता (भवन् अपि) निराकर्ता च जायते।

सरलार्थ :– जो कर्म को सर्वथा कर्म के रूप में और अकर्म को सर्वथा अकर्म के रूप में मानता है, वह सर्व कर्मों का कर्ता होते हुए भी (एक दिन) उन कर्मों का निराकर्ता अर्थात् अकर्ता (ज्ञाता) होता है।

भावार्थ :– जो जीव क्रोधादि भावकर्मों को एवं ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों को वे जैसे हैं, वैसे ही वास्तविक यथार्थरूप से जड़-अचेतन कर्म ही मानता है। उसीतरह इन भाव-द्रव्यकर्मों से रहित जो जीवादि अकर्मरूप पदार्थ हैं, उनको भी उनके स्वरूप के अनुसार यथार्थरूप से अकर्म ही मानता है – अन्यथा नहीं मानता। वह जीव अपने पूर्व जीवन में अज्ञान से सर्व कर्मों का कर्ता होते हुए भी एक दिन उनका निराकर्ता अर्थात् कर्तापने को छोड़नेवाला अकर्ता या ज्ञाता हो जाता है, मोक्षमार्गी हो जाता है। अज्ञानी जीव ही ज्ञानी बन जाता है, अधार्मिक जीव ही धार्मिक बन जाता है, मोक्षमार्ग का विराधक जीव ही मोक्षमार्ग का साधक बन जाता है। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि अबतक जो सिद्ध हो गये हैं, वे सभी भूतकाल में संसारी थे तथा अब जो संसारी हैं उनमें से अनेक संसारी जीव

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मोक्षमार्ग की साधना करके सिद्ध बननेवाले हैं। इस महान कार्य के लिये वस्तु-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान करना अत्यावश्यक है।

अज्ञानी जीव जिसका कर्ता नहीं है, उसका अपने को कर्ता मानकर मिथ्यात्व को पुष्ट करता है। यह मिथ्यात्व ही संसार का मूल है, उसका नाश करना हो तो वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान करके अपने को मात्र अपने ज्ञानभाव का कर्ता समझना चाहिए। कर्म-अकर्म का जीव कर्ता नहीं है; इसलिए निराकर्ता बनकर अर्थात् उनका कर्तापन छोड़कर ज्ञाता बनकर मोक्षमार्गी हो जाना ही इस मनुष्य भव की सार्थकता है।

अनासक्त ज्ञानी विषयभोगों से निर्बंध –

विषयैर्विषयस्थोऽपि निरासङ्गो न लिप्यते।
कर्दमस्थो विशुद्धात्मा स्फटिकः कर्दमैरिव ॥५१६॥

अन्वय : – कर्दमस्थः विशुद्धात्मा स्फटिकः कर्दमैः (न लिप्यते) इव निरासङ्गः विषयस्थः अपि (विशुद्धात्मा) विषयैः न लिप्यते।

सरलार्थ :– जिसप्रकार कीचड़ में पड़ा हुआ विशुद्ध स्फटिकमणी कीचड़ से लिप्त नहीं होता अर्थात् अपने निर्मल स्वभाव को नहीं छोड़ता-निर्मल ही रहता है। उसीप्रकार जो ज्ञानी जीव निःसंग अर्थात् अनासक्त रहता है, वह ज्ञानी स्पर्शनादि पाँचों इंद्रियों के स्पर्शादि विषयों को भोगता हुआ भी विषयजन्य पाप से नहीं बंधता – निर्बंध ही रहता है।

भावार्थ :– इस श्लोक में सम्यक्त्व का माहात्म्य बताया है। ज्ञानी जीव की श्रद्धा यथार्थ हो गयी है; इसलिए भूमिका के योग्य भोगों को अरुचि से भोगते हुए भी उसका संसार नहीं बढ़ता।

इसी आशय का भाव समयसार कलश १४९ में निम्न शब्दों में स्पष्ट किया है – ''क्योंकि ज्ञानी निजरस से ही सर्व रागरस के त्यागरूप स्वभाववाला है; इसलिए वह कर्मों के बीच पड़ा हुआ भी सर्व कर्मों से लिप्त नहीं होता।''

ज्ञानी निर्बंध रहता है, यह जानकर कोई स्वच्छंद हो जाये तो उसका निषेध भी समयसार कलश १६६ में अति मार्मिक शब्दों में किया है।

भेदज्ञान का माहात्म्य –

देहचेतनयोर्भेदो दृश्यते येन तत्त्वतः।
न सङ्गो जायते तस्य विषयेषु कदाचन ॥५१७॥

अन्वय : – येन (जीवेन) तत्त्वतः देहचेतनयोः भेदः दृश्यते, तस्य विषयेषु कदाचन सङ्गः न जायते।

सरलार्थ :– जिस जीव ने अनित्य एवं अचेतन देह और सुखस्वभावी एवं चेतन आत्मा में भेद तत्त्वतः अर्थात् वास्तविक रीति से देख/जान लिया है – अनुभव में लिया है, उस जीव का पंचेंद्रियों के स्पर्शादि विषयों में संग अर्थात् आसक्तभाव कभी भी नहीं होता – विरक्तभाव ही रहता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– पिछले श्लोक में ज्ञानी के निरासंग/अनासक्त/निर्मम भाव को बताया है। इस श्लोक में उस ही निरासंग का स्वरूप ग्रंथकार ने कहा है। इस श्लोकगत अनासक्त भाव को समयसार कलश १३५ में विरागता शब्द से स्पष्ट किया है। उस कलश का अर्थ निम्नप्रकार है – ''क्योंकि यह ज्ञानी पुरुष विषय सेवन करता हुआ भी ज्ञानवैभव और विरागता के बल से विषयसेवन के निजफल को (रंजित परिणामों को) नहीं भोगता-प्राप्त नहीं होता; इसलिए यह पुरुष सेवक होने पर भी असेवक है (अर्थात् विषय का सेवन करता हुआ भी सेवन नहीं करता)।

जीव के भाव एवं उनका कार्य –

भावः शुभोऽशुभः शुद्धस्त्रेधा जीवस्य जायते।
यतः पुण्यस्य पापस्य निर्वृतेरस्ति कारणम्।।५१८।।

अन्वय : – जीवस्य भावः त्रेधा जायते शुभः अशुभः शुद्धः (च इति)। यतः (शुभभावः) पुण्यस्य (अशुभभावः) पापस्य (शुद्धभावः च) निर्वृतेः कारणं अस्ति।

सरलार्थ :– अनेक जीवों की अपेक्षा से जीव के भाव तीन प्रकार के होते हैं – एक शुभ, दूसरा अशुभ और तीसरा शुद्ध। इनमें से शुभभाव पुण्य का कारण है, अशुभभाव पाप का और शुद्धभाव निर्वृति अर्थात् मोक्ष का कारण है।

भावार्थ :– शुभ एवं अशुभ भावों का होना कुछ अभूतपूर्व कार्य नहीं है। अनादिकाल से भव्य तथा अभव्य जीवों को शुभाशुभभाव सहज ही चले आ रहे हैं। शुभभावों से पुण्यकर्म का बंध और अशुभभावों से पापकर्म का बंध भी संसारस्थ सर्व जीवों को हो ही रहा है; क्योंकि वे उनसे श्रुत-परिचित एवं अनुभूत हैं। इसकारण शुभाशुभ परिणाम करने के लिए देशना की क्या आवश्यकता है?

अब रही बात शुद्धभाव की। शुद्धभाव नियम से भव्य जीवों को ही होता है – अभव्यों को नहीं। भव्य जीवों में भी सबको नहीं, जो भव्य होने पर भी पर्यायगत पात्रता की अपेक्षा से जो दूरानदूर भव्य अर्थात् अभव्यसम भव्य हैं, उन्हें भी कभी शुद्धभाव नहीं होता। जिन जीवों को शुद्ध भाव हो सकता है, उन्हें ही शुद्धभाव करने का उपदेश ज्ञानी जीव देते हैं; क्योंकि शुद्धभाव ही निर्वृत्ति अर्थात् मोक्ष का कारण है।

मोक्ष के उपाय का उपदेश –

ततः शुभाशुभौ हित्वा शुद्धं भावमधिष्ठितः।
निर्वृतो जायते योगी कर्मागमनिवर्तकः।।५१९।।

अन्वय : – ततः कर्मागमनिवर्तकः योगी शुभाशुभौ (भावौ) हित्वा शुद्धं भावं अधिष्ठितः निर्वृतः जायते।

सरलार्थ :– इस कारण जो योगी कर्मों के आस्रव का निरोधक है, वह शुभ-अशुभ भावों को छोड़कर शुद्धभाव/वीतराग भाव में अधिष्ठित अर्थात् विराजमान होता हुआ मुक्ति को प्राप्त होता है।

भावार्थ :– इस श्लोक में मुक्ति की प्राप्ति का वास्तविक उपाय एक शुद्ध भाव ही है, यह

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

समझाया है। अज्ञानी जीव अनादि से मात्र अशुभ भाव में रस लेता है। कदाचित् कभी शुभभाव में धर्म मानकर जीवन पुण्यमय बनाते हुए स्वर्गादि शुभ गति को भी प्राप्त करता है।

शुद्धभाव/वीतरागता ही मोक्षमार्ग है/धर्म है – ऐसा उपदेश संसार में कहीं-कहीं अति दुर्लभता से मिलता है। वास्तविक उपदेश को ग्रहण कर जो जीवन में शुद्धभाव व्यक्त करता है, वह सम्यग्दृष्टि/ज्ञानी होता है। तदनंतर त्रिकाली शुद्ध निज भगवान आत्मा के ध्यान से अर्थात् शुद्धोपयोग से अपने शुद्धभाव में वृद्धि करता है। इसी समय जीवन में अणुव्रत, महाव्रतरूप शुभभाव भी यथार्थ हो जाते हैं, इसी अवस्था को श्रावक, मुनि कहा जाता है। महाव्रती मुनिराज उग्र पुरुषार्थपूर्वक शुद्धभाव से अपूर्वकरणादि गुणस्थानों में आरोहण करते हुए पूर्ण वीतरागता प्रगट करके सकल परमात्मा बनते हैं। तदनंतर आयुकर्म के अनुसार सकल परमात्मा का जीवन पूर्ण कर निकल परमात्मरूप सिद्धदशा सहित लोक के अग्रभाग में विराजमान होते हैं; यही मुक्ति अर्थात् मोक्ष है।

उत्कृष्ट योगी का स्वरूप –

विनिवृत्यार्थतश्चित्तं विधायात्मनि निश्चलम् ।
न किञ्चिच्चिन्तयेद्योगी निरस्ताखिलकल्मषः ।।५२०।।

अन्वय : – निरस्ताखिलकल्मषः योगी चित्तं अर्थतः विनिवृत्य आत्मनि निश्चलं विधाय न किञ्चित् चिन्तयेत्।

सरलार्थ :– जिस योगी ने मिथ्यात्व, क्रोधादि कषायरूप कल्मष का पूर्ण नाश किया है, वह चित्त को सब ज्ञेयरूप पदार्थों से हटाकर मात्र निज भगवान आत्मा में निश्चल/स्थिर करता है, आत्मा को छोड़कर किसी का किंचित भी चिंतन/ध्यान नहीं करता। – (वही उत्कृष्ट योगी है।)

भावार्थ :– इस श्लोक में क्षीणमोह मुनिराज का स्वरूप बताया है; क्योंकि इस बारहवें गुणस्थान में मिथ्यात्व, कषाय, नोकषायरूप कल्मष का संपूर्ण अभाव रहता है और ये सर्वोत्तम-योगी एक अंतर्मुहूर्त के बाद ही केवलज्ञानी होनेवाले हैं। अतः ये योगीराज निज भगवान आत्मा को छोड़कर अन्य किसी का भी ध्यान नहीं करते। अब अन्य किसी भी ज्ञेय पदार्थों का उन्हें आकर्षण ही नहीं रहा, वे परमात्मा होने की पूर्व भूमिका में प्रविष्ट हो चुके हैं।

इंद्रिय-विषयासक्त जीव का स्वरूप –

स्वार्थ-व्यावर्तिताक्षोऽपि विषयेषु दृढ-स्मृतिः।
सदास्ति दुःस्थितो दीनो लोक-द्वय-विलोपकः ।।५२१।।

अन्वय : – (यः) स्वार्थ-व्यावर्तिताक्षः अपि विषयेषु दृढ-स्मृतिः (सः) सदा दुःस्थितः, दीनः (च) लोक-द्वय-विलोपकः अस्ति।

सरलार्थ :– जो जीव अपने स्पर्शनेंद्रियादि को उनके स्पर्शादि विषयों से (क्षेत्र की अपेक्षा से) अलग रखता है अर्थात् प्रत्यक्ष में इंद्रियों से विषयों को भोगता नहीं है; तथापि इंद्रियों के विषयों का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

बराबर सतत स्मरण करता रहता है, वह अज्ञानी सदा दुःखी एवं दीन रहता है और अपने इस जन्म को तथा अगले भवों को भी बिगाड़ता है।

भावार्थ :– बाह्य त्याग से जीव का कल्याण नहीं होता, भेदज्ञानपूर्वक यथार्थ श्रद्धा से त्याग करना ही कार्यकारी है। अनादिकाल से अज्ञानी बाह्य त्याग करके अनंत बार द्रव्यलिंगी मुनि होकर भी संसार का नेता ही बना रहा, लेकिन उसे सच्चा सुख प्राप्त नहीं हुआ। इसलिए वस्तुस्वरूप का सच्चा ज्ञान-श्रद्धान करना आवश्यक है। यथार्थ श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक ही बाह्यत्याग मोक्षमार्ग में उपयोगी होता है।

भोग के संदर्भ में अज्ञानी-ज्ञानी का स्वरूप –

भोगं कश्चिदभुञ्जानो भोगार्थं कुरुते क्रियाम्।
भोगमन्यस्तु भुञ्जानो भोगच्छेदाय शुद्धधीः ।।५२२।।

अन्वय : – कश्चित् भोगं अभुञ्जानः (अपि) भोगार्थं क्रियां कुरुते, अन्यः शुद्धधीः तु भोगं भुञ्जानः (अपि) भोगच्छेदाय (क्रियां कुरुते)।

सरलार्थ :– कोई अज्ञानी पूर्वबद्ध पापोदय के कारण भोग्यवस्तु प्राप्त न होने से भोग को प्रत्यक्ष में न भोगता हुआ भी पंचेंद्रियों के भोग भोगने के लिये क्रिया अर्थात् प्रयास करता है। दूसरा कोई शुद्धबुद्धिधारक तत्त्वज्ञानी अपने पूर्वबद्ध पुण्योदय से प्राप्त पंचेन्द्रिय-भोगों को अनासक्त बुद्धि से भोगता हुआ भी संसार के छेद का प्रयत्न करता है।

भावार्थ :– ग्रंथकार परिणामों की विचित्रता बताते हैं। भावना 'भवनाशिनी' यह विषय परम सत्य है। मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ के सातवें अधिकार में आस्रवतत्त्व के अन्यथारूप में एक वाक्य अति महत्त्वपूर्ण आया है – "**हिंसा में प्रमाद परिणति मूल है और विषयसेवन में अभिलाषा मूल है।**" आगे निर्जरातत्त्व के अन्यथारूप में निरूपित यह वाक्य भी बहुत महत्त्वपूर्ण है – "**इसलिए बाह्य प्रवृत्ति के अनुसार निर्जरा नहीं है, अंतरंग कषायशक्ति घटने से विशुद्धता होनेपर निर्जरा होती है।**" पाठक मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ का सातवाँ अध्याय जरूर देखें।

विरक्त त्यागी का स्वरूप –

स्वार्थ-व्यावर्तिताक्षोऽपि निरुद्धविषय-स्मृतिः।
सर्वदा सुस्थितो जीवः परत्रेह च जायते।।५२३।।

अन्वय : – (यः जीवः) स्वार्थ-व्यावर्तिताक्षः निरुद्धविषय-स्मृतिः अपि (सः) जीवः इह च परत्र सर्वदा सुस्थितः जायते।

सरलार्थ :– जो ज्ञानी जीव अपने स्पर्शनेंद्रियादि को उनके स्पर्शादि विषयों से (क्षेत्र की अपेक्षा से) अलग/भिन्न रखता है अर्थात् प्रत्यक्ष में इंद्रियों से विषयों को भोगता नहीं है और स्पर्शादि विषयों का स्मरण भी नहीं करता अर्थात् पहले भोगे गये भोगों का कभी स्मरण नहीं करता एवं न उन्हें फिर से भोगने की इच्छा ही करता है – वह ज्ञानी जीव इस भव में तथा परभव में भी सदा सुखी रहता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– द्रव्य एवं भाव से इंद्रिय-विषयों का त्याग करने पर वीतराग स्वरूप सच्चा धर्म प्रगट होता है और जीव हमेशा के लिये सुखी होता है। इसीतरह जो साधक २८ मूलगुणरूप मुनि का द्रव्यलिंगपना एवं तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक भावलिंगपना प्रगट करते हैं तो वे हमेशा के लिये सिद्ध बनकर अनंत-अव्याबाध सुखरूप हो जाते हैं।

भोग के सन्दर्भ में रागी एवं विरागी का स्वरूप –

रागी भोगमभुञ्जानो बध्यते कर्मभिः स्फुटम्।
विरागः कर्मभिर्भोगं भुञ्जानोऽपि न बध्यते।।५२४।।

अन्वय : – रागी भोगं अभुञ्जानः (अपि) कर्मभिः बध्यते; (च) विरागः भोगं भुञ्जानः अपि कर्मभिः न बध्यते (एतत् तु) स्फुटं (अस्ति)।

सरलार्थ :– जो मिथ्यात्व-अनंतानुबंधी सहित रागी जीव है वह अज्ञानी भोग को न भोगता हुआ भी सदा ज्ञानावरणादि आठों कर्मों से बंधता है और जो मिथ्यात्व-अनंतानुबंधी कषाय रहित किंचित्/अल्प वीतरागी है, वह ज्ञानी श्रावक भोग को भोगता हुआ भी ज्ञानावरणादि आठों कर्मों से नहीं बंधता, यह सुनिश्चित है।

भावार्थ :– अध्यात्मशास्त्रों में मिथ्यात्व तथा अनंतानुबंधी कषाय से होनेवाले कर्मों के बंध को ही मुख्यरूप से बन्ध माना जाता है, अन्य मोह परिणामों से होनेवाला कर्मबंध अनंत संसार का कारण न होने से उसे बंध ही नहीं माना जाता। इस विवक्षा को ध्यान में रखते हुए इस श्लोक का अर्थ समझना चाहिए।

पूर्ण वीतरागी को तो बंध होता ही नहीं। जो श्रावक एक या दो कषाय चौकड़ी के अभाव से अल्प वीतरागी हो गये हैं और पूर्व पुण्योदय से सहज प्राप्त न्याय भोगों को भोगते हैं तो उन्हें भी बंध नहीं होता, ऐसा यहाँ कहना है।

प्रश्न :– आपने श्रावक को लिया, भोग भोगते हुए मुनिराज को क्यों नहीं लिया?

उत्तर :– भोग भोगने का कार्य मुख्यता से श्रावक के जीवन में ही होता है; मुनिराज के जीवन में भोग का अभाव ही होता है; इसलिए हमने भोग भोगते हुए श्रावक को लिया है। यहाँ भोग का अर्थ पाँचों इंद्रियों के विषयों को लेना है, मात्र स्पर्शजन्य भोग की बात नहीं, जिसका मुनि जीवन में अभाव ही वर्तता है।

स्पर्शादि विषयों को जानने से कर्मबंध नहीं –

विषयं पञ्चधा ज्ञानी बुध्यमानो न बध्यते।
त्रिलोकं केवली किं न जानानो बध्यतेऽन्यथा।।५२५।।

अन्वय : – ज्ञानी पञ्चधा विषयं बुध्यमानः (अपि) न बध्यते, अन्यथा त्रिलोकं जानानः केवली किं न बध्यते?

सरलार्थ :– ज्ञानी पाँच प्रकार के इन्द्रिय विषयों (स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्द) को जानते हुए

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भी कर्मबन्ध को प्राप्त नहीं होते। (यदि विषयों को जानने से ज्ञानी बन्ध को प्राप्त हो तो) तीन लोक को जाननेवाले केवली भगवान क्या बन्ध को प्राप्त नहीं होंगे? (अवश्य बन्धेंगे, किन्तु वे तो नहीं बन्धते हैं, अतः ज्ञानी भी विषयों को जानते हुए बन्धते नहीं हैं – इसमें क्या आश्चर्य है ?)।

भावार्थ :– श्लोक क्रमांक ५२१ में विषय-स्मृति से कर्मबंध होता है; इस विषय को सुनकर स्मृति/स्मरण भी ज्ञान का एक भेद है और वह ज्ञान बंध का कारण हो सकता है – ऐसा नहीं समझना चाहिए। यदि ज्ञान से कर्मबंध मानेंगे तो केवलज्ञानी को भी बंध मानना पड़ेगा, अतः इंद्रिय-विषयों को जानने मात्र से बंध नहीं होता है।

कर्मबंध का कारण मात्र मोह परिणाम ही है, और दूसरा कोई नहीं। जहाँ विषयों में दृढ़स्मृति को बंध का कारण कहा है, उसमें मोह परिणाम मूलक ज्ञान ही समझना। अतः मोह परिणाम ही बंध का कारण है, ज्ञान नहीं; यह यथार्थ वस्तुस्वरूप है।

मिथ्यात्व ही कर्मबंध में प्रमुख कारण है, विषय-ग्रहण नहीं –

विमूढो नूनमक्षार्थमगृह्णानोऽपि बध्यते।
एकाक्षाद्या निबध्यन्ते विषयाग्रहिणो न किम्॥५२६॥

अन्वय : – विमूढः (जीवः) नूनं अक्षार्थं अगृह्णानः अपि बध्यते; (यथा) एकाक्षाद्याः विषय-अग्रहिणः किं न निबध्यन्ते? (निबध्यन्ते एव)।

सरलार्थ :– विमूढ़ अर्थात् मिथ्यादृष्टि महाअज्ञानी जीव निश्चय से इंद्रिय-विषयों को ग्रहण न करते हुए भी ज्ञानावरणादि कर्मबंध को प्राप्त होते हैं। क्या एकेंद्रियादि जीव रसादि चार विषयों को ग्रहण न करते हुए भी ज्ञानावरणादि आठों कर्मों के बंध को प्राप्त नहीं होते हैं? (अर्थात् अवश्य प्राप्त होते हैं।)

भावार्थ :– कर्मबंध होने में कारण तो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग हैं। इन कारणों की उपस्थिति हो तो कर्मबंध होने का नियम है। जो जीव स्पर्शादि विषयों को पूर्ण या अपूर्ण ग्रहण करेगा तदनुसार कर्मबंध का नियम नहीं है।

यदि स्पर्शादि विषय-ग्रहण की अपेक्षा से कर्मबंध का नियम माना जाय तो एकेंद्रिय जीव तो मात्र एक स्पर्शरूप विषय को ग्रहण करता है, शेष रसनेंद्रियादि के अभाव से रसादि विषयों को जानता ही नहीं; तथापि एकेंद्रिय जीव को ज्ञानावरणादि आठों कर्मों का बंध होता है। इसकारण इंद्रियों से विषय-ग्रहण के अनुसार कर्मबंध नहीं होता, कर्मबंध के कारण तो मिथ्यात्वादि परिणाम हैं।

स्पर्शादि विषयों के अधिक ग्रहण से अधिक बंध माना जाय तो चक्रवर्ती को अधिक बंध होना अनिवार्य हो जायेगा। चक्रवर्ती के इन्द्रियों का उत्कृष्ट विषय स्पर्शन-रसना व घ्राणेन्द्रिय का नौ-नौ योजन, कर्णेन्द्रिय का बारह योजन और चक्षुरिन्द्रिय का ४७,२६३ योजन से कुछ अधिक है। इतनी अधिक विषय की शक्ति होने से चक्रवर्ती को अधिक बन्ध होना चाहिए; लेकिन ऐसा है नहीं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अतः त्रिकाली भगवान आत्मा का आश्रय करके मिथ्यात्वादि के नाशपूर्वक सम्यग्दृष्टि होना ही एकमात्र कर्मबंध टालने का उपाय है।

वीतरागभाव ही धर्म है –

राग-द्वेष-निवृत्तस्य प्रत्याख्यानादिकं वृथा।
राग-द्वेष-प्रवृत्तस्य प्रत्याख्यानादिकं वृथा।।५२७।।

अन्वय : – राग-द्वेष-निवृत्तस्य (साधकस्य) प्रत्याख्यानादिकं वृथा (भवति)। च राग-द्वेष-प्रवृत्तस्य (असाधकस्य) प्रत्याख्यानादिकं वृथा (भवति)।

सरलार्थ :– जो साधक मुनिराज राग-द्वेष से रहित हैं, उनके प्रत्याख्यानादिक षट्कर्म व्यर्थ अर्थात् कुछ काम के नहीं हैं और जो मुनिराज राग-द्वेषादि विभाव भावों में प्रवृत्त हैं, उनके भी प्रत्याख्यानादिक षट्कर्म व्यर्थ अर्थात् कुछ काम के नहीं है।

भावार्थ :– यहाँ राग-द्वेष से रहित मुनिराज को क्षीणमोही गुणस्थानवर्ती जानना और जो राग-द्वेष में प्रवृत्त हैं उनको मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनिराज समझना चाहिए। जिनधर्म में वीतराग भाव धर्म है और रागभाव अधर्म है। जो कुछ व्रतादि अथवा प्रत्याख्यानादिक बाह्य क्रियाएँ बताई जाती हैं वे सर्व मात्र वीतरागभाव की उत्पत्ति, वृद्धि अथवा पूर्णता के लिये होती हैं। यदि वीतरागता प्रगट हो चुकी हो तो फिर प्रत्याख्यानादि किसलिये करें? उनका प्रयोजन ही नहीं रहा।

यदि नामधारी साधक राग-द्वेष में प्रवृत्त ही हो रहा हो, तो प्रत्याख्यानादि षट्क्रिया का मूल प्रयोजन सफल न होने से वे व्यर्थ ही हैं। अतः वीतरागभाव के लिये प्रयास करना ही साधक का कर्त्तव्य है।

प्रत्याख्यानादि से रहित मुनिराज का स्वरूप –

सर्वत्र यः सदोदास्ते न च द्वेष्टि न रज्यते।
प्रत्याख्यानादतिक्रान्तः स दोषाणामशेषतः।।५२८।।

अन्वय : – यः (योगी कुत्रापि) न रज्यते न च द्वेष्टि सर्वत्र सदा उदास्ते, सः (योगी) दोषाणां अशेषतः प्रत्याख्यानात् अतिक्रान्तः (अस्ति)।

सरलार्थ :– जो योगी किसी भी वस्तु में राग नहीं करते, द्वेष भी नहीं करते और सर्वत्र उदासीनभाव से रहते हैं; वे मुनिराज दोषों के प्रत्याख्यान के कारण कर्म से पूर्णतः मुक्त हैं।

भावार्थ :– यहाँ इस श्लोक में शुद्धोपयोगी क्षीणमोही मुनिराज का कथन किया है।

प्रश्न :– आप क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती मुनिराज का कथन क्यों समझते हो? अप्रमत्त विरत सप्तम गुणस्थान से लेकर क्षीणमोही पर्यंत सर्व मुनिराजों का कथन है, ऐसा समझने में क्या आपत्ति है?

उत्तर :– अप्रमत्तविरत से लेकर सूक्ष्मसांपराय नामक दसवें गुणस्थान पर्यंत मुनिराज राग-द्वेष से रहित नहीं हो सकते; क्योंकि इन चारों गुणस्थानों में यथायोग्य मोह का उदय होने से वे शुद्धोपयोगी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होने पर भी उन्हें अबुद्धिपूर्वक राग-द्वेष होते रहते हैं। ये मुनिराज राग-द्वेष के कारण कथंचित् दुःखी भी हैं। क्षीणमोही गुणस्थानवर्ती मुनिराज ही राग-द्वेष से रहित होने से पूर्ण वीतरागी हैं। अतः उन्हें प्रत्याख्यान कर्म की आवश्यकता नहीं रहती। उपशांतमोही मुनिराज भी एक अंतर्मुहूर्त कालपर्यंत प्रत्याख्यानकर्म से मुक्त रहते हैं; क्योंकि वे भी उतने काल के लिये पूर्ण वीतरागी हो गये हैं।

रागी सर्वदा दोषी –

रागिणः सर्वदा दोषाः सन्ति संसारहेतवः।
ज्ञानिनो वीतरागस्य न कदाचन ते पुनः ॥५२९॥

अन्वय : – रागिणः संसारहेतवः दोषाः सर्वदा सन्ति, पुनः ज्ञानिनः वीतरागस्य ते (दोषाः) कदाचन न (सन्ति)।

सरलार्थ :– रागी अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव के संसार के कारणभूत सर्व दोष सदाकाल होते हैं; परन्तु ज्ञानी वीतरागी जीव के संसार के कारणभूत सर्व दोष कदाचित् भी नहीं होते।

भावार्थ :– मिथ्यादृष्टि जीव धर्म करने की भावना से भले अणुव्रत-महाव्रत का पालन करे, अनेक प्रकार का कठिन तपश्चरण करे, मंदकषाय के कारण नौ ग्रैवेयक पर्यंत स्वर्ग को भी प्राप्त करे, ग्यारह अंग और नौ पूर्व का ज्ञान भी करे; तथापि मिथ्यात्व परिणाम के कारण उसे संसार के कारणभूत सर्वदोष सदाकाल होते ही रहते हैं। जबतक मिथ्यात्व रहेगा, तबतक संसार बढ़ने का कार्य चलता ही रहेगा।

ज्ञानी वीतरागी जीव का अर्थ यहाँ उपशांतमोही और क्षीणमोही जीव को लेने की आवश्यकता नहीं है। उन्हें संसार के कारणभूत सर्वदोष नहीं होते; क्योंकि क्षीणमोही तो अगले अंतर्मुहूर्त में अरहंत होनेवाले हैं। यहाँ तो अव्रती श्रावक, व्रती श्रावक अथवा हमेशा छठे-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले साधक जीवों को भी साधना काल में संसार के कारणभूत सर्वदोष कदाचित् भी नहीं होते। ये दोष मात्र मिथ्यादृष्टि जीवों को ही सदाकाल होते हैं। मिथ्यात्व ही संसार है और उस मिथ्यात्व से ही सर्वदोष होते हैं, अन्यथा नहीं।

कर्मबंध एवं मुक्ति का कारणरूप भाव –

जीवस्यौदयिको भावः समस्तो बन्धकारणम्।
विमुक्तिकारणं भावो जायते पारिणामिकः ॥५३०॥

अन्वय : – जीवस्य औदयिकः भावः समस्तः बन्धकारणं (भवति, जीवस्य च) पारिणामिकः भावः विमुक्तिकारणं जायते।

सरलार्थ :– मोहनीय कर्मों के उदय के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले जीव के जो औदयिक भाव हैं वे सब नवीन कर्मबंध के कारण होते हैं और जीव का जो पारिणामिक भाव है, वह मुक्ति का कारण होता है।

भावार्थ :– औदयिकभाव कर्मबंध का कारण है; यह सामान्य कथन है। औदयिक भाव के २१

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भेद हैं। इनमें जो मोह-राग-द्वेषरूप औदयिक भाव हैं, वे ही नवीन कर्मबंध में निमित्त होते हैं। तत्त्वार्थसूत्र के आठवें अध्याय के प्रथम सूत्र में – **मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाबंधहेतवः** – ऐसा कहा है। इन मिथ्यात्वादि में मात्र मोहनीय कर्म निमित्त है। अन्य कर्म के निमित्त से होनेवाले जीव के औदयिक भावों का कर्मबंध में कुछ निमित्तपना नहीं है। इस विषय की विशेष जानकारी हेतु मोक्षमार्गप्रकाशक के दूसरे अधिकार के **नवीन बंध विचार** प्रकरण को जरूर देखें।

पारिणामिक भाव मुक्ति का कारण है; यह कथन भी सामान्य है; क्योंकि जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व – इन तीन पारिणामिक भावों में से मात्र जीवत्व-पारिणामिक भाव ही मुक्ति का कारण है। उसमें भी जो अनादि-अनंत परमपारिणामिक भाव है, वही मुक्ति का कारण है, अन्य व्यवहार जीवत्व कारण नहीं है। **मुक्ति के कारण परमपारिणामिक भाव को ही ज्ञायक भगवान आत्मा, त्रिकाली शुद्ध निजात्मा, निजात्म तत्त्व, कारण परमात्मा आदि शब्दों से आगम में कहा गया है।** इस परमपारिणामिक भाव के संबंध में आचार्य जयसेन के अनुसार समयसार गाथा ३४१ (आचार्य अमृतचंद्र के अनुसार गाथा ३२०) की जयसेनाचार्य कृत टीका में विशेष विस्तार के साथ स्पष्ट किया है; पाठक उसे जरूर-जरूर देखें।

यह विषय अपने जीवन में धर्म प्रगट करने के लिये अलौकिक है। एकमात्र असाधारण उपाय है। जिनधर्म का मर्म समझने के लिये भी यह विषय अति महत्त्वपूर्ण है।

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट से प्रकाशित **अध्यात्म रत्नत्रय** कृति का अध्ययन भी उपयोगी सिद्ध होगा।

आत्मा के अनुभव की प्रेरणा –

विषयानुभवं बाह्यं स्वात्मानुभवमान्तरम्।
विज्ञाय प्रथमं हित्वा स्थेयमन्यत्र सर्वतः ॥५३१॥

अन्वय : – विषयानुभवं बाह्यं (भवति)। स्व-आत्मानुभवं आन्तरं (भवति। एतत्) विज्ञाय प्रथमं (बाह्यं विषयानुभवं) हित्वा अन्यत्र (स्व-आत्मानुभवं आन्तरं) सर्वतः स्थेयम्।

सरलार्थ :– स्पर्श-रसादि पंचेंद्रिय विषयों का जो अनुभव है, वह बाह्य अर्थात् दुःखरूप तथा विनाशीक है और निज शुद्ध आत्मा का जो अनुभव है, वह अंतरंग अर्थात् वास्तविक, सुखरूप तथा अविनाशी/शाश्वत है। इस बात को अच्छी तरह से जानकर दुःखद बाह्य-विषयानुभव को छोड़कर निज शुद्धात्मानुभवरूप अंतरंग में पूर्णतः स्थिर/मग्न होना चाहिए।

भावार्थ :– इस श्लोक में ग्रंथकार पाठकों को निजात्मा के अनुभव में ही मग्न रहने का उपदेश दे रहे हैं, जो मनुष्य जीवन का वास्तविक कर्त्तव्य है।

ज्ञान के दो भेद –

ज्ञानं वैषयिकं पुंसः सर्वं पौद्गलिकं मतम्।
विषयेभ्यः परावृत्तमात्मीयमपरं पुनः ॥५३२॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्वय : – पुंस: वैषयिकं ज्ञानं सर्वं पौद्गलिकं मतम्। पुन: विषयेभ्य: परावृत्तं अपरं (सर्वं ज्ञानं) आत्मीयं मतम्।

सरलार्थ :– स्पर्शनेंद्रियादि पाँचों इंद्रियों के निमित्त से उत्पन्न होनेवाला स्पर्शादि विषयों का जितना भी जो ज्ञान है, उसे पौद्गलिक कहते हैं और स्पर्शादि विषयों से परावृत्त अर्थात् इंद्रियों के निमित्तों के बिना होनेवाले दूसरे ज्ञान को आत्मीय ज्ञान कहते हैं।

भावार्थ :– आगम में ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष, मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान, इंद्रियज्ञान और अतीन्द्रियज्ञान ऐसे विभन्न अपेक्षाओं से विभिन्न दो-दो भेद देखने को मिलते हैं। यहाँ अध्यात्म की मुख्यता करके इंद्रिय-निमित्त ज्ञान को पौद्गलिक और इंद्रिय-निमित्तों से निरपेक्ष ज्ञान को आत्मीय ज्ञान कहा है।

प्रश्न :– इंद्रियजन्य अर्थात् क्षायोपशमिक ज्ञान को यहाँ पौद्गलिक क्यों कहा?

उत्तर :– वस्तुस्वरूप की अपेक्षा से विचार किया जाय तो ज्ञान तो ज्ञान होता है। वह पौद्गलिक हो ही नहीं सकता। पुद्गल तो जड़ है, जड़ से अथवा जड़ में ज्ञान होता ही नहीं। इंद्रियाँ जड़ हैं और उन जड़ इंद्रियों के निमित्त से स्थूल-जड़ पुद्गलों का ही ज्ञान होता है, अत: इन्द्रियों के निमित्त से होनेवाले ज्ञान को निमित्त की मुख्यता करके जड़/पौद्गलिक कहा है।

इसमें मूल प्रयोजन यह है कि अज्ञानी जीव की पर्याय में पर में एकत्व-ममत्व करने की प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति से मिथ्यात्व पुष्ट होता है। मिथ्यात्व के नाश करने के प्रयोजन से यहाँ इंद्रिय-निमित्तिक ज्ञान को पौद्गलिक कहा है। पर्याय-मूढ़ को सम्यग्दृष्टि बनाना ही अध्यात्म शास्त्र का मूल उद्देश्य रहता है। इसकारण इस श्लोक में इंद्रियजन्य ज्ञान को पौद्गलिक कहा है।

वस्तुत: ज्ञान के भेद नहीं –

गवां यथा विभेदेऽपि क्षीरभेदो न विद्यते।
पुंसां तथा विभेदेऽपि ज्ञानभेदो न विद्यते।।५३३।।

अन्वय : – यथा गवां विभेदे अपि क्षीरभेद: न विद्यते, तथा पुंसां विभेदे अपि ज्ञानभेद: न विद्यते।

सरलार्थ :– जिसप्रकार विभिन्न गायों में काली, पीली, धौली, चितकबरी रूप भेद होने पर भी उनके दूध में अर्थात् दूध के सामान्य श्वेत वर्णादि में कोई भेद नहीं होता; उसीप्रकार आत्मा के एकेंद्रियादिक-तिर्यंचादिक भेद होनेपर भी उनके ज्ञान के जाननरूप स्वभाव में भेद नहीं होता।

भावार्थ :– जिनधर्म में विभिन्न प्रकार की अपेक्षाएँ आपको देखने को मिलेगी। जिनधर्म को हम अपेक्षाओं का भंडार भी कह सकते हैं। मतिज्ञानादिक ज्ञान के ५ भेद तो हैं ही। मात्र मतिज्ञान के ही अवग्रहादि की अपेक्षा भेद करेंगे तो तीन सौ छत्तीस भेद होते हैं। इसीतरह श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान के भी अनेक भेद ग्रंथों में प्रतिपादित हैं, जो अभ्यासी लोगों को ज्ञात ही है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यहाँ तो सामान्य ज्ञान में भेद ही नहीं है, इस विषय को मुख्य करके कथन कर रहे हैं। सही देखा जाय तो सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान ऐसे भेद भी नहीं हो सकते; क्योंकि वे भेद भी श्रद्धा की मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्वरूप निमित्त की मुख्यता से किये हैं। ये दोनों ज्ञान भी जाननेरूप एक ही तो कार्य करते हैं, अतः ज्ञान में भेद कैसा?

आचार्य कुंदकुंद ने समयसार गाथा २०४ में तो पाँचों ज्ञान को एक ही कह दिया है। गाथार्थ निम्नानुसार है – **मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान यह एक ही पद है (क्योंकि ज्ञान के समस्त भेद ज्ञान ही है) यह परमार्थ है; (शुद्धनय का विषयभूत ज्ञान सामान्य ही है यह परमार्थ है) जिसे प्राप्त करके आत्मा निर्वाण को प्राप्त होता है।**

इस गाथा की टीका में तो आचार्य अमृतचंद्र ने मर्म खोला है, जिसका विशेष अंश नीचे दे रहे हैं – "जिसमें से समस्त भेद दूर हुए हैं ऐसे आत्मस्वभावभूत एक ज्ञान का ही अवलम्बन करना चाहिए। उसके अवलम्बन से ही निजपद की प्राप्ति होती है, भ्रांति का नाश होता है, आत्मा का लाभ होता है, और अनात्मा का परिहार सिद्ध होता है – (ऐसा होने से) कर्म बलवान नहीं रहते, राग-द्वेष-मोह उत्पन्न नहीं होते, पुनः कर्मास्रव नहीं होता, पुनः कर्मबंध नहीं होता, पूर्वबद्ध कर्म से मुक्त होकर निर्जरा को प्राप्त होता है, समस्त कर्मों का अभाव होने से साक्षात् मोक्ष होता है।"

पाठकों से निवेदन है कि वे इस गाथा के आगे-पीछे के प्रकरण को भी जरूर पढ़ें। संस्कृत में तो आचार्यों ने अपना मूल भाव अत्यंत संक्षेप में और मार्मिक शब्दों में प्रगट किया है।

आचार्य कुंदकुंद तथा आचार्य अमृतचंद्र के इसी भाव को अल्पशब्दों में आचार्य अमितगति ने इस श्लोक में देने का प्रयास किया है।

ज्ञानी का ज्ञेय से भेदज्ञान –

विज्ञाय दीपतो द्योत्यं यथा दीपो व्यपोह्यते।
विज्ञाय ज्ञानतो ज्ञेयं तथा ज्ञानं व्यपोह्यते॥५३४॥

अन्वय : – यथा दीपतः द्योत्यं (पदार्थं) विज्ञाय दीपः व्यपोह्यते; तथा ज्ञानतः ज्ञेयं विज्ञाय ज्ञानं व्यपोह्यते।

सरलार्थ :– जिसप्रकार समझदार मनुष्य दीपक से द्योत्य/देखने योग्य, प्रकाश्य अर्थात् प्रकाशित करने योग्य वस्तु को देखकर/जानकर दीपक को प्रकाश्यरूप वस्तु से भिन्न करते हैं; उसीप्रकार ज्ञान से ज्ञेय अर्थात् जाननेयोग्य वस्तु को जानकर ज्ञानी अपने ज्ञान को ज्ञेय से भिन्न करते/जानते हैं। (अर्थात् मैं तो जाननस्वरूप मात्र ज्ञाता हूँ; ऐसा मानते हैं।)

भावार्थ :– जीव को जानने की स्वाभाविक सुविधा मिली है; परन्तु अज्ञानी जीव इस सुविधा से अपने ज्ञातास्वरूप को न स्वीकारते हुए ज्ञेयरूप भिन्न परवस्तु को अपना मानकर मिथ्यात्व का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पोषण करते हैं। यहाँ ग्रंथकार ने मिथ्यात्व का पोषण न हो और सम्यग्दर्शन प्रगट हो, इसलिए अत्यंत महत्वपूर्ण विषय को उदाहरण सहित बताया है।

समयसार का मूल अभिधेय यह है – **आत्मा मात्र जाननस्वभावी है,** अनेक स्थान पर इस विषय को स्पष्ट शब्दों में भी बताया है। जैसे समयसार ग्रंथ की प्राणभूत गाथा ६ और उसकी टीका में यह विषय अति विशदरूप से आया है।

इसके अतिरिक्त भी गाथा ३२०, कलश ५६, ६२, १९८ आदि में जीव मात्र ज्ञाता ही है, यह विषय आया है। पाठक इन प्रकरणों को जरूर पढ़ें।

स्वभाव और विभाव ज्ञान का स्वरूप –

स्वरूपमात्मनः सूक्ष्ममव्यपदेशमव्ययम्।
तत्र ज्ञानं परं सर्वं वैकारिकमपोह्यते।।५३५।।

अन्वय : – आत्मनः स्वरूपं (ज्ञानं) सूक्ष्मं अव्यपदेशं च अव्ययं (अस्ति)। तत्र (आत्मनः स्वरूपतः) परं सर्वं वैकारिकं ज्ञानं अपोह्यते।

सरलार्थ :– जो ज्ञान आत्मा का स्वरूप अर्थात् स्वभाव है, वह अत्यंत सूक्ष्म है, व्यपदेश अर्थात् किसी विशेष नाम से जानने योग्य नहीं है अथवा वचनातीत और अविनाशी है; ऐसे ज्ञान को कोई भी आत्मा से भिन्न नहीं कर सकता। इस स्वाभाविक तथा अनादि-अनंत ज्ञान से भिन्न दूसरा वैकारिक/विभावरूप अर्थात् स्पर्शनेंद्रियादि के निमित्त से होनेवाला पौद्गलिक ज्ञान है, उसे दूर किया जा सकता है।

भावार्थ :– जैसे अग्नि से उष्णता को भिन्न नहीं किया जा सकता; क्योंकि वह स्वभाव है। अग्नि और उष्णता में नित्य-तादात्म्यसंबंध है। अग्नि उष्णतारूप है। उष्णता का नाश होने पर अग्नि का ही नाश हो जाता है। वैसे आत्मा का स्वभाव ज्ञान है। आत्मा और ज्ञान में नित्यतादात्म्यसंबंध है। ज्ञान का नाश होनेपर आत्मा का ही नाश हो जायेगा। इसलिए स्वभावरूप ज्ञान को आत्मा से कोई भी भिन्न नहीं कर सकता।

इंद्रिय-अनिंद्रिय/मन से उत्पन्न होनेवाला पौद्गलिक ज्ञान इंद्रिय-अनिन्द्रिय के नहीं रहने पर नाश को प्राप्त हो जाता है, यह स्वाभाविक ही है।

प्रश्न :– संसारी जीव को अनादि से स्पर्शनेंद्रिय है, इसलिए स्पर्शनेंद्रियजन्य ज्ञान को तो अविनाशी मानने में क्या आपत्ति है?

उत्तर :– यही आपत्ति है कि वह अनंतकाल पर्यंत न रहने के कारण नश्वर है; क्योंकि सिद्ध-अवस्था प्राप्त होते ही शरीर के साथ सर्व इंद्रियों का और अनिंद्रिय/मन का भी नाश हो जाता है। वास्तव में देखा जाय तो भावेंद्रियों का अभाव तो अरहंत अवस्था में ही होता है। इसलिए पौद्गलिक ज्ञान आत्मा से भिन्न होता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

संसारच्छेद का स्वरूप –

(शालिनी)

स्कन्धच्छेदे पल्लवाः सन्ति भूयो
मूलच्छेदे शाखिनस्ते तथा नो।
देशच्छेदे सन्ति भूयो विकारा
मूलच्छेदे जन्मनस्ते तथा नो।।५३६।।

अन्वय :– (यथा) शाखिनः स्कन्धच्छेदे पल्लवाः भूयः सन्ति; (किन्तु शाखिनः) मूलच्छेदे ते तथा नो (तथैव) जन्मनः देशच्छेदे विकाराः भूयः सन्ति; (किन्तु जन्मनः) मूलच्छेदे ते (विकाराः) तथा नो।

सरलार्थ :– जिसप्रकार वृक्ष के स्कन्ध भाग का छेद होने पर पत्ते फिर निकल आते हैं; किन्तु वृक्ष के मूल अर्थात् जड़ का छेद होनेपर वृक्ष में फिर से पत्ते नहीं आते; उसीप्रकार संसार का एकदेश नाश (अज्ञानी की मान्यतानुसार पाप का नाश) करने पर विकार फिर उत्पन्न हो जाते हैं; किन्तु संसार के मूलरूप मिथ्यात्व के सम्पूर्ण विनाश करने पर फिर से विकार उत्पन्न नहीं होते अर्थात् संसार का ही नाश हो जाता है।

भावार्थ :– पाप का नाश होने से संसार का आंशिक नाश होता है; ऐसी अज्ञानी की मान्यता का यहाँ खण्डन किया गया है। पाप की कथंचित् हीनता और पुण्य की विशेषता से देवादि की अवस्था प्राप्त होना सहज है। इस पुण्य के फल से संसार सीमित नहीं होता। कुछ काल व्यतीत होनेपर स्वयमेव ही अतिशय आकुलतामय एकेंद्रिय का जीवन प्राप्त होता है। पुण्य के फलस्वरूप अनुकूलता में भी अज्ञानी दुःखी ही रहता है; लेकिन अज्ञान के कारण उस दुःख को वह दुःखरूप ही नहीं मानता।

अनादि परिवर्तनरूप संसार में मात्र साधिक दो हजार सागर के लिये ही यह जीव द्वीन्द्रियादि त्रस पर्यायों में आता है। यदि इस त्रस पर्याय की संज्ञी अवस्था में पुरुषार्थ करके मोक्षमार्गी बनेगा तो संसार से मुक्त होगा; अन्यथा फिर एकेंद्रिय अवस्था में ही जाना अनिवार्य है। अज्ञानी यह नियम नहीं जानता, इसलिए अघाति कर्मों में पाप की थोड़ी हीनता और पुण्य की विशेषता से संसार का देशच्छेद अर्थात् एकदेश नाश हो गया, ऐसा भ्रम रखता है और संसार में ही रहता है। घाति कर्म तो सर्व पापमय ही है; यह समझता नहीं। इस कारण संसार का मूलच्छेद भी नहीं कर पाता।

संसार का मूलच्छेद तो मिथ्यात्व के नाश से ही होता है, अन्य कोई उपाय ही नहीं है। **मैं त्रिकाली शुद्ध भगवान आत्मा हूँ** ऐसा अपने स्वरूप का स्वीकारना ही मिथ्यात्व का नाश है। यह धर्म प्रगट करने का प्रथम उपाय भी अत्यंत दुर्लभ है। इस समय मनुष्य पर्याय में हमें यह यथार्थ उपदेश प्राप्त हुआ है, अतः इस उपदेश के अनुसार पुरुषार्थ करना अपना मुख्य कर्त्तव्य है।

एक बार मूलच्छेद से सम्यग्दृष्टि होने के बाद संसार की वृद्धि नहीं होती।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोनों संसारच्छेद में तुलना –

(स्रग्धरा)

देशच्छेदे चरित्रं भवति भवतते: कुर्वतश्चित्ररूपं
मूलच्छेदे विविक्तं वियदिव विमलं ध्यायति स्वस्वरूपम्।
विज्ञायेत्थं विचिन्त्यं सदमितगतिभिस्तत्त्वमन्त:स्थमग्र्यं
संप्राप्तासन्नमार्गा न परमिह पदप्राप्तये यान्ति मार्गम्।।५३७।।

अन्वय : – (संसारस्य) देशच्छेदे (सति) भवतते: चित्ररूपं कुर्वत: चरित्रं भवति (संसारस्य च) मूलच्छेदे (आत्मा) वियत् इव विमलं, विविक्तं स्व-स्वरूपं ध्यायति। इत्थं विज्ञाय सदमितगतिभि: अन्त:स्थं अग्र्यं तत्त्वं विचिन्त्यं (अस्ति)। संप्राप्तासन्नमार्गा: पदप्राप्तये परं मार्गं इह न यान्ति (इव)।

सरलार्थ :– संसार के एकदेश छेद/नाश होने पर अर्थात् अति पापरूप अवस्था का अभाव होने से संसार की परम्परानुसार चित्र-विचित्ररूप अर्थात् अनेक अवस्थाओं को धारण करनेरूप चारित्र होता है। मिथ्यात्व के अभावपूर्वक संसार के मूल का नाश होने पर आत्मा आकाश के समान कर्मरूपो कलंक से रहित निर्मल अपने निज स्वरूप को ध्याता है। इसप्रकार वस्तुस्वरूप को यथार्थ जानकर जो उत्तम ज्ञान के धारक महापुरुष हैं, वे अंतरंग में स्थित प्रधान तत्त्वरूप शुद्ध आत्मा का ही ध्यान करते हैं। यह योग्य ही है कि जिन्हें अपेक्षित/इष्ट स्थान की प्राप्ति का उपाय अपने निकट/ अपने में ही प्राप्त होता है, तो वे फिर दूर के अन्यथा मार्ग से गमन नहीं करते।

भावार्थ :– श्लोक ५३६ एवं ५३७ में मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी तथा भावलिंगी मुनि के स्वरूप पर ग्रंथकार प्रकाश डालना चाहते हैं। द्रव्यलिंगी मुनि २८ मूलगुणों का आगमानुसार पालन करते हैं, जिसके फलस्वरूप उन्हें नव ग्रैवेयक पर्यंत देवों में जन्म भी प्राप्त होता है; तथापि उनकी श्रद्धा यथार्थ नहीं होती। वे अपनी व्यवहार धर्म की साधना में ही हम धर्म कर रहे हैं; हमारे संसार का देशच्छेद हो गया ऐसी मान्यता रखते हैं। ग्रंथकार ने अज्ञानी की मान्यता बताने के लिये देशच्छेद शब्द-प्रयोग किया है। पंचम गुणस्थान के योग्य व्रतपालन करनेवाले द्रव्यलिंगी श्रावक भी अथवा अव्रती सामान्य जैन भी अपनी अज्ञानमय मान्यतानुसार पुण्यक्रिया एवं परिणामों को धर्म मानकर उसे देशच्छेद हो गया – ऐसी मान्यता रखते हैं।

मूलच्छेद तो मिथ्यात्व के अभाव से ही होता है। यह कार्य चौथे, पाँचवें एवं छठवें-सातवें गुणस्थानवर्त्ती जीव ही करते हैं। इस श्लोक में प्रयुक्त **सदभिमतगतिभि:** शब्द हमें मुनिराज अर्थ करने के लिये बाध्य करता है। अत: भावलिंगी मुनिराज ही अर्थ करना आवश्यक है; क्योंकि वे **अंतरस्थं अग्र्यं तत्त्वं** अर्थात् शुद्धात्मा का ध्यान करनेवाले हैं और अपरिमित ज्ञान के धारक हैं। गति शब्द का अर्थ ज्ञान होता है, यह सर्वविदित है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जो भावलिंगी वीतरागी मुनिराज हैं, वे देशच्छेद की कल्पना करनेवाले द्रव्यलिंगपने का स्वीकार नहीं करते; अतः श्लोक में वे दूसरे मार्ग से गमन नहीं करते, ऐसा अर्थ व्यक्त किया है।

जन्म तथा जीवन की सफलता –

(शार्दूलविक्रीडित)

दृष्ट्वा बाह्यमनात्मनीनमखिलं मायोपमं नश्वरं
ये संसार-महोदधिं बहुविधक्रोधादिनक्राकुलम्।
तीर्त्वा यान्ति शिवास्पदं शममयं ध्यात्वात्मतत्त्वं स्थिरं
तेषां जन्म च जीवितं च सफलं स्वार्थैकनिष्ठात्मनाम्॥५३८॥

अन्वय : – ये अनात्मनीनं मायोपमं (तथा) नश्वरं अखिलं बाह्यं (संसारम्) दृष्ट्वा स्थिरं आत्मतत्त्वं ध्यात्वा बहुविध-क्रोधादिनक्राकुलं संसार-महोदधिं तीर्त्वा शममयं शिवास्पदं यान्ति तेषां च स्वार्थैकनिष्ठात्मनां जन्म जीवितं च सफलम् (अस्ति)।

सरलार्थ :– जो महामानव सारे बाह्य जगत को अनात्मीय, मायारूप एवं नश्वर देखकर-जानकर स्थिर (ध्रुव) निजशुद्धात्म तत्त्व का ध्यानकर अनेक प्रकार के क्रोधादि कषायरूप मगरों से भरे हुए संसार-समुद्र को तिरकर अनंत-अव्याबाध सुखमय मोक्षपद को प्राप्त करते हैं, उन आत्मीय स्वार्थ की साधना में एकनिष्ठा रखनेवालों का ही जन्म और जीवन सफल है।

ग्रंथ तथा ग्रंथकार की प्रशस्ति –

(मन्द्राकान्ता)

दृष्ट्वा सर्वं गगननगर-स्वप्न-मायोपमानं
निःसङ्गात्मामितगतिरिदं प्राभृतं योगसारम्।
ब्रह्मप्राप्त्यै परममकृतं स्वेषु चात्म-प्रतिष्ठं
नित्यानन्दं गलित-कलिलं सूक्ष्ममत्यक्ष-लक्ष्यम्॥५३९॥

अन्वय : – सर्वं गगननगर-स्वप्न-मायोपमानं दृष्ट्वा निःसङ्गात्मा अमितगतिः स्वेषु च आत्म-प्रतिष्ठं, गलित-कलिलं, सूक्ष्मं अत्यक्ष-लक्ष्यं नित्यानन्दं (च) परमं अकृतं ब्रह्मप्राप्त्यै इदं योगसारं प्राभृतं (विरचितम्)।

सरलार्थ :– आकाश में बादलों से बने हुए नगर के समान, स्वप्न में देखे हुए दृश्यों के सदृश तथा इन्द्रजाल में प्रदर्शित मायामय चित्रों के तुल्य सारे दृश्य जगत् को देखकर निःसंगात्मा अमितगति ने उस परम ब्रह्म को प्राप्त करने के लिये जो कि आत्माओं में आत्म-प्रतिष्ठा को लिये हुए हैं, कर्म-मल से रहित है, सूक्ष्म है, अमूर्तिक है, अतीन्द्रिय है और सदा आनन्दरूप है, यह योगसार प्राभृत रचा है, जो कि योग-विषयक ग्रन्थों में अपने को प्रतिष्ठित करनेवाला योग का प्रमुख ग्रन्थ है, निर्दोष है, अर्थ की दृष्टि से सूक्ष्म है – गम्भीर है – अनुभव का विषय है और नित्यानन्दरूप है – इसको पढ़ने-सुनने से सदा आनन्द मिलता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– यहाँ ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के कर्तृत्वादि की सूचना करते हुए ग्रन्थ का नाम **'योगसार प्राभृत'**, अपना नाम **'अमितगति'** और ग्रन्थ के रचने का उद्देश्य **'ब्रह्मप्राप्ति'** बतलाया है। ब्रह्मप्राप्ति का आशय स्वात्मोपलब्धि है, जिसे 'सिद्धि' तथा 'मुक्ति' भी कहते हैं और जो वस्तुतः सारे विभाव-परिणमन को हटाकर स्वात्मा को अपने स्वभाव में स्थित करने के रूप में है, किसी परपदार्थ या व्यक्ति-विशेष की प्राप्ति या उसमें लीनता के रूप में नहीं। इसी उद्देश्य को ग्रन्थ के प्रारम्भिक मंगल-पद्य में **'स्वस्वभावोपलब्धये'** पद्य के द्वारा व्यक्त किया गया है। इसका मुख्य विशेषण भी 'स्वस्वभावमय' दिया है। इससे स्वभाव की उपलब्धि रूप ही सिद्धि है, जिसे प्राप्त करनेवाले ही **'सिद्ध'** कहे जाते हैं। यहाँ ब्रह्मप्राप्ति ही एक मात्र लक्ष्य है, यह असन्दिग्धरूप से समझ लेना चाहिए।

ग्रन्थकार ने अपना विशेषण 'निःसंगात्मा' दिया है जो बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है और इस बात को सूचित करता है कि ग्रन्थकार महोदय केवल कथन करनेवाले नहीं थे, किन्तु ग्रन्थ के प्रतिपाद्य एवं लक्ष्य में उन्होंने स्वयं को रंग लिया था, परपदार्थों से अपना ममत्व हटा लिया था। उन्हें अपने संघ का, गुरु-परम्परा का तथा शिष्य-समुदाय का भी कोई मोह नहीं रहा था, इसी से शायद उन्होंने इस अवसर पर उनका कोई उल्लेख नहीं किया। उनका आत्मा निःसंग था, पर के सम्पर्क से अपने को अलग रखनेवाला था और इसलिए उन्हें सच्चे अर्थ में 'योगिराज' समझना चाहिए। जो सत्कार्यों का उपदेश दूसरों को देते हैं और उन पर स्वयं भी चलते हैं/पालन अमल करते हैं वे ही 'सत्पुरुष' होते हैं। उन्हीं के कथन का प्रभाव भी पड़ता है।

इस पद्य में 'परमब्रह्म' के जो विशेषण दिये गये हैं वे ही प्रकारान्तर से ग्रन्थ पर भी लागू होते हैं और इससे ऐसा जान पड़ता है कि यह ग्रन्थ अपने लक्ष्य के बिल्कुल अनुरूप बना है। उदाहरण के लिए 'नित्यानन्द' विशेषण को लीजिए – इस ग्रन्थ को जब भी जिधर से भी पढ़ते-अनुभव करते हैं उसी समय उधर से नया रस तथा आनन्द आने लगता है। और इसीलिए इस ग्रन्थ को 'रमणीय' कहना बहुत ही युक्ति-युक्त है। रमणीय का स्वरूप भी यही है – **पदे-पदे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः** – पद-पदपर जो नवीन जान पड़े, वही रमणीयता का स्वरूप है।

इस ग्रन्थ के अध्ययन का फल –

(रथोद्धता)

योगसारमिदमेकमानसः प्राभृतं पठति योऽभिमानसः।
स्वस्वरूपमुपलभ्य सोऽञ्चितं सद्म याति भवदोषवञ्चितम् ।।५४०।।

अन्वय : – इदं योगसारं प्राभृतं यः एकमानसः अभिमानसः पठति सः स्व-स्वरूपं उपलभ्य अञ्चितं सद्म याति (यत्) भव-दोष-वञ्चितं (अस्ति)।

सरलार्थ :– इस योगसार प्राभृत को जो एकचित्त होकर एकाग्रता से पढ़ता है, वह अपने स्वरूप को जानकर तथा सम्प्राप्त कर उस पूजित सदन को/लोकाग्र के निवासरूप पूज्य मुक्ति महल को प्राप्त होता है, जो संसार के दोषों से रहित है/संसार का कोई भी विकार जिसके पास नहीं आता।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावार्थ :– यह ग्रन्थ का अन्तिम उपसंहार श्लोक है, जिसमें ग्रन्थ के नाम का उल्लेख करते हुए उसके एकाग्र चित्त से पठन/अध्ययन के फल को दरशाया है और वह फल है अपने आत्म-स्वभाव की उपलब्धि, ज्ञप्ति और सम्प्राप्ति, जो कि सारे संसार के दोषों से/विकारों से रहित है और जिसे प्राप्त करके यह जीव इतना ऊँचा उठ जाता है कि लोक के अग्रभाग में जाकर विराजमान हो जाता है, जो कि संसार के सारे विकारों से रहित; सारी झंझटों तथा आकुलताओं से मुक्त, एक पूजनीय स्थान है।

आत्मा के इस पूर्ण-विकास एवं जीवन के चरम लक्ष्य को लेकर ही यह ग्रन्थ रचा गया है, जिसका ग्रन्थ के प्रथम मंगल पद्य में **स्वस्वभावोपलब्धये** पद के द्वारा और पिछले पद्य में **ब्रह्मप्राप्त्यै** पद के द्वारा उल्लेख किया गया है और इसलिए वही उद्दिष्ट एवं लक्ष्यभूत फल इस ग्रन्थ के पूर्णतः एकाग्रता के साथ अध्ययन का होना स्वाभाविक है। अतः अपना हित चाहनेवाले पाठकों को इस मंगलमय योगसार-प्राभृत का एकाग्रचित्त से अध्ययन कर उस फल को प्राप्त करने के लिये अविलम्ब अग्रसर हो जाना चाहिये।

इसप्रकार श्लोक क्रमांक ४५७ से ५४० पर्यन्त ८४ श्लोकों में यह अन्तिम नौवाँ 'चूलिका-अधिकार' पूर्ण हुआ।

।।इति श्रीमद्-अमितगति-आचार्यविरचित 'योगसार-प्राभृत' समाप्त।।

●●●

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परिशिष्ट

योगसार-प्राभृत की श्लोकानुक्रमणिका

श्लोक	पृष्ठ
अ	
अकृत्यं दुर्धिय: कृत्यं	२२३
अक्षज्ञानार्थतो भिन्नं	२९८
अचेतनं तत: सर्वं	१६८
अचेतनत्वमज्ञात्वा	१००
अजीवतत्त्वं न विदन्ति	८८
अज्ञानी बध्यते यत्र	१७९
अतत्त्वं मन्यते तत्त्वं	२४
अतीताभाविनश्चार्था:	३३
अतोऽत्रैव महान् यत्न:	२१४
अदन्तधावनं भूमि	२२९
अध्येतव्यं स्तिमितमनसा	१९६
अनादावपि सम्बन्धे	८६
अनादिरात्मनोऽमुख्यो	२८४
अनित्यं पीडकं तृष्णा-	१०८
अनुबन्ध: सुखे दु:खे	१८४
अनुष्ठानास्पदं ज्ञानं	२९१
अन्त:शुद्धिं विना बाह्या	२४३
अन्याचारपरावृत्त:	१७६
अन्योऽन्यस्य विकल्पेन	१५३
अबन्ध्यदेशन: श्रीमान्	२०२
अभावे बन्धहेतूनां	१९९
अभिन्नमात्मन: शुद्धं	४१
अमूर्ता निष्क्रिया: सर्वे	५७
अयत्नचारिणो हिंसा	२४१
अयं मेऽनिष्टमिष्टं वा	१५३
अर्थकामाविधानेन	२६३
अर्हदादौ परा भक्ति:	१३२
अलाबुभाजनं वस्त्रं	२४६
अवकाशं प्रयच्छन्त:	५६
अशने शयने स्थाने	२३३
असंख्या भुवनाकाशे	६२
असन्तस्ते मता दक्षै-	३२
अहमस्मि न कस्यापि	१८०
अहिंसा सत्यमस्तेयं	३८
आ	
आगमेनानुमानेन	२२०
आगमे शाश्वती बुद्धि-	२६५
आगाम्यागो निमित्तानां	१६२
आचारवेदनं ज्ञानं	४२
आत्मतत्त्वमजानाना	२२२
आत्मतत्त्वमपहस्तितरागं	१६९
आत्मतत्त्वरतो योगी	१७२
आत्मध्यानरतिर्ज्ञेयं	२२१
आत्मना कुरुते कर्म	८६
आत्मनोऽन्वेषणा येषां	२५५
आत्मनो ये परीणामा:	२९६
आत्मानं कुरुते कर्म	८६
आत्मन: सकलं बाह्यं	१५१
आत्मावबोधतो नून-	१८५
आत्मव्यवस्थिता: यान्ति	२९४
आत्मा स्वात्मविजारज्ञै-	३६
आधिव्याधिजराजाति-	२२३
आनन्दो जायतेऽत्यन्तं	२०१
आराधनाय लोकानां	२३६
आरम्भोऽसंयमो मूर्च्छा	२४७
आराधने यथा तस्य	२४०
आश्रित्य व्यवहारज्ञं	२३१
आसमस्मि भविष्यामि	९२
आहारमुपधिं शय्यां	२६०
आहारादिभिरन्येन	१२३
इ	
इत्थं योगी व्यपगत-	१९७
इत्थं विज्ञाय यो मोहं	१५६
इदं चरित्रं विधिना	२७५
इष्टोऽपि मोहतोऽनिष्टो	१५४
उ ऊ	
उत्पद्यन्ते यथा भावा:	१०४
उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति	१४४
उत्साहो निश्चयो धैर्यं	२१९
उदये दृष्टिमोहस्य	२४
उदेति केवलज्ञानं	२२
उदेति केवलं जीवे	२००
उपदेशं विनाप्यङ्गी	२६२
उपधौ वसतौ संङ्घे	२३३
उपयोगो विनिर्दिष्टम्	२०
उपलब्धे यथाहारे	१९३
उपेयस्य यत: प्राप्ति:	२१८
ऊचिरे ध्यानमार्गज्ञा	२१५
ए	
एक एव सदो तेषां	२६९
एकत्रापि यतोऽनन्ता:	३३
एकत्राप्यपरित्यक्ते	२४५
एकाग्रमनस: साधो:	२६१
एकान्तक्षीणसंक्लेशो	२१३
एकासनोदरा भुक्ति-	२५७
एको जीवो द्विधा प्रोक्त:	२११
एतेऽहमहमेतेषा-	१०५
एवं सपद्यते दोष:	७४
क	
कक्षाश्रोणिस्तनाद्येषु	२५२
कन्दो मूलं फलं पत्रं	२५९
कर्ताहं निर्वृत्ति: कृत्य	२९३
कर्म गृह्णाति संसारी	१२८
कर्म चेत्कुरुते भावो	७६
कर्मणा निर्मितं सर्वं	११७
कर्मणामुदयसंभवा	८७
कर्मतो जायते भावो	७७
कर्म निर्जीयते पूर्तं	१७६
कर्मनोकर्मनिर्मुक्त-	५१
कर्मभावं प्रपद्यन्ते	७२
कर्म वेदयमानस्य	६९
कर्मव्यपगमे राग-	२०७
कर्मैव भिद्यते नास्य	२०७
कल्मषक्षयतो मुक्ति-	२३८

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कल्मषागमनद्वार	१३६
कल्मषाभावतो जीवो	२९७
कल्मषोदयतो भावो	७०
कषायपरिणमोऽस्ति	१०२
कषायविकथानिद्रा	२५५
कषायस्रोतसागत्य	९७
कषायाकुलितो जीवः	१३७
कषायादिमयो जीवो	३०६
कषाया नोपयोगेभ्यः	१०१
कषायेभ्यो यतः कर्म	१३७
कषायोदयतो जीवो	१८२
कान्तारे पतितो दुर्गे	२६५
काये प्रतीयमानेऽपि	८३
कारणं निर्वृतेरेतच्चारित्रं	२७२
कार्य-कारण-भावोऽयं	९५
कालुष्याभावतोऽकर्म	२९६
कालुष्यं कर्मणो ज्ञेयं	३०५
किंचित्संभवति द्रव्यं	६०
कुतर्केऽभिनिवेशोऽतो	२२५
कुर्वाणः कर्म चात्मायं	१५७
कुर्वाणः परमात्मानं	१०५
कुलजातिवयोदेह	२५३
कृतानां कर्मणां पूर्व	१६२
कोपादिभिः कृतं कर्म	७८
कोऽपि कस्यापि कर्तास्ति	११८
क्षायिकं शामिकं ज्ञेयं	२५
क्षायोपशमिकाः सन्ति	५४
क्षायोपशमिकं ज्ञानं	३१
क्षाराम्भःसदृशी त्याज्या	२२४
क्षाराम्भस्त्यागतः क्षेत्रे	२२४
क्षीरक्षिप्तं यथा क्षीर	२८
ग-घ	
गन्धर्वनगराकारं	२८४
गलितनिखिलरागद्वेष-	५५
गवां यथा विभेदेऽपि	३१७
गुणजीवादयः सन्ति	५३
गुणायेदं सयत्नस्य	२३४
घातिकर्म क्षयोत्पन्नं	३४
च	
चक्षुर्गृह्णाद्यथारूपं	२९
चटूटुकेन यथा भोज्यं	१९३
चतुर्धा दर्शनं तत्र	२०
चारित्र-दर्शन-ज्ञान-	२६७
चारित्रादित्रयं दोषं	१२०
चारित्रं चरतः साधोः	२७४
चारित्रं दर्शनं ज्ञानं-	११९
चारित्रं दर्शनं ज्ञानं	३९
चारित्रं विदधानोऽपि	१७७
चित्तभ्रमकरस्तीव्र-	२८४
चिन्त्यं चिन्तामणिर्दत्ते	२१६
चेतनेऽचेतने द्रव्ये	९३
चेतनः कुरुते भुङ्क्ते	१४९
चैतन्यमात्मनो रूपं	२०३
ज	
जन्ममृत्युजरारोगा	२१७
जायन्ते मोहलोभाद्या	११०
जीमूतापगमे चन्द्रे	२८०
जीवः करोति कर्माणि	७२
जीवतत्त्वनिलीनस्य	१८
जीवस्य निष्कषायस्य	९८
जीवस्याच्छादकं कर्म	९७
जीवस्यौदयिको भावो	३१५
जीवाजीवद्वयं त्यक्त्वा	१८
जीवानां पुद्गलानां च	६४
जीवितं मरणं सौख्यं	६६
जीवेन सह पञ्चापि	५८
ज्ञाते निर्वाणतत्त्वेऽस्मिन्	२७१
ज्ञात्वा योऽचेतनं कार्यं	१६३
ज्ञानदृष्टिचरित्राणि	१४४
ज्ञानदृष्ट्यावृत्ती वेद्यं	७०
ज्ञान-प्रमाणमात्मानं	२६
ज्ञानबीजं परं प्राप्य	२२१
ज्ञानमात्मानमर्थं च	३०
ज्ञानवत्यपि चारित्रं	२३४
ज्ञानवन्तः सदा बाह्य-	२९०
ज्ञानवांश्चेतनः शुद्धो-	१५८
ज्ञानस्य ज्ञानमज्ञान-	१८९
ज्ञानिना सकलं द्रव्यं	१२५
ज्ञानी ज्ञेये भवत्यज्ञो	२०४
ज्ञानीति ज्ञानपर्यायी	१२७
ज्ञानी निर्मलतां प्राप्तो	१९६
ज्ञानी विषयसंगेऽपि	१२२
ज्ञानेन वासितो ज्ञाने	१९५
ज्ञाने विशोधिते ज्ञान-	१९४
ज्ञानं वैषयिकं पुंसः	३१६
ज्ञानं स्वात्मनि सर्वेण	१९०
ज्ञेयलक्ष्येण विज्ञाय	१९२
त	
ततः पुण्यभवा भोगाः	२८३
ततः शुभाशुभौ हित्वा	३०९
ततो भवन्ति रागाद्याः	१२९
तत्त्वतो यदि जायन्ते	१४६
तथात्मनि स्थिता-ज्ञप्ति-	२७९
तथापि तस्य तत्रोक्तो	२४२
तल्लक्षणाविसंवादा	२७०
तस्मात्सेव्यः परिज्ञाय	४५
तस्माद्धर्मार्थिभिः शश्वच्	२६३
तान्येव ज्ञानपूर्वाणि	२६८
तुङ्गारोहणतः पातो	२४०
तेनात्मभावनाभ्यासे	३०३
तेषु प्रवर्तमानस्य	९१
त्यक्तान्तरेतर-ग्रन्थो	१७३
द	
दण्डचक्र-कुलालादि-	३०४
दवीयांसमपि ज्ञान-	३०
दीयमानं सुखं दुःखं	१२७
दुःखतो बिभ्यता त्याज्याः	१२९
दुरितानीव न ज्ञानं	२०९
दूरीकृतकषायस्य	१७२
दृश्यते ज्ञायते किंचिद्	८४
दृष्टिज्ञानस्वभावस्तु	२७७
दृष्ट्वा बाह्यमनात्मनीन-	३२२
दृष्ट्वा सर्वं गगननगर-	३२२
देशच्छेदे चरित्रं	३२१

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

देहचेतनयोर्भेदो ३०८
देहचेतनयोरैक्यं ८०
देहसंहतिसंस्थान- ७९
देहात्मनो: सदा भेदो ३००
द्रव्यतो भोजक: कश्चिद्- १६५
द्रव्यतो यो निवृत्तोऽस्ति १६६
द्रव्यमात्रनिवृत्तस्य १६६
द्रव्यमात्मदिध्यान्त- ६१
द्रयते गुणपर्यायै- ५८

ध

धर्मतोऽपि भवो भोगो २८८
धर्माधर्म नभ:-काल- ५६
धर्माधर्मैकजीवानां ६०
धर्माधर्मौ स्थितौ व्याप्य ६३
धर्माय क्रियमाणा सा २३७
धर्मेण वासितो जीवो १९५
धुनाति क्षणतो योगी २८१
ध्यानस्येदं फलं मुख्य- २१४
ध्यानं विनिर्मलज्ञानं २८३
ध्रौव्योत्पादलयालीढा ५९

न

न कर्म हन्ति जीवस्य ३०१
न कुत्राप्याग्रहस्तत्त्वे २९३
न ज्ञानज्ञानिनोर्भेदो १८९
न ज्ञानादिगुणाभावे २१०
न ज्ञानी लिप्यते पापै- २९१
न ज्ञानं प्राकृतो धर्मो २०९
न दोषमलिने तत्र २००
न दोषेण विना नार्यो २५१
न द्रव्य-गुण-पर्याया: १५०
न निन्दास्तुतिवचनानि १५०
न निर्वृत: सुखीभूत: २०८
न निर्वृतिं गतस्यास्ति ८४
न भक्तिर्यस्य तत्रास्ति २६४
नमस्कृत्य गुरुं भक्त्या २२८
न मोहप्रभृतिच्छेद: २००
न यत्र विद्यतेच्छेद: २४८
नश्यत्युत्पद्यते भाव: ५९
न संसारो न मोक्षोऽस्ति १०२
नागच्छच्छक्यते कर्म ४९
नाचेतने स्तुते देहे ८३
नाज्ञाने ज्ञानपर्याया: १२६
नाञ्जसा वचसा कोऽपि १५१
नाध्यात्मचिन्तादन्य: २१८
नानन्दो वा विषादो वा १५२
नान्यथा शक्यते कर्तुं ३००
नान्यद्रव्यपरीणाम- ९९
नान्योन्यगुणकर्तृत्वं १०३
नाभावो मुक्त्यवस्थायां २७९
नामुना जन्मना स्त्रीणां २५०
नास्ति येषामयं तत्र २३८
नाहं भवामि कस्यापि २२८
निग्रहानुग्रहौ कर्तुं १४०
निजरूपं पुनर्याति १५६
नित्यानित्यात्मके जीवे १४८
निन्दकत्वं प्रतीक्ष्येषु १३३
निरर्थकस्वभावत्वे २७८
निरस्तमन्मथातङ्कं २८२
निरस्तापरसंयोग: २१३
निराकृतपरापेक्षं २२७
निर्वाणसंज्ञितं तत्त्वं २७०
निर्वाणे परमा भक्ति: २८९
निर्वृतेरनुकूलोऽध्वा २७३
निर्व्यापारीकृतापक्षस्य ३५
निषिध्य स्वार्थतोऽक्षाणि ४५
निऽकषायो निरारम्भ: १३८
निष्प्रमादतया पाल्या २३०
निसर्ग: प्रकृतिस्तत्र ११३
नीरागोऽप्रासुकं द्रव्यं १२१
नीरागो विषयं योगी १२४

प

पक्वेऽपक्वे सदा मांसे २५७
पञ्चाक्षविषया: किंचित् १४९
पतितो भवकान्तारे २६५
पदार्थानां निमग्नानां ६६
परद्रव्यबहिर्भूतं १९
परद्रव्यैर्गतैर्दोषै- १२४
परद्रव्यो भवत्यात्मा ५०
परद्रव्यं यथा सद्भि: १९३
परलोकविधौ शास्त्रं २६२
परस्याचेतनं गात्रं १४१
परिणामा: कषायाद्या: २९५
परेण विहितं कर्म ९६
परेभ्य: सुखदु:खानि ९९
परं शुभोपयोगाय ८२
पवित्र दर्शन ज्ञान- १६१
पश्याम्यचेतनं गात्रं १४२
पश्यन्तो जन्मकान्तारे १३४
पादमुत्क्षिपत: साधो- २४२
पापारम्भं परित्यज्य १०९
पिण्ड: पाणिगतोऽन्यस्मै २५९
पुत्रदारादिके द्रव्ये १०१
पुद्गलानां यदादानं ११२
पूर्वोपार्जितकर्मैक- १७०
प्रकृतिश्च स्थितिर्ज्ञेय: ११२
प्रकृतेश्चेतनत्वे स्याद् २७८
प्रकृष्टं कुर्वत: साधो- २३१
प्रक्षय: पाकजातायां १७०
प्रतिबन्धो न देशादि- २०४
प्रतिबिम्बं यथादर्शे १९४
प्रतीयते परोक्षेण १९०
प्रदर्शितमनुष्ठान- १७८
प्रदेशा नभसोऽनन्ता: ६१
प्रमत्तादिगुणस्थान- ८१
प्रमादमयमूर्तीनां २५०
प्रमादी त्यजति ग्रन्थं २४२
प्रव्रज्यादायक: सूरि: २३०
प्रशस्तो भण्यते तत्र १३०
प्रहीणस्वात्मबोधस्य १३८

ब

बडिशामिषवच्छेदो २२२
बहुजीवप्रघातोत्थ २५८
बहुधा भिद्यते सोऽपि २६६
बालो वृद्धस्तपोग्लानस् २६०

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

बाह्यमाभ्यन्तरं द्वेधा १७५
बुद्धिपूर्वाणि कर्माणि २६७
बुद्धिमक्षाश्रयां तत्र २६७
बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहस् २६७
बोधरोध: शमापाय: २२५

भ

भवाभिनन्दिन: केचित् २३५
भवं वदन्ति संयोगं २१२
भावेषु कर्मजातेषु २६९
भाव: शुभोऽशुभ: शुद्ध: ३०९
भूत्वा निराकृतच्छेद- २३१
भोगसंसारनिर्वेदो २८९
भोगांस्तत्त्वधिया पश्यन् २८७
भोगं कश्चिदभुंजानो ३११

म

मति: श्रुतावधो ज्ञाने २१
मत्तश्च तत्त्वतो भिन्नं १४१
मत्यज्ञानश्रुताज्ञान- २१
मनुष्य: कुरुते पुण्यं १४८
मनो-वचो-वपु:कर्म ३०४
मयान्यस्य ममान्येन १४३
मदीयं कार्मणं द्रव्यं ९२
मरणं जीवनं दु:खं ११६
महाव्रत-समित्यक्ष- २२९
मांसं पक्वमपक्वं वा २५८
मायाम्भो मन्यतेऽसत्यं २८६
मायातोयोपमा भोगा २८६
मायामयौषधं शास्त्रं २६४
मिथ्याज्ञाननिविष्टयोगजनिता: ११०
मिथ्याज्ञानपरित्यज्य १६५
मिथ्याज्ञानं मतं तत्र २३
मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्व- २५
मिथ्यादृक्त्वमचारित्रं ८९
मिथ्यादृक् सासनो मिश्रो ७९
मुक्तिमार्गपरं चेत: २३७
मुक्त्वा वाद-प्रवादाद्य- २१७
मुक्त्वा विविक्तमात्मानं १८१
मूढा लोभपरा: क्रूरा: २३६
मूर्तामूर्तं द्विधा द्रव्यं ६८
मूर्तो भवति भुञ्जान: १३१
मूर्तो भवत्यमूर्तोऽपि १३१
मोक्षाभिलाषिणां येषा- २४९
मोहेन मलिनो जीव: १५५

य

य एव कुरुते कर्म १४८
य: करोति परद्रव्ये ४०
य: कर्म मन्यतेऽकर्मा ३०७
य: पुण्यपापयोर्मूढो १०९
य: षडावश्यकं योगी १६४
य: स्वशक्तिमनाच्छाद्य २५६
यत: समेऽप्यनुष्ठाने २६६
यत: संपद्यते पुण्यं १०६
यत्पञ्चाभ्यन्तरै: पापै: १८८
यत्र प्रतीयमानेऽपि ८३
यत्र लोकद्वयापेक्षा २४९
यत्रासत्यखिलं ध्वान्त- २९८
यत्सर्वद्रव्यसंदर्भे १६०
यत्सर्वार्थवरिष्ठं यत् ३५
यत्सुखं सुरराजानं १०७
यथा कुम्भमयो जातु ३०६
यथा चन्द्रे स्थिता कान्ति- २७९
यथा वस्तु तथा ज्ञानं २५
यथावस्तु परिज्ञानं १२५
यथेहामयमुक्तस्य २८५
यथोदकेन वस्त्रस्य २६५
यदात्मीयमनात्मीयं १००
यदा प्रतिपरीणामं ३०१
यदास्ति कल्मषाभावो २९७
यदि चेतयितु: सन्ति ५३
यद्यात्मनोऽधिकं ज्ञानं २७
यद्युपादानभावेन ७३
यन्मुक्तिं गच्छता त्याज्यं १६७
यश्चरत्यात्मनात्मान- ४४
यस्य रागोऽणुमात्रेण ४६
यस्येहलौकिकी नास्ति २५५
या 'जीवयामि जीव्येहं' ११७
युज्यते रजसा नात्मा ३०४
येन येनैव भावेन ३०२
येन रत्नत्रयं साधो- २५४
येनार्थो ज्ञायते तेन १९१
ये मूढा लिप्सवो मोक्षं ५०
योगसारमिदमेकमानस: ३२३
योगी षट्स्वपि कायेषु २४३
योगेन ये समायान्ति ६९
यो जीवाजीवयोर्वेत्ति १८
योज्यमानो यथा मन्त्रो २१६
योऽन्यत्र दीक्षते देवं १८१
यो विहायात्मनो रूपं ४८
यो व्यावहारिको व्यंगो २५४
यो व्यावहारिक: पन्था: २७३
यौगपद्येन जायेते २२

र-ल

रत्नत्रयमयं ध्यानं १७३
रत्नत्रयमयं शुद्धं १६७
रत्नत्रये स्वयं जीव: १५४
रागतो द्वेषतो भावं १०६
रागद्वेषद्वयालीढ: ११३
रागद्वेषनिवृत्तस्य ३१४
रागद्वेषप्रपञ्चभ्रममदमदन २७६
राग-द्वेष-मद-क्रोध- ५३
रागद्वेषापराधीनं ३७
रागमत्सरविद्वेष- १०५
रागादय: परीणामा: २९५
रागिण: सर्वदा दोषा: ३१५
रागी भोगमभुञ्जानो ३१२
रोधस्तत्र कषायाणां १३६
लोका संख्येयभागादा- ६३

व

वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श- ५१
वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श- १३९
वस्त्वन्यथा परिच्छेदो २३
वादानां प्रतिवादानां २१५
विकारा निर्विकारत्वं- २९२
विकारा: सन्ति ये केचिद् ८५

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विकारं नीयमानोऽपि	१३२	शरीरं न स गृह्णाति	२०९	सामान्यवद्विशेषाणां	२०५
विचित्रा देशना तत्र	२७२	शरीरमिन्द्रियं द्रव्यं	१४५	सामायिके स्तवे भक्त्या	१५९
विचित्रे चरणाचारे	१७७	शरीर-योगत: सन्ति	५१	सांसारिकं सुखं सर्वं	१०८
विज्ञातव्यं परद्रव्य-	१८७	शशांकामलसम्यक्त्वा:	२५२	सुखासुख-विधानेन	१३३
विज्ञाय दीपतो द्योत्यं	३१८	शान्तस्तप:क्षमोऽकुत्सो	२५२	सुगतिं दुर्गतिं प्राप्त:	१२८
विज्ञायेति तयोर्द्रव्यं	१४६	शुद्धज्ञाने मनो नित्यं	२८६	सूक्ष्मै: सूक्ष्मतरैर्लोक:	६८
विज्ञायेति निराकृत्य	१६७	शुद्धरत्नत्रयो योगी	२३२	सूक्ष्मै: शान्त: पर: क्षीणो	७९
विदधाति परो जीव:	१४७	शुभाशुभ-परद्रव्य	१५७	सूत्रोक्तमिति गृह्णानश्	२४६
विदधानो विचित्राणां	११४	शुभाशुभविकल्पेन	१७९	सोपयोगमनारम्भं	२२७
विदधान: परीणामं	११६	शुभाशुभविशुद्धेषु	१७४	संज्ञानादिरुपायो यो	२३९
विदन्ति दुर्धियो वेद्यं	१९२	शुभाशुभस्य भावस्य	९३	सन्तमर्थमसन्तं च	३१
विनिवृत्त्यार्थतश्चित्तं	३१०	शुभाशुभोपयोगेन	८९	सन्ति रागादयो यस्य	१३०
विपत्सखी यथा लक्ष्मी-	२८८	शुष्काशुष्का यथा वृक्षा	१७१	सन्त्यसंमोहहेतूनि	२६८
विभक्तचेतनध्यान-	२१५	शैथिल्यमार्तवं चेत-	२५१	संयमो हन्यते येन	२४८
विभावसोरिवोष्णत्वं	२०२	श्रित्वा जीवपरीणामं	९४	संयमो हीयते येन	२६१
विभिन्ने सति दुर्भेद	२०१	श्वाभ्रतिर्यङ्नरस्वर्गि-	१०७	संवरेण विना साधो-	१७३
विभेदं लक्षणैर्बुद्ध्वा	२१०	**स**		संसार: पुत्रदारादि:	२२१
विमुक्तो निर्वृत: सिद्धा:	२७०	सचित्ताचित्तमिश्राणां	११४	संसारवर्तिनोऽन्योन्य-	६५
विमुच्य विविधारम्भं	२२७	स चित्ताचित्तयोर्यावद्	९१	संसारी कर्मणा युक्तो	२१२
विमूढो नूनमक्षार्थ-	३१३	स तिष्ठति भयोद्विग्नो	२८७	स्कन्धच्छेदे पल्लवा: सन्ति भूयो	३२०
विविक्तमव्ययं सिद्धं	१७	समस्तारम्भहीनोऽपि	११५	स्कन्धो देश: प्रदेशोऽणु	६७
विविक्तमान्तरज्योति-	२९२	सम्यक्त्वज्ञानचारित्र-	४३	स्थापनं चालनं रक्षां	२४७
विविक्तमिति चेतनं	२२६	सरागो बध्यते पापै:	१२२	स्थावरा: कार्मणा: सन्ति	२९४
विविक्तात्मपरिज्ञानं	२८१	सरागं जीवमाश्रित्य	७५	स्पृश्यते शोध्यते नात्मा	१८६
विविधा: पुद्गला: स्कन्धा:	७१	सर्वजन्मविकाराणां	२८५	स्वकीयगुणकर्तृत्वं	१०४
विविधं बहुधा बन्धं	२१०	सर्वज्ञेन यतो दृष्टो	२७१	स्वतत्त्वरक्तये नित्यं	१८७
विशुद्धदर्शनज्ञान-	१३८	सर्वज्ञ: सर्वदर्शी च	२०६	स्वतीर्थममलं हित्वा	१८३
विषयसुखतो व्यावृत्य	१३५	सर्वत्र प्राप्यते पापै:	१८२	स्वदेहोऽपि न मे यस्य	१४३
विषयानुभवं बाह्यं	३१६	सर्वत्र य: सदोदास्ते	३१४	स्वयमात्मा परं द्रव्यं	१५५
विषयैर्विषयस्थोऽपि	३०८	सर्वथा ज्ञायते तस्य	२७७	स्वरूपमात्मनो भाव्यं	१८६
विषयं पञ्चधा ज्ञानी	३१२	सर्वव्यापारहीनोऽपि	११५	स्वरूपमात्मन: सूक्ष्मं	३१९
विषाद: प्रमदो मूर्च्छा	२५०	सर्वे भावा: स्वभावेन	२९९	स्वसंविदितमत्यक्ष-	४६
वेद्यायुर्नामगोत्राणि	२०७	सर्वेषु यदि न ज्ञानं	३३	स्वात्मानमिच्छुर्भिज्ञातुं	१८३
श		सर्वं परवशं दु:खं	२८२	स्वार्थव्यावर्तिताक्षोऽपि विषयेषु	३१०
शक्यो नेतुं सुखं दु:खं	१३९	सर्वं पौद्गलिकं वेत्ति	१५८	स्वार्थव्यावर्तिताक्षोऽपि निरुद्ध-	३११
शक्यन्ते न गुणा: कर्तुं	१४३	सहकारितया द्रव्य-	११९	**ह**	
शत्रव: पितरौ दारा:	१४१	साक्षादतीन्द्रियानर्थान्	२०२	हित्वा लोकोत्तराचारं	१७६
शरीरमात्मनो भिन्नं	१६७	साधुर्यतोऽङ्घ्रिघातेऽपि	२४४	हिंसत्वं वितथं स्तेयं	३९
		साधूनामागमश्चक्षु-	१७८	हिंसने वितथे स्तेये	१०५

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com